

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक संपादक
प्रो. गिरीश्वर मिश्र

अतिथि संपादक
मदन सोनी

संपादक
अशोक मिश्र

सहायक संपादक
अमित विश्वास



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 44 (जनवरी-मार्च- 2015) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

यह अंक : 75 रुपए, वार्षिक शुल्क 300/- रुपए, द्विवार्षिक शुल्क 600/- रुपए (डाक खर्च सहित)

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : मनीष पुष्कले

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

email : ruchikaprinters2005@gmail.com

अनुक्रम

आरंभिक	5
चित्रमयी गुहा जैसी कविता/ध्रुव शुक्ल	7
मुक्तिबोध में ज्ञान की तलाश/उदयन वाजपेयी	12
मुक्तिबोध की काव्यभाषा में अतिशयता और अतिरिक्तता की उलझन/अपूर्वानन्द	19
मुक्तिबोध आस्था देते हैं मुक्ति नहीं/प्रियदर्शन	27
अ-लगाव से मुक्ति की कविता : अँधेरे में/सुधीर रंजन सिंह	33
अँधेरे में : एक अनुशासनहीन फैटेसी/आशुतोष भारद्वाज	39
हिंदी कविता के बारे में/गीत चतुर्वेदी	45
समकालीन कविता का (निजी) पाठ/प्रभात त्रिपाठी	60
कवि की आकांक्षा और कविता की आकांक्षा में फांक/कुमार अंबुज	78
‘आत्मा में चमकीली प्यास भर गई है’ : अँधेरे में हँसते हुए हिंदी के कुछ कवि/तेजी ग्रोवर	81
कविता की भाषा और भाषा का समाज/प्रयाग शुक्ल	96
उर्वशी : नई सदी के आलोक में कुछ सवाल/सुनीता गुप्ता	106
कविताएं	113
नंदकिशोर आचार्य	
राजेश जोशी	
तेजी ग्रोवर	
अनामिका	
उदयन वाजपेयी	
कुमार अंबुज	
गीत चतुर्वेदी	
राकेश श्रीमाल	
मैं क्यों लिखता हूँ?/रमेशचंद्र शाह	145
महाभारत एक पुनर्यात्रा/राधावल्लभ त्रिपाठी	151
पृथ्वी के पवित्र और अजनबी मुक्तिकारी	169
(रामायण पर बनाए गए चंबा के चित्रों का एक अध्ययन)/आलोक भल्ला	
कलाओं का अंतस्संबंध/नंद किशोर आचार्य	177
आत्मकथा, परकथा और भारतीय परंपरा/मुकुंद लाठ	182
ऋषिका महादेवी/गगन गिल	189
हिंसा के मूल : जीव, जीवन और अन्य चीजें/रुस्तम सिंह	196

बहुवचन अप्रैल-जून 2015 अंक में हिंदी के उद्भट विद्वान एवं आलोचक-संपादक
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पर विशेष सामग्री प्रकाशित की जाएगी जिसके संभावित
लेखक हैं- गोपेश्वर सिंह, सूरज पालीवाल, अशोक नाथ त्रिपाठी, रामानुज अस्थाना,
हरिसुमन बिष्ट, साधना अग्रवाल एवं अन्य ।

संपादक बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)
मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuвачan.wardha@gmail.com

बहुवचन के पाठकों के लिए विशेष सूचना :

बहुवचन के पाठकों को सूचित किया जा रहा है कि कागज एवं मुद्रण शुल्क, डाक खर्च में भारी
बढ़ोत्तरी के फलस्वरूप बहुवचन पुराने मूल्यों पर उपलब्ध कराना संभव नहीं हो पा रहा है । इस
कारण जनवरी 2015 से पत्रिका के वार्षिक शुल्क एवं प्रति अंक मूल्य में बढ़ोत्तरी की जा रही
है जो कि इस प्रकार है-

प्रति अंक 75 रुपए, वार्षिक शुल्क 300/- रुपए, द्विवार्षिक शुल्क 600/- रुपए (डाक खर्च सहित)
विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आरम्भिक

कुछ महीने पहले महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के कृपापूर्ण आमंत्रण पर आवासीय लेखक के रूप में यहां आने पर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. गिरीश्वर मिश्र ने जब मुझसे आग्रह किया कि मैं इस दौरान *बहुवचन* के संपादन में सहयोग भी करूं, तो मैं किंचित् संकोच में था। पत्रिकाओं (विशेष रूप से *पूर्वग्रह*) के सम्पादन की अपनी पच्चीस-तीस बरस लंबी यात्रा के बाद पिछले कुछ वर्षों में उस दुनिया से मैं इतना दूर आ चुका हूं कि उलझावों और व्यस्तताओं भरी उस दुनिया में थोड़े से दिनों के लिए एक बार फिर वापस लौटने को लेकर मुझमें कोई उत्साह नहीं था। किंतु श्री मिश्र का स्नेहपूर्ण आग्रह टालना भी मेरे लिए उतना ही मुश्किल था, और मैंने बीच का-सा रास्ता निकाला : अपने इस प्रवास के दौरान मैं, नियमित तो नहीं पर यथासंभव दो-एक अंकों के संपादन में सहयोग की कोशिश करूं। यह अंक इसी कोशिश का एक नतीजा है।

2014 आधुनिक हिन्दी के एक मूर्धन्य कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की असामयिक मृत्यु, और उनकी प्रसिद्ध और महत्वाकांक्षी कविता 'अंधेरे में' तथा उनके पहले कविता-संग्रह *चांद का मुंह टेढ़ा है* के प्रकाशन की अर्धशती का वर्ष रहा है। इन पिछले पचास सालों में हिंदी कविता, हालांकि निश्चय ही अनेक वैविध्यों और रूपांतरणों से गुजरी है, और इस दौरान अनेक शीर्षस्थ कवियों के अद्वितीय हस्ताक्षरों ने उसको हर बार नया उत्कर्ष और वैशिष्ट्य प्रदान किया है, तब भी यह कहना शायद गलत न होगा कि इस कविता का बहुलांश मुक्तिबोध की कविता को अपने सबसे निकट और प्रभावी पूर्वज के रूप में देखता रहा है।

इरादा यह था कि मुक्तिबोध के संदर्भ में उपर्युक्त संयोगों के इस अवसर पर हिंदी कविता में मुक्तिबोध की विरासत के इस स्पन्दन को याद करते हुए उसको समकालीन कविता पर विमर्श का एक निमित्त बनाया जाय, और इस कविता की उपस्थिति को करीब से देखा जाय : उसकी दिलचस्पियों और सरोकारों को, उद्विग्नताओं और उम्मीदों को, उसकी नैतिकी और कल्पना-दृष्टि को, उसकी परकल्पना और आत्मकल्पना को। वह समकालीन मानवीय स्थिति के प्रति, मनुष्य की सांभ्यतिक-सांस्कृतिक नियति के प्रति, राजनैतिक, अस्तित्वपरक, आध्यात्मिक, विचारधारात्मक आदि किन स्तरों पर प्रतिश्रुत है? इस प्रतिश्रुति का क्या रूप है? ऐन्द्रिक, बौद्धिक या कोई अन्य? और इन तमाम चीजों के साथ उसके वाचिक और आहार्य (भाषा, वेशभूषा, रूपसज्जा आदि) में, उसकी लय-गति में किस तरह के बदलाव आये हैं?

उक्त प्रस्ताव हमने, बजाय आलोचकों के, मुख्यतः कवियों को भेजते हुए उनसे लिखने का आग्रह किया था- इस उम्मीद से कि इनके माध्यम से अपेक्षित परिदृश्य कहीं ज्यादा अंतरंग

साक्ष्यपूर्वक उभर सकेगा। इस क्रम में हमने लगभग चालीस खत और एकाधिक स्मरण-पत्र भेजे थे। जवाब में जो सामग्री हमें उपलब्ध हो सकी, वह प्रस्तुत है। जाहिर है, उसकी मात्रा हमारी अपेक्षा के मुकाबले अल्प है। लेकिन हमें इस बात का सन्तोष है कि सामग्री में पर्याप्त विविधता है। उसमें सर्वश्री ध्रुव शुक्ल, उदयन वाजपेयी, अपूर्वानंद, प्रियदर्शन, सुधीर रंजन सिंह, और आशुतोष भारद्वाज के लेख तो शामिल हैं ही, जो मुख्यतः मुक्तिबोध की कविता- जिसमें 'अँधेरे में' शामिल है- तथा उनके अन्य लेखन पर केन्द्रित हैं (और इनमें कम से दो निबन्ध ऐसे भी हैं जो तर्कसंगत तरीके से मुक्तिबोध की कविता पर सवालिया निशान अंकित करते हैं), इसके अतिरिक्त उसमें श्री प्रयाग शुक्ल, श्री प्रभात त्रिपाठी, सुश्री तेजी ग्रोवर, श्री कुमार अम्बुज और श्री गीत चतुर्वेदी के निबन्ध भी शामिल हैं जिनमें समकालीन कविता पर अनेक कोणों से विचार सम्भव हो सका है।

अंक की सामग्री का दूसरा हिस्सा भी पर्याप्त विविध और महत्त्वपूर्ण है जिसमें *महाभारत* का पुनर्पाठ करता श्री राधावल्लभ त्रिपाठी का निबंधन, *रामायण* पर आधारित पारंपरिक चित्रों पर केन्द्रित श्री आलोक भल्ला का निबंध, दिनकर की *उर्वशी* की पुनर्समीक्षा करता सुश्री सुनीता गुप्ता का निबंध, महादेवी पर सुश्री गगन गिल का निबंध, कलाओं के अंतर्संबंध पर श्री नंदकिशोर आचार्य का निबंध, हिंसा के संवेग पर श्री रुस्तम सिंह का निबंध, और भारत में आत्मकथा के अभाव के प्रश्न पर मुकुन्द लाठ का निबंध शामिल हैं। श्री लाठ का यह निबंध हालांकि कई साल पहले हिंदी में दर्शन की एकमात्र गंभीर पत्रिका *उन्मीलन* में प्रकाशित हो चुका है, लेकिन इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर यह गंभीर विमर्श साहित्य के पाठकों तक पहुँच सके, इस इच्छा से हम यहाँ इसका पुनर्प्रकाशन कर रहे हैं, जिसके लिए हम श्री लाठ और *उन्मीलन* के प्रति आभारी हैं। श्री रमेशचंद्र शाह को हाल ही में साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्रदान किए जाने की घोषणा हुई है। इस अवसर पर उनको बधाई देते हुए हम उनका एक वक्तव्य- 'मैं क्यों लिखता हूँ' भी यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

श्री नंदकिशोर आचार्य, श्री राजेश जोशी, सुश्री तेजी ग्रोवर, सुश्री अनामिका, श्री उदयन वाजपेयी, श्री कुमार अम्बुज, श्री गीत चतुर्वेदी तथा श्री राकेश श्रीमाल की कविताएँ भी इस अंक के कलेवर का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं।

और उतना ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा अग्रणी युवा कलाकार मनीष पुष्कले का वह चित्र भी है, जो उन्हीं के द्वारा आकल्पित इस अंक के आवरण पर प्रकाशित है।

इस अंक के संयोजन-संपादन में *बहुवचन* के संपादक अशोक मिश्र और सहायक संपादक अमित विश्वास का जो भरपूर सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं इन दोनों बंधुओं का आभारी हूँ।

मदन सोनी

चित्रमयी गुहा जैसी कविता

ध्रुव शुक्ल

मुक्तिबोध की कविताएं पढ़ते हुए जैनेन्द्र कुमार की याद आती है। वे अपने एक निबंध में पाठक को सचेत करते हैं कि— विचार परिग्रह है। आदर्श बंधन है। आदर्श, दर्शन, विचार और धर्म इन सबकी जड़ में भय है। अनागत भय, अपना भय और जाने किस-किस का भय। भय जीतना होगा, उसका सामना करना होगा। बचकर किसी दर्शन या पंथ या पुस्तक के पीछे छिपने से नहीं चलेगा। मुक्तिबोध अपनी दीर्घ कविताओं की रचना करते हुए जैनेन्द्र कुमार की इस सीख को बरतते जान पड़ते हैं पर पूरी तरह बरत नहीं पाते। विचार, आदर्श-दर्शन और भय ही मुक्तिबोध की कविताओं पर छाए हुए हैं पर वे उनके पीछे छिपते नहीं, अपनी कविताओं में उन्हीं का सामना भी करते हैं। उनकी कविताएं सदा अपरीक्षित रहते आए जीवन की निरंतर परीक्षा करने वाली बेचैन और उग्र भावभूमि की कविताएं हैं। यह परीक्षा आदर्शवादी मन और सिद्धांतवादी मन के बीच है, जहां वे अपने से बार-बार ओझल हो जाती आत्मसंभवा अभिव्यक्ति की तलाश करते हैं—इसीलिए वे हर गली में और हर सड़क पर झांक-झांककर देखते हैं— हर एक चेहरा, प्रत्येक गतिविधि, चरित्र, आत्मा का इतिहास, देश, राजनैतिक परिस्थिति, मानवीय स्वानुभूत आदर्श, विवेक प्रक्रिया, क्रियागत परिणति।

मुक्तिबोध की कविताओं में गड़कर-गड़कर उन्हें अब तक अँधेरे के कवि के रूप में ही ज्यादातर देखने की कोशिशें होती रही हैं। आजकल उनके कुछ भक्त मुक्तिबोध के अँधेरे की अर्धशती मनाने को आतुर हैं। पर मुक्तिबोध तो उजाले के कवि भी हैं। हमें उनके काव्यात्मक उजाले की तरफ भी तो देखना चाहिए। कवियों के आलोचकगण न जाने किस साहित्य विवेक से दो टीलों पर बैठे हुए हैं—एक टीले पर वे महाशून्य के साथ आत्मा के पाणिग्रहण संस्कार में शामिल होकर कवि को ही अपना पुरोहित बनाए हुए हैं और मान बैठे हैं कि महाशून्य के शिविर का यह कवि उन्हें वैतरणी पार करवा देगा। दूसरे टीले पर ये आलोचकगण ऐसे पत्रकार की तरह नजर आते हैं जो—नमकीन धूल के गरम-गरम अनिवार बवंडर-सी घूमती कवि की अंतर-आपद्-ग्रस्ता आत्मा की—ऐसी खबर दे रहे हैं जैसे कि उन्होंने कवि के अंतरतम में संध लगाकर कवि की उस आत्मसंभवा अभिव्यक्ति को पहचान लिया हो जिसके बारे में स्वयं कवि हाथ उठा-उठाकर कह रहा है कि वह अभी मुझे मिली नहीं है।

मुक्तिबोध का मन परखते हुए उनकी एक कविता—‘जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे’—की विकल

रागिनी में डूब रहा हूँ। मानससागर के तट पर उन्हें एक लोककवि की तरह अपनी ओर आता हुआ देख रहा हूँ--

जीवन के प्रखर समर्थक से जब प्रश्न-चिह्न
बौखला उठे थे दुर्निवार
तब एक समुन्दर के भीतर
रवि की उद्भासित छवियों का
गहरा निखार
स्वर्णिम लहरों में झल्लाता
झलमला उठा
मानो भीतर के सौ-सौ अंगारी उत्तर
सब एक साथ बौखला उठे, तमतमा उठे
संघर्ष विचारों का लोहू
पीड़ित विवेक की शिरा-शिरा में उठा-गिरा
मस्तिष्क तंतुओं में प्रदीप्त
वेदना यथार्थों की जागी
मेरे सुख ने अकस्मात् भावुकतावश
सुख-दुख के चरणों की
मन-ही-मन यों की पालागी--

इस कविता का भावार्थ इसके शब्दों के बाहर आकर कहना मुश्किल है। इसके शब्दों के सहारे ही कुछ कहा जा सकता है और उसे यों कह सकते हैं कि कवि कंठ में उस ज्ञान संवेदन के आंसू का कांटा फंसा हुआ है जो जन-जन के घर-आंगन तक दौड़ जाने की हूक से भरता है। तभी तो मुक्तिबोध घुप्प अँधेरे में ये उजाले से भरा सवाल पूछ पाते हैं--बताओ तुम किस-किस के लिए दौड़ गए? और कोई दौड़े न दौड़े, वे दौड़ पड़ते हैं--जहां अपना आंचर फहराती बोली, घर-आंगन में बहुओं के कंगन जैसी आज भी खनक रही है। जहां संघर्षों की राहों पर माओं-बहनों का सुहाग-सिंदूर ज्वालाओं-सा बरस रहा है। जहां पालने-पोसने वाली निर्झरणी नदियां घर-घर में भूखे प्राणों को हँसा रही हैं। कवि मुक्तिबोध के छंद दिल में आँसू के फव्वारे लिए बहना की हिय की तुलसी पर घनछाया कर मंजरी हो जाने का स्वप्न देखते हैं। भाई के दिल का फूल हो जाना चाहते हैं।

कालिदास के मेघदूत काव्य की घनछाया हिंदी के अनेक कवियों पर पड़ी है। भवानीप्रसाद मिश्र कहते ही हैं--आज के पहले अनेकों बार, कर चुका हूँ मेघ तुमको प्यार। श्रीकांत वर्मा शताब्दियों के अंतराल में घूमते, बार-बार सूखी धरती का रूखा मस्तक चूमते अंकुआए धान और किसी कजरी में अपने आपको पाना चाहते हैं। मुक्तिबोध की कविता में घर-घर के सजल अँधेरे से ही मेघ उपदेश लेते हैं, जीवन की नसीहतें पाते हैं और जन संघर्षों की राहों पर गंभीर घटाएँ युगजीवन को सरसाती हैं, जहां नव-वधु का आंसू से भरा चुंबन बरसता है।

मुक्तिबोध अपने अंतर में गहरी ममता के अगरु-धूम बादल की चाहत से भरे हुए हैं जिसके स्वभाव का गंगाजल युगों-युगों को तारता आया है। कल्याण व्यथाओं में घुलकर जो बाहें अब तक

दुनिया को पार लगाती आई हैं, वे उन बांहों को अपने उर पर वरमाला-सी धारण कर उनकी हिम्मत, उनका धीरज और उनकी ताकत पाना चाहते हैं--

ताना-बाना मानव दिगन्त की किरणों का
मैंने तुम में, जन-जन में जिस दिन पहचाना उस दिन उस क्षण
नीले नभ का सूरज नीचे उतरा मेरे आंगन
प्रतिपल अधिकाधिक उज्ज्वल हो
मधुशील चंद्र था प्रस्तुत यों
मेरे सम्मुख आया मानो मेरा ही मन.....
जब भव्य तुम्हारा संवेदन
सबके सम्मुख रख सका, तभी
अनुभवी ज्ञान संवेदन की दुर्दम पीड़ा
झलमला उठी.....

उनके अभ्यंतर के प्रकाश की कीर्तिकथा
जब मेरे भीतर मंडराई
मेरी अखबार-नवीसी ने भीतर सौ-सौ आंखें पाई
शब्दों-शब्दों में वाक्यों में
मानवी अभिप्रायों का जो सूरज निकला
उसकी विश्वाकुल एक किरन तुम भी तो हो
धरती के जी को अकुलाने वाली
छवि-मधुरा कविता की प्यारी-प्यारी-सी एक कहन तुम भी तो हो

मुक्तिबोध की यह लोक मधुरा कहन उनकी अनिवार बवंडर-सी घूमती आत्मा को जीवन के रज धूसर पद पर बिठा देती है, इस सोच से भरकर कि जाने कौन वेश में कहां और कितना सत्य मिले। लोक के सामने नत होकर उन्नत होने की बेचैनी ही मुक्तिबोध के लिए अपनी आत्म-संभवा अभिव्यक्ति का एकमात्र उपाय है। उनकी कविता उस सकाम कवि कर्म की तरह है जो कवि की मोह-ममता के बिना संभव नहीं हो सकता। उनकी भाषा उस मोहासक्त मां की तरह लगती है जो अपनी संतानों पर ममता लुटाती है और फिर उन्हीं पर खीजकर अपना सिर पीट लेती है, छाती कूट लेती है।

बोलते-बोलते सत्य के नसा जाने की कवियों की पीड़ा बहुत पुरानी है। अब के कवि इसी पीड़ा में स्वर मिलाते हुए आखिर यही तो कहेंगे कि लिख-लिखकर सब झूठा हो जाता है। जिनका मार्ग ही धुंध से ढंकी हुई गहरी वापिका की ओर है उनकी उत्कंठा की ओक उसी की तरफ खुली हुई रहती है। वे इस अहसास में डूबे रहते हैं और इस सत्य को जानते भी हैं कि उनकी अंजुरी भी लघु है। वे भी झारखंड के अग्रज हैं। उन्हें भी पल्वन और पतझरों ने, शिलाओं को दुलराते वन झरनों ने, पर्वती गांव के उत्सव ढोलक की थाप ने, झंझा की फुफकार ने, ओस बूंद की ढरकन ने, गर्जन, घुर्घुर, चीख, भूंक, चिचियाहट ने, जल पंछी की चाप ने और किसी सहसा चौंकी-सी सिहरन ने रचने के लिए

विकल किया है। उनकी यह विकलता सबकी अलग-अलग इयत्ता को भी पहचानती है इसीलिए वे कह सके कि भले ही सब साथ-साथ डूबें, अलग-अलग एकाकी पार तिरेंगे।

कविता की चित्रमयी गुहा में प्रवेश द्वार एक ही है पर कभी उसके पलड़े भीतर की ओर कभी बाहर की ओर खुलते रहते हैं और कभी भीतर-बाहर दोनों तरफ फड़फड़ाते रहते हैं। इन पलड़ों के व्यवहार को देखकर लगता है कि हर समय में तीन तरह के कवि होते होंगे पर यह कहना सत्य के ज्यादा निकट होगा कि दरवाजे के पलड़ों के ये तीन रूप प्रत्येक कवि की रचना प्रक्रिया तय करते होंगे। इसी कारण हर कवि तीन तरह की कविताएं लिखता है--पहली, अनकहे सत्य की साक्षी कविताएं दूसरी, कहे सत्य की साक्षी कविताएं और तीसरी, रहे-सहे सत्य की कविताएं। कवियों की रचनावली संपादित करने वाले संपादकों की अग्निपरीक्षा इन तीसरी तरह की कविताओं का सामना करते समय ही होती है। कविता के पाठकों सावधान, कविता की चित्रमयी गुहा में प्रवेश द्वार एक ही है।

कुछ कवि भाव से और कुछ भाषा से दुरूह होते हैं जो दोनों अतियों से मुक्त होकर अपनी काव्य वीणा के मध्य को साध लेते हैं वे बड़े कवि कहलाते हैं। संगीतकार से पूछो कि वीणा मध्य में कब होती है तो वह कहेगा कि यह तो बजाने वाला ही जानता है। यहां जयशंकर प्रसाद का यह आह्वान सुन लेना चाहिए---

तुम हो कौन और मैं क्या हूं
इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिरचुंबित
मेरे क्षितिज उदार बनो

जयशंकर प्रसाद की कविता पर विचार करते हुए रमेशचंद्र शाह याद दिलाते हैं कि--'कोई भी अनुभूति हमारी संवेदना के समूचे प्रसार में से तभी उत्तीर्ण हो सकती है जब हम नाविक अतीत को उसकी उतराई दे सकें, क्योंकि वही हमें पार उतारता है। वह पूरी जाति के अनुभवों का राशिभूत व्यक्तित्व है। एक गहरे अर्थ में वह हमारा इतिहास बोध है। हमारे व्यक्तिगत मानस की गहराई को वह जानता है जिसमें से कि सारी जीवनानुभूतियां उत्तीर्ण होना चाहती हैं।'

मुक्तिबोध भी कवियों को सचेत करते हुए कह गए हैं कि--'हम आगत में प्राप्त भावनाओं की दृष्टि से विगत की ओर देखने लगते हैं जिससे होता यह है कि हम विगत की प्रकृति, उसके आंतरिक स्वभाव के प्रति अन्याय करने की ओर प्रवृत्त भी हो सकते हैं। पर यह संभावना एक ऐसा खतरा है जिस पर ध्यान जाना और जिससे संभलकर रहना जरूरी है। जीवन नित्य विकासमान है।' अपने स्मृति लेख में अज्ञेय भी यही कह रहे हैं कि--'वास्तव में जो साहित्य-स्रष्टा हमें एक युग से दूसरे युग में ले जाते हैं वे मानो खाई के आर-पार खड़े होकर इस सहज भाव से हमें एक कगार से उठाकर दूसरे पर रख देते हैं कि हमें पता ही नहीं चलता कि कितना बड़ा संक्रमण यों संपन्न हो गया।'

अपनी जीवनानुभूतियों को उत्तीर्ण करने के लिए मुक्तिबोध भी नाविक अतीत का सहारा लेते हैं। उनकी जिस कविता को हमने अपनी कहानी का विषय बनाया है उसे मेघाश्रित अनुभूति की कविता कहना होगा। यह अनुभूति अतिप्राचीन है। महाकवि वाल्मीकि अपनी रामायण में काले मेघ

के सहारे चमकती बिजली को देखकर अनुभव करते हैं जैसे रावण के अंक में तपस्विनी सीता हो। कविवर निराला की 'राम की शक्तिपूजा' कविता में राम को सीता की याद अंधकारघन में चमकती बिजली को देखकर आती है। महाकवि कालिदास मेघ को दूत बनाकर और भारत के समृद्धिशाली जीवन पर फैलाकर उसकी झांकी दिखाते हैं। मुक्तिबोध के मन की पथरीली धरती पर भी गंभीर मेघदल उमड़ते हैं और जीवन की सौंधी सुगंध के बीच बेछोर सरल मैदानों पर तूफानी मेघों के अंतर में बिजली की दुर्दांत व्यथा-सी, नील विलोल लता-सी प्रकाश-बेल की तरह सहसा कविता उमगती है, कागज की भूरी छाती पर उतरकर स्याही-सी सूख जाती है।

कविता की नियति है कि वह धरती पर तब तक नहीं उतरती जब तक चरित ही स्वयं काव्य न बन जाए। हमारे समय की कविता चरित्रहीन है जिसे कागज की भूरी छाती पर ही ठिठक जाना पड़ता है। मुक्तिबोध की कविता भी ऐसी ही है। उनकी कविता पढ़ते हुए लगता रहता है कि वे हर गली, चौराहे पर अपने समय के चरित्र का पता पूछ रहे हैं जो उन्हें नहीं मिलता और उनकी कवितावली उनकी पीड़ा की रामायण नहीं बन पाती--'कर मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं। जिमि बिनु पंख बिहग अकुलाहीं।' कविता की चित्रमयी गुहा में कवि मुक्तिबोध की बेकली बिलकुल ऐसी ही है।

**नववर्ष पर लेखकों, पाठकों
एवं वितरकों को हार्दिक
शुभकामनाएं**

संपादक

मुक्तिबोध में ज्ञान की तलाश

उदयन वाजपेयी

मुक्तिबोध अत्यंत उद्विग्न लेखक रहे हैं। उनकी अनेकशः कविताओं, कहानियों, डायरियों और निबंधों में जगह-जगह पर गहरी उद्विग्नता झलकती है। वे निरंतर किसी खोज में संलग्न दिखाई देते हैं। उनका लिखा हुआ लगभग सबकुछ उनकी इसी अंतहीन खोज का सह-उत्पाद मालूम देता है। उनकी संभवतः सबसे प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' की अंतिम पंक्तियों में वे अपनी इस खोज का गंतव्य भी अपने पाठकों के सामने रखते हैं।

परम अभिव्यक्ति
अनवरत घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहां, जाने कहां
वह है
इसलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झांक-झांक देखता हूं हर एक चेहरा,
प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,
व हरेक आत्मा का इतिहास,
हरेक देश व राजनीतिक स्थिति और परिवेश
प्रत्येक मानवीय सहानुभूत आदर्श
विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति!!
खोजता हूं पठार... पहाड़... समुंदर
जहां मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार

आत्म-संभवा। ('अँधेरे में', मुक्तिबोध रचनावली-2, पृष्ठ 355, 356)

वे एक ऐसा ज्ञान खोज रहे हैं जिसकी अभिव्यक्ति अपने आप संभव हो जाए, जो आत्म संभवा हो। इसका आशय यह है कि यह एक ऐसे ज्ञान की, 'विवेक-प्रक्रिया' की तलाश है जो हर मनुष्य का स्वानुभूत आदर्श तो हो ही पर साथ ही जिसकी अभिव्यक्ति स्वयमेव हो, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए खोज भले ही हर गली, हर चेहरे, हर चरित्र, हर गतिविधि, पठार, पहाड़, समुंदर आदि की

करनी पड़े पर जो अपने आप व्यक्त हो सकती हो। यानी यह एक ऐसे ज्ञान की खोज है जिसकी खोज करने कोई अतिरिक्त मानवीय प्रयत्न की आवश्यकता भले हो पर जिसके मिल जाने पर वह स्वयमेव व्यक्त हो जाए। यह वह ज्ञान न हो जो मानवीय बुद्धि की निर्मिति जान पड़े। यह वह ज्ञान हो जो प्रकृति के अन्यान्य जीव-जंतुओं की तरह नैसर्गिक हो। वैसा कुछ जैसा कि वेदों के विषय में कहा जाता है जब उन्हें अनादि और अपौरुषेय बताया जाता है। संभवतः यह उसी ज्ञान की खोज है जिसे प्राप्त करने उनकी एक कविता 'ब्रह्मराक्षस' का काव्य नायक कहता है :

में ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत

संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक

पहुंचा सकूं। ('ब्रह्मराक्षस', मुक्तिबोध रचनावली-2, पृष्ठ 320)

लगभग इसी नाम से मुक्तिबोध ने एक कहानी भी लिखी है जिसका शीर्षक है 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य'। यह कहानी उनकी उपरोक्त कविता के पहले लिखी गई है और इसलिए यह 'ब्रह्मराक्षस' कविता की पूर्वपीठिका है। इसमें केंद्रीय चरित्र भले ही ब्रह्मराक्षस हो पर पाठक इस कहानी में ब्रह्मराक्षस के शिष्य के सहारे ही प्रवेश करता है, वही इस कहानी को आगे ले जाता है। वही कहानी के अंदरूनी परिवेश से, उसके रहस्यमय अवकाशों से पाठकों का परिचय कराता है। वही ब्रह्मराक्षस का शिष्य इस कहानी को उसकी लगभग तार्किक परिणति तक ले जाता है। ब्रह्मराक्षस पारिभाषिक चरित्र है। यह ऐसे पिशाच या प्रेत के लिए उपयोग में लाया जाता है जिसे मुक्ति प्राप्त नहीं हुई हो और न जो पुनर्जन्म के मार्ग से वापस संसार में न आ पाया हो। यह ऐसा चरित्र है जो इहलोक और परलोक के बीच अंतहीन झूलते रहने को अभिशप्त है। विक्रमादित्य और बेताल की प्रसिद्ध कथा का बेताल जैसा ही कुछ ब्रह्मराक्षस हुआ करता है। वह जब तक अपने पास संचित ज्ञान को अपने किसी शिष्य में अंतरित नहीं कर देता, उसे मुक्ति नहीं मिलती। ब्रह्मराक्षस के कुछ और प्रकार भी परंपरा में स्वीकृत हैं। इनमें से एक का जिक्र डॉक्टर राममनोहर लोहिया किया करते थे। उनका कहना था कि उनके किसी पुरखे ने किसी ब्राह्मण की संपत्ति को ब्राह्मण के देशाटन पर जाते समय अपने पास इस आश्वासन के साथ सुरक्षित रख लिया था कि वह ब्राह्मण देशाटन से लौटने के बाद उसे ले सकता है पर जब वह ब्राह्मण लौटकर आया, उन्होंने वह संपत्ति वापस करने से इनकार कर दिया। इस पर उस ब्राह्मण ने डॉक्टर लोहिया के उन पुरखे को यह श्राप दिया कि उनका वंश चार पीढ़ियों के बाद आगे नहीं चलेगा और उसके बाद उसने उन्हीं के दरवाजे पर बैठकर प्राण त्याग दिए। लोहिया के अनुसार यह ब्राह्मण ब्रह्मराक्षस होकर उनके परिवार पर काली छाया बनकर मंडराता रहा और इसीलिए यह वंश चौथी पीढ़ी, जिसके सदस्य केवल डॉक्टर लोहिया थे, से आगे नहीं चल सका। मुक्तिबोध की कथा के ब्रह्मराक्षस की मुक्ति न हो पाने का कारण वह असीम ज्ञान है जो वह जीते-जी किसी शिष्य तक पहुंचाने में सक्षम नहीं हो पाया। इसीलिए इस ब्रह्मराक्षस योनि में कैद होकर उसे ज्ञान के क्षेत्र काशी में बरसों तक ऐसे शिष्य की प्रतिक्षा करनी पड़ी जिसे वह अपना संचित ज्ञान सौंप कर मुक्ति प्राप्त कर सकता। मुक्तिबोध की यह कहानी ब्रह्मराक्षस की इसी मुक्ति की कहानी है। पर ब्रह्मराक्षस किसी को भी अपना वह ज्ञान नहीं दे सकता था जिसके बोझ तले वह प्रेत योनि

भोग रहा था। वह अंततः एक शिष्य के अपने निकट आने पर उससे कहता है :

तुम आए, मैंने तुम्हें बार-बार कहा, लौट जाओ। कदाचित्त तुममें ज्ञान के लिए आवश्यक श्रम और संयम न हों। किंतु मैंने तुम्हारी जीवनगाथा सुनी। विद्या से वैर रखने के कारण, पिता द्वारा अनेक ताड़नाओं के बावजूद, तुम गंवार रहे और बाद में माता-पिता द्वारा निकाल दिए जाने पर तुम्हारे व्यथित अहंकार ने तुम्हें ज्ञान-लोक का पथ खोज निकालने की ओर प्रवृत्त किया। मैं प्रवृत्तिवादी हूँ, साधु नहीं। सैकड़ों मील जंगल की बाधाएं पार कर तुम काशी आए। तुम्हारे चेहरे पर जिज्ञासा का आलोक था। ('ब्रह्मराक्षस का शिष्य', मुक्तिबोध रचनावली-3, पृष्ठ-119, 120)

शिष्य के चेहरे पर जिज्ञासा का आलोक पाकर ही ब्रह्मराक्षस उसे ज्ञान का अधिकारी जानकर उसे ज्ञान देने की ओर प्रवृत्त होता है। यह शिष्य को उसकी शिक्षा के अंत में जाकर ही स्वयं ब्रह्मराक्षस से ही पता चलता है कि उसने बारह वर्षों तक जिस महान गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है वह और कोई नहीं, ब्रह्मराक्षस है।

गुरु ने दुःखपूर्ण कोमलता से कहा,

'शिष्य! स्पष्ट कह दूं कि मैं ब्रह्मराक्षस हूँ किंतु फिर भी तुम्हारा गुरु हूँ। मुझे तुम्हारा स्नेह चाहिए। अपने मानव-जीवन में मैंने विश्व की समस्त विद्या को मथ डाला, किंतु दुर्भाग्य से कोई योग्य शिष्य न मिल पाया कि जिसे मैं समस्त ज्ञान दे पाता इसीलिए मेरी आत्मा इस संसार में अटकी रह गई और मैं ब्रह्मराक्षस के रूप में यहां विराजमान रहा।... मैंने अज्ञान से तुम्हारी मुक्ति की। तुमने मेरा ज्ञान प्राप्त कर मेरी आत्मा को मुक्ति दिला दी। ज्ञान का लाया हुआ उत्तरदायित्व मैंने पूरा किया। अब मेरा यह उत्तरदायित्व तुम पर आ गया। जब तक मेरा दिया तुम किसी और को न दोगे तब तक तुम्हारी मुक्ति नहीं। शिष्य आओ, मुझे विदा दो।' ('ब्रह्मराक्षस का शिष्य', मुक्तिबोध रचनावली-3, पृष्ठ-119, 120)

अब जब ब्रह्मराक्षस मुक्त हो चुका है, ज्ञान के बोझ से मुक्त हो चुका है, वह अपने शिष्य को विदा करते समय राधामाधव की यमुना-कूल-क्रीड़ा में भूली हुई राधा को बुला रहे नंद(लाल) के भाव को प्रकट करता है :

मैथैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालाद्रुमैः

नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे! गृहं प्राप्य।

इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं,

राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।

('ब्रह्मराक्षस का शिष्य', मुर.-3, पृ.,115, जयदेवकृत गीतगोविन्दकाव्यम्, टीका शिवप्रसाद द्विवेदी, पृ.,18) मुक्तिबोध ने गीतगोविन्द के उद्धृत मंगलाचरण का हिंदी अनुवाद नहीं दिया है। वह आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी की टीका से मैं दिए देता हूँ :

हे राधे! आकाश मेघों से मनोज्ञ हो गया है, तमालवृक्षों के द्वारा वनभूमि श्यामवर्ण वाली हो गई है, रात्रि की वेला है तथा मैं भीरु स्वभाव वाला हूँ, अतएव तुम ही मुझे घर पहुंचा दो। इस प्रकार कृष्ण द्वारा कहे जाने पर नंद के समीप से चले हुए राधा तथा माधव की यमुना के तट मार्ग में पड़ने वाले वृक्षों की छाया में ऐकांतिक सुरतक्रीड़ा सर्वोत्कृष्ट होने के कारण नमस्करणीय है। (जयदेवकृत गीतगोविन्दकाव्यम्, टीका शिवप्रसाद द्विवेदी, पृ.,18)

मुक्त ब्रह्मराक्षस रसराज शृंगार काव्य के उत्कर्ष, गीतगोविंद का द्वार दिखाकर शिष्य से विदा लेता है और उसके देखते ही देखते तिरोधान हो जाता है।

इस कथा से कुछ ऐसा आभास होता है कि मुक्तिबोध जिस ज्ञान की खोज में ताउम्र साहित्य के गली-कूचों में भटकते रहे, वह ज्ञान जो वे भारतीय जन मानस के अंतस में झांककर खोजते रहे, वह मुक्ति का दर्शन या मोक्ष ज्ञान जैसा कुछ होगा। इस विषय में कुछ संकेत उनके लघु उपन्यास *विपात्र* में भी मिलते हैं। इस उपन्यास का एक चरित्र जगत सिंह राव साहब के साथ काम करता है। राव साहब सांसारिक दृष्टि से सफल व्यक्ति हैं पर जगत सिंह अकेला अँधेरे में पड़ा खूब पढ़ता-लिखता है। 'बाहर की दुनिया में वह अजनबी महसूस करता। मानसिक रूप से वह कैलिफोर्निया या हॉवर्ड यूनिवर्सिटियों के इलाके में घूमता है। अमरीकी साहित्य में वह सचमुच रम चुका था, उसी तरह जैसे शक्कर में गुलाब की पंखुड़ियां, जिनसे गुलकंद बनता है।' पर राव साहब की दृष्टि में उसका यह सारा ज्ञान, अगर मोक्ष का साधन नहीं है, मुक्ति का सोपान नहीं है, तो निस्संदेह वह किसी भौतिक लक्ष्य की पूर्ति का ही साधन होना चाहिए- उसी प्रकार जैसे लकड़ी से कुत्ते को भगाया जा सकता है, या संड़सी से जलती सिगड़ी पर से तवा नीचे उतारा जा सकता है, या कंसेशन का रेल टिकट खरीद-कर कश्मीर जाया जा सकता है। संक्षेप में, जो व्यक्ति ज्ञान की उपलब्धि का सौभाग्य प्राप्त करके भी यदि अपने जीवन में असफल रहा आया, अर्थात् कीर्ति, प्रतिष्ठा और ऊंचा पद न प्राप्त कर सका तो उस व्यक्ति को सिरफिरा या दिमागी फितूरवाला नहीं तो और क्या कहा जाएगा! अधिक-से-अधिक वह तिरस्करणीय, और कम-से-कम वह दयनीय है- उपेक्षणीय भले ही न हो। (*विपात्र, मुक्तिबोध रचनावली-3, पृष्ठ 206*)

विपात्र के आख्याता का झुकाव जगत सिंह के सोचने की ओर है। उपन्यास में राव साहब की विचार प्रक्रिया को व्यंग्यात्मक ढंग से देखा और चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में भी ज्ञान के स्वरूप को लेकर जो दृष्टि सामने आती है, वह कोई सांसारिक ज्ञान नहीं है। उसे मुक्ति का ज्ञान ही मानने की ओर इस उपन्यास का भी झुकाव है।

संभवतः यह वही ज्ञान है जिसकी खोज में मुक्तिबोध तरह-तरह की चरित्रों के भीतर झांकते हैं, तरह-तरह की कथात्मक स्थितियां रचते हैं। संभवतः यह वही ज्ञान है जिसकी खोज में बोधिसत्व अपने किसी जन्म में भटके थे और जिसके चलते उनके बोध की एक व्याख्या यह है कि वे तब तक मोक्ष के द्वार पर प्रतीक्षा करते रहेंगे, जब तक सभी को मोक्ष प्राप्त न हो जाए। यह वही ज्ञान है जिसकी खोज में मुक्तिबोध मध्यवर्गीय परिवारों और पात्रों के जीवन की धुंधली, धुंए भरी, घुटती हुई दिनचर्याओं को समझने की कोशिश करते हुए अंतहीन भटकते हैं। इसी के फलस्वरूप वे अपनी कहानियों और कविताओं में तरह-तरह के कल्पना लोकों को उद्घाटित करते हैं, तरह-तरह की फंतासियों की रचना करते हैं। इस ज्ञान को उद्घाटित करने के प्रयास में वे कई बार अपने पात्रों पर कुछ ऐसे आरोपण भी कर देते हैं जिन्हें स्वयं उनकी कहानियों के पात्र प्रश्नांकित करते हैं। इसका आशय यह है कि जिस ज्ञान की खोज में वे उद्विग्न भटक रहे हैं, जो आत्म-संभवा है, लगभग नैसर्गिक है उसके सच्चे स्वरूप को वे हर ओर से परख कर ही अपनी खोज में आगे बढ़ना चाहते हैं। ऐसा कुछ कहानियों में प्रतीत होता है मानो वे किसी भुलावे में फंस गए हों पर उनकी कम-से-कम एक कहानी ऐसी है जिसमें वे इस भुलावे के इंद्रजाल को भी तोड़ने का प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं:

पात्र ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया- मेरे भीतर का जीवन आप क्या जानो! जो भीतर का

है वह धुआं और कुहरा है, यह गलत है! आप मुझे ऐसा पेण्ट करना चाहते हो जैसे मैं दुःख के, असंगति के, कष्ट के, एक गटर का एक कीड़ा यानी निम्न-मध्यवर्गीय हूं। जी नहीं, झप्टा महोदय, मैं इतना आधुनिक नहीं हूं। मेरी आत्मा आधी क्लासिकल है, आधी रोमैंटिक। मन, अहंकार और बुद्धि आत्मा की इंद्रियां मानी गई हैं। वे सब टेक्नोलॉजिकल हैं, लेकिन टेक्नोलॉजिकल के बदले मुझमें वे अधिक वैज्ञानिक हो गए, तो इसे मैं क्या करूं!

ईश्वर के लिए, आप मुझे गलत चित्रित न कीजिए। ठीक है कि मैं तंग गलियों में रहता हूं, और बच्चे को कपड़े नहीं हैं, या कि मैं फटेहाल हूं। किंतु मुझ पर दया करने की कुचेष्टा न कीजिए।

...उसने मेरी ओर देखकर कहा- क्षमा कीजिए, लेकिन यह सच है कि आप लोग मन की कुछ विशेष अवस्थाओं को ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानकर चलते हैं- विशेषकर उन अवस्थाओं को जहां वह अवसन्न है, और बाहरी पीड़ाओं से दुःखी है। मैं इस अवसन्नता और पीड़ा का समर्थक नहीं, भयानक विरोधी हूं। ये पीड़ाएं दूर होनी चाहिए। लेकिन उन्हें अलग हटाने के लिए मन में एक भव्यता लगती है- चाहे वह भव्यता पीड़ा दूर करने संबंधी हो या गणितशास्त्रीय कल्पना की एक नई अभिव्यक्ति। उस भव्य भावना को यदि उतारा जाए तो क्या कहना!

इसलिए, जनाबेआली, मैं इस बात का विरोध करता हूं कि आप निम्न-मध्यवर्गीय कहकर मुझे जलील करें, मेरे फटेहाल कपड़ों की तरफ जान-बूझकर लोगों का ध्यान इस उद्देश्य से खिंचवाएं कि वे मुझ पर दया करें। उन सालों की ऐसी-तैसी! ('भूत का उपचार', मुक्तिबोध रचनावली-3, पृष्ठ-129)

यह कहानी इस बात का अपूर्व उदाहरण है कि एक उद्विग्न लेखक किस तरह स्वयं अपनी रचनात्मकता को निरंतर प्रश्नांकित करने का जोखिम उठाता है। मुक्तिबोध इस कहानी में सिर्फ कहानी में उपस्थित लेखक नामक पात्र को प्रश्नांकित नहीं कर रहे, वे अपनी तमाम कहानियों को भी प्रश्नों के घेरे में खींच लाए हैं। यही कारण है कि उनकी खोज अपने पाठकों को किसी 'मन की भव्यता' रूपी गंतव्य तक ले जाने में सफल न हो पाए, पर उस खोज की यात्रा, बीहड़ यात्रा आपको बांधे रखती है। आपको यह निरंतर महसूस होता रहता है कि आप किसी ऐसे ज्ञान के निकट पहुंचते जा रहे हैं जिसका आश्वासन लेखक ने अपनी तमाम कृतियों में यहां-वहां छोड़ा है।

पर क्या यह ज्ञान अंततः इन कृतियों में उपलब्ध हो पाता है?

क्या ऐसे किसी ज्ञान की प्राप्ति ही मुक्तिबोध की कहानियों की सफलता का निकष माना जाएगा?

क्या यह सच नहीं कि किसी साहित्यिक कृति का धर्म, ज्ञान को प्रकट करना न होकर, उसकी खोज के विन्यासों को चरितार्थ करना होता है। साहित्य में भी अन्य कलाओं की तरह ही सत्य की खोज की प्रक्रिया सर्वाधिक महत्त्व की होती है। शायद इसीलिए भरत के नाट्यशास्त्र में देवताओं को रंगकर्म के उपयुक्त नहीं माना गया। देवताओं के पास यह शक्ति है कि वे जो भी चाहते हैं, उसे तुरंत पा लेते हैं यानि उनकी चाहना और उसकी उपलब्धि के बीच कोई प्रक्रिया या कर्म नहीं होता। पर नाटक कर्म है, रंगकर्म है। इसमें यह चाहने और पाने के बीच की प्रक्रिया ही मंचित होती है और यह करने में केवल मनुष्य ही सक्षम है क्योंकि उसके चाहने और पाने के बीच कर्म की सुदीर्घ

जटिल प्रक्रिया पसरी होती है। इसी पर चलकर वह रंगकर्म को या किसी भी अन्य कला को संपन्न कर पाता है। इस दृष्टि से कलाएं मानवीय चेष्टाओं के ऐसे नक्शे हैं जो हर बार अपने गंतव्य पर पहुंच ही जाते हो, आवश्यक नहीं है। पर इन नक्शों में ही तमाम रस समाए हुए हैं।

यह मुक्तिबोध की कहानियों के लिए भी सच है। पर शायद मुक्तिबोध साहित्य की इस व्याख्या से असहमत होते। यह सच है कि आज उनके आत्म संघर्ष को हिंदी साहित्य में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त है। पर क्या जिस ज्ञान की खोज में उनकी तमाम कहानियां और कविताएं संलग्न हैं और जिसकी कुछ झलकें उनकी कुछ कहानियों में दिखाई देती है, उसकी भी उतनी ही प्रतिष्ठा है ?

परंतु (कमरे) में देव, गफूर और मुदस्सिर की आवाजें हवा में मंडरा रही हैं। विषय समाजवाद का निकल गया है और देव सहानुभूति की आंच से बातें करता चलता है।

बात यह है कि अन्यमनस्क घर भागने वाले देव के मन में अनजाने रीति से मुसलमानी गरीबी, उनकी गंदगी, उनकी आर्थिक बेबसी, उनके मुहल्लों की भयानक दशा पैठ गई है। वह आश्चर्य करता है किस प्रकार लोग यहां रह पाते हैं। ऐसे रहनेवाले लोगों का रौबीला सरदार मानो मुदस्सिर हो।

देव की आवाज ऊंची हो रही है, वह कभी नीचे आ जाती है, फिर ऊंची चढ़ जाती है, फिर और भी चढ़ जाती है, फिर धीरे-धीरे उतरती है, स्पष्ट होती है, अलग-अलग होती है।

गफूर और मुदस्सिर चुपचाप बैठे हैं। मुदस्सिर का रौबीलापन और गफूर की व्यावहारिक बुद्धि अंदर पानी-पानी होकर बही जा रही है। वे चुप सुन रहे हैं, किस प्रकार उच्चवर्ग निम्नवर्ग को लूटता है, और मध्यवर्ग की हालत दयनीय है। मुदस्सिर ने जो हँसने की अफीम खा ली थी, उसका नशा धीरे-धीरे उतर रहा है। उसका हृदय किसी उच्छ्वास से फूल रहा है। गफूर देव की हरेक बात को सुनता जा रहा है, गुनता जा रहा है। वे दोनों पास-पास सटे जा रहे हैं। ('एक लंबी कहानी', अपूर्ण रचना, मुक्तिबोध रचनावली-3, पृष्ठ-262)

इस कहानी में देव नामक पात्र से यह सुनने के बाद गफूर और मुदस्सिर रात भर सो नहीं पाते। उनकी बेचैनी इतनी बढ़ती है कि वे देव के जाने के बाद भी अकेले नहीं रह पाते, वे देर रात एक-दूसरे की ओर भागते हैं। मानो उन्हें कोई ऐसी दृष्टि मिल गई हो जिसने उनके जीवन को ही उलट-पुलट दिया हो। उद्धृत पंक्तियों को अगर ध्यान से पढ़ा जाए तो यह सहज ही समझ में आ सकता है कि मुदस्सिर की जिस 'हँसी की अफीम' की चर्चा हो रही है, उसे ही मुक्तिबोध की प्रिय विचारधारा में 'धर्म की अफीम' कहा गया है। और जिस तरह मुदस्सिर का नशा उतर रहा है, उसी तरह उस विचारधारा के प्रणेता को यह आशा थी कि उसमें अनुस्यूत ज्ञान को प्राप्त कर आधुनिक मनुष्य का धर्म का नशा उतर जाएगा। क्या यही वह ज्ञान है जिसकी खोज में मुक्तिबोध उद्विग्न भटकते रहे? अगर इसका उत्तर हां भी हो तब भी हमारी घोर निराशा के बावजूद इससे उनके आत्म संघर्ष से उत्पन्न आभा जरा भी कम नहीं होती। भले ही हम यह अलग से जानते हों कि इस तथाकथित ज्ञान को बीसवीं शती के इतिहास में किस हद तक प्रश्नांकित किया है। यह प्रश्नांकन निरा वैचारिक ही नहीं है, पिछली शताब्दी इस बात की गवाह है कि इसके क्रियान्वयन में कितनी क्रूरताओं, अनियमितताओं आदि को, अनेक समाजों को अपनी आत्मा पर झेलना पड़ा और जिसके फलस्वरूप अनेक समाज कुछ ऐसे विखंडनों को प्राप्त हो गए जिनसे वापसी का कोई रास्ता उन्हें देर तक नहीं सूझा।

पर यह सब तो संभवतः मुक्तिबोध जैसे उद्विग्न बौद्धिक से अनदेखा ही चला गया। अनदेखा

इसलिए क्योंकि जिस समय यह कहानी लिखने की कोशिश हो रही थी या मुक्तिबोध इसमें व्यक्त ज्ञान को अपनी और मनुष्यता की मुक्ति का साधन मान रहे थे, इस विचारधारा के क्रियान्वयन की चेष्टा में हुए अन्यान्य अमानवीय अत्याचार प्रकाश में, कम-से-कम कुछ हलकों में, आ चुके थे। इसके बाद भी मुक्तिबोध का इस विचारधारा के प्रति विश्वास अडिग था। पर इस विश्वास के शिकार केवल मुक्तिबोध ही नहीं थे। इसी गहरे विश्वास को उन्होंने सन 1963 में आग्नेष्का सोनी को लिखे पत्र में प्रकट किया था :

‘भय’- हां, मैंने इस शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया है। मुझे आपके बारे में कुछ विशेष भय था; इसीलिए मैं एक विशेष पक्ष पर विशेष बल दे रहा था।

और, वह यह है। साम्यवादी देशों से, (पोलैंड साम्यवादी देश ही हैं) किन्हीं मतभेदों के आधार पर, निकलें हुए या भागे हुए लोग, अथवा ऐसे ही अन्यान्य कारणों से आए हुए लोग, बहुधा साम्यवाद-विरोधी शिविर में जा मिलते हैं। भारत में साम्यवाद-विरोधी प्रतिक्रियावादियों की संख्या कम नहीं है। साहित्यिक क्षेत्र में भी वे सक्रिय हैं। इलाहाबाद ऐसे कुछ लोगों का केंद्र है।

शीत युद्ध ने जिंदगियों को जिस तरह उलझा दिया है, वह बहुत ही भयानक है। ऐसी स्थिति में अपने देश से उन्मूलित आप कहीं प्रतिक्रियावादियों के शिविर में न पहुंच जाएं, यह भय मुझे था। यह मैं निःसंकोच स्वीकार करता हूँ।

आग्नेष्का उसी पोलैंड की नागरिक थीं, उसी पोलैंड की संस्कृति की सदस्य जिसके महान दार्शनिक, लेजेक कोयाकोवस्की ने मुक्तिबोध जैसे अनेक लेखकों, कलाकारों के साम्यवादी रुझान को अपने एक निबंध ‘साम्यवाद की सांस्कृतिक शक्ति’ में अद्भुत ढंग से विश्लेषित किया है। वे यह प्रश्न पूछते हैं कि एक ऐसी विचारधारा से आखिर इतनी बड़ी संख्या में लेखक और बौद्धिक कैसे प्रभावित हो गए। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि साम्यवादी विचारधारा एक ऐसे समय पर यूरोप में आई थी जब पहले और दूसरे विश्वयुद्ध के मध्य यूरोपीय मनुष्य अंतिम मुक्ति की आवश्यकता महसूस कर रहा था, एक नए युग के शुरुआत की। यह वह समय था जब शिक्षित यूरोपियों का पारंपरिक आस्थाओं पर से विश्वास हट गया था। उस समय साम्यवादी विचारधारा ज्ञानोदय दृष्टि की निरंतरता और एक सेक्युलर मजहब का रूप लेकर सामने आई थी।

हालांकि वह मजहब का महज एक विद्रूप थी। जो अपने अंधानुकरण और स्वयं को विश्व की तार्किक व्याख्या की तरह मनवाने पर दबाव डालती थी। पर वह दोनों ही नहीं थी और उसने इन दोनों असंगत मांगों के बीच झूलते हुए, अपने प्रभाव के क्षेत्र में मजहब और तर्क दोनों को खोखला कर दिया। उसका विचारधारात्मक दिवालियापन उसी ज्ञानोदय की पराजय थी, जिसकी वह अंतिम और अंतर्निष्ठ और इसलिए आत्महंता अभिव्यक्ति थी।

मुक्तिबोध उस युग के उन लेखकों में थे जो इस आत्महंता अभिव्यक्ति के प्रभाव क्षेत्र में आ गए थे। इसे उनकी व्यक्तिगत त्रुटि न मानकर उस समय का दबाव ही मानना होगा। पर इसके बाद भी इसे एक बार फिर दोहराना शायद ठीक हो कि मुक्तिबोध के रचनात्मक संघर्ष का अभीष्ट ज्ञान संभवतः वह नहीं था जो उनकी अनेक कहानियों में गंतव्य की तरह प्रस्तुत होता है। वह कुछ और ही है और उनकी कहानियों में जो आलोक फैला है वह उसी अन्वेषण की बेचैनी का आलोक है, विचारधारात्मक ज्ञान की उपलब्धि का अंधकार नहीं। यह मुक्तिबोध की रचनाओं का शायद दुर्भाग्य है कि उन्हें जिन गुणों के लिए सराहा गया है, वह उनकी कमजोरियों के निशान हैं।●

मुक्तिबोध की काव्यभाषा में अतिशयता और अतिरिक्तता की उलझन

अपूर्वानंद

कहते हैं लोग-बाग बेकार है मेहनत तुम्हारी सब
कविताएं रदी हैं
भाषा है लचर उसमें लोच तो है ही नहीं
बेडौल हैं उपमाएं, विचित्र हैं कल्पना की तस्वीरें
उपयोग मुहावरों का शब्दों का अजीब है
सुरों की लकीरों की रफ्तार टूटती ही रहती है
शब्दों की खड़-खड़ में खयालों की भड़-भड़
अजीब समां बांधे है!! गह्वों
भरे उखड़े हुए जैसे रास्ते पर किसी
पत्थरों को ढोती हुई बैलगाड़ी जाती हो
माधुर्य का नाम नहीं, लय-भाव-सुरों का काम नहीं
कौन तुम्हारी कविताएं पढ़ेगा?

मुक्तिबोध को प्रायः दुरूह कवि माना जाता रहा है। उनकी भाषा पर ऊबड़ खाबड़पन, अनगढ़पन और शब्दबहुलता का आरोप लगाया जाता रहा है। प्रायः उनकी राजनीति के कारण मुक्तिबोध के प्रशंसक भी उनकी भाषा को लेकर असुविधा का अनुभव करते रहे हैं। इसके पीछे कविता की एक विशेष समझ काम कर रही है जिसके मुताबिक कविता एक तराशी हुई कलाकृति है जिसकी सारी नोकें घिसकर गोल कर दी गई हैं। इस समझ के अनुसार कथा-रचना में तो भाषा में फैलाव हो सकता है लेकिन कविता शब्दों का ऐसा प्रयोग है जो अनिवार्यता के सिद्धांत का पालन करता है। कविता में शब्द ही सबसे पहले है और वही अंतिम भी है, कवि ऐसे ही शब्द चुनता है जिनके बिना उसका काम नहीं चल सकता और जिन्हें, दूसरे शब्दों से बदला नहीं जा सकता। हर कविता एक गठी हुई संरचना है, ऐसी इमारत है, जिसका एक-एक शब्द एक-एक ईंट की तरह है, जो खास तरह से एक पर एक जमाई जाती हैं और बीच से उनमें से किसी को खिसका देने से इमारत के भरभरा कर गिरने का खतरा है। कविता छोटी हो या लंबी, यह बात दोनों पर लागू होती है।

इस समझ के अनुसार कविता एक संरचना और एक शिल्प है। यह भी कि हर कविता एक फ्रेम में कसी रहती है और वह फ्रेम भी कसा हुआ होता है। वह चूंकि शब्दों की संरचना है, उसके

शिल्पत्व की रक्षा के लिए आवश्यक है कि उसके एक-एक शब्द में अर्थगर्भत्व का गुण हो। कवि की चिंता प्रथमतः अर्थ-संप्रेषण की होती है और वह वही होना चाहिए जो उसने सिरजा है, इसलिए भी वह सावधानी बरतता है कि न सिर्फ हर शब्द एक निश्चित अर्थ का संवहन करे, बल्कि शब्दों के बीच का क्रम भी ऐसा ही हो जो हर शब्द की अर्थ-संभावना की रक्षा करे, साथ ही शब्दों के संयोजन-विशेष में भी अस्पष्टता का दोष न आ पाए। दूसरे शब्दों में, कविता के शब्द प्रयोग में फालतूपन से बचा जाना चाहिए।

अर्थ सृजन की प्रक्रिया पर ध्यान दें तो फालतूपन उपयोगी नजर आने लगेगा। बच्ची के भाषा-संसार में आत्मविश्वास हासिल करने की प्रक्रिया बिना उसके चारों ओर शब्दों के जंगल के संभव नहीं। भाषा मात्र शब्द नहीं है, उसके साथ ध्वनियां, प्रयोक्ता की शारीरिक मुद्राएं और भंगिमाएं जुड़ी हुई हैं। जो वयस्क हैं और भाषा के सांसारिक प्रयोग के अभ्यासी हैं, एक नए भाषा प्रयोक्ता के चारों ओर शब्दों का अंबार लगा देते हैं। अतिशयता न सिर्फ बच्चे के, बल्कि वयस्क के भाषिक व्यवहार का अनिवार्य गुण है। हम तमाम ऐसी ध्वनियों, मुद्राओं का प्रयोग करते हैं और शब्दों का इतना अधिक निरर्थक इस्तेमाल भी कि उसमें मात्र अर्थपूर्ण शब्द अल्पसंख्यक हो जाता है। बच्ची इसी अंबार से अर्थ निकालना सीखती है। फिर प्रश्न यह है कि क्या फालतू सचमुच फालतू है या वह अर्थ-निर्माण के लिए अनिवार्य है?

या क्या हम यह कहना चाह रहे हैं कि फालतू या अतिरिक्त शब्द दरअसल ऐसी धूनियां हैं, जिनके सहारे एक पौधे को खड़ा किया जाता है और फिर जब वह जड़ पकड़ लेता है तो धूनियां व्यर्थ हो जाती हैं? और क्या हम ऐसा कहकर यह नहीं कह रहे कि एक वयस्क भाषा प्रयोक्ता को इस शैशवावस्था से निकल आना चाहिए और एक बार भाषा के नियमों की व्यवस्था, यानी उसके व्याकरण से परिचित हो जाने के बाद सिर्फ जरूरी प्रयोग ही करने चाहिए? वयस्क बच्चे जैसी आजादी की मांग नहीं कर सकता। उसे व्याकरण का पालन करना ही होगा।

जिसे व्याकरण कहा जाता है, उसमें एक प्रकार की यादृक्षिकता होती ही है। विट्गेंस्टाइन (जेटेल-58) इस प्रसंग में एक दिलचस्प प्रश्न करते हैं : 'ऐसा क्यों है कि मैं पाकक्रिया के नियमों को यादृक्षिक नहीं कहता, और क्यों मैं व्याकरण के नियमों को यादृक्षिक कहना चाहता हूं?' इसका उत्तर वे यों प्रस्तावित करते हैं, 'पाकक्रिया अपने उद्देश्य से परिभाषित होती है, जबकि 'बोलने' के साथ ऐसा नहीं है। यही कारण है कि भाषा-प्रयोग एक मायने में स्वायत्त होता है जिस रूप में पाकक्रिया और प्रक्षालन की क्रियाएं स्वायत्त नहीं हैं। आप खराब ढंग से खाना बनाएंगे अगर आपने सही नियमों की जगह किन्हीं और नियमों का पालन किया, लेकिन अगर आप शतरंज के नियमों के स्थान पर किन्हीं अन्य नियमों के अनुसार खेल रहे हैं तो आप कोई और ही खेल खेल रहे हैं और अगर आप फलों-फलों नियमों की जगह किन्हीं और नियमों का अनुसरण करेंगे तो इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि आप कुछ गलत बोल रहे हैं, नहीं, आप किसी और चीज के बारे में बात कर रहे हैं।'

विट्गेंस्टाइन के अनुसार भाषा किसी एक उद्देश्य-विशेष को पूरा करने वाली व्यवस्था नहीं है। वे उसे एक संग्रह मानते हैं। कविता मात्र के लिए और विशेषकर मुक्तिबोध की कविता के लिए भाषा को संग्रह माने वाली प्रस्तावना का उपयोग किया जा सकता है। चूंकि एक भाषा सिर्फ एक भाषा नहीं है और दूसरे, भाषाएं दूसरी भाषाओं के सान्निध्य में जीवन यापन करती हैं, उनमें से किसी एक रूप में न्यस्त दर्शन को एक सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि हर भाषा

में हमेशा नई भाषा की संभावना छिपी रहती है। इस संभावना को कैसे रूपायित किया जाता है?

मुक्तिबोध ने नेमिचंद्र जैन को एक पत्र में लिखा, 'मेरे अत्यंत आत्मीय विचार मराठी या अंग्रेजी में निकलते थे; जिनका तर्जुमा, यदि अवसर हो, तो हिंदी में हो जाता था... मेरा ख्याल है कि मेरी भाषा सुंदर न भी हो सके वह सशक्त होकर रहेगी, क्योंकि उसके पीछे अंदर का जोर रहेगा। मुझे साज-संवार की प्रतिष्ठित बोली पसंद नहीं।' आगे वे अपनी हिंदी को सक्षम, सप्राण और अर्थ-दीप्त कर पाने की इच्छा व्यक्त करते हैं। मुक्तिबोध की हिंदी की सहचर भाषाएं मराठी और अंग्रेजी थीं, नागार्जुन की मैथिली, संस्कृत और बांग्ला और अज्ञेय की संस्कृत और अंग्रेजी।

भाषा की संभावना की पहचान या तलाश इस समझ के बिना नहीं हो सकती कि उसका प्रयोक्ता भी संभावनाओं का आगार है। साथ ही यह कि उसमें अनिश्चयात्मकता का तत्त्व ही उसे परिभाषित करता है इसलिए जब हम कोई योजना बनाते हैं (पुनः विट्गेंस्टाइन) तो सिर्फ इसलिए नहीं कि हमें ठीक तरीके से समझ लिया जाए, बल्कि इसलिए भी कि हम खुद भी उस प्रसंग विशेष के मामले में अपने लिए स्पष्टता चाहते हैं। इसका अर्थ यही हो सकता है कि भाषा अपने संप्रेषणात्मकता के दायित्व से बाधित नहीं की जा सकती, न ही उसे प्रचलित अर्थ में अभिव्यक्ति का माध्यम कहा जा सकता है। वह प्रयोक्ता के लिए अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया भी है। यह कहा जा सकता है कि रचनाकार जिस तलाश में है, उसके लिए उपलब्ध अर्थ-संसार में साधनों या उपकरणों की कमी है। आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि उसकी दिलचस्पी अर्थ-विशेष की प्राप्ति नहीं, बल्कि अर्थ-सृजन की प्रक्रिया में है और वह कुछ नया किसी और के लिए नहीं बनाता या हासिल करता बल्कि हर बार खुद को ही नया उपलब्ध करता है।

अर्थ की तलाश या अर्थ-निर्माण की यात्रा में किसी एक अंतिम बिंदु पर पहुंच जाने से अधिक संधान पर जोर है। इस यात्रा के क्रम में यात्री, यानी कवि का बदल जाना अनिवार्य है। हर क्षण अपने को बदलते देखने की उत्तेजना उसकी भाषा को भी आश्चर्य के तत्व से संयुक्त करती है। लेकिन यह यात्रा प्रत्येक कवि के लिए एक-सी नहीं होती। काव्य यात्रा का बाहरी संसार की भौगोलिक दूरी तय करने वाली यात्रा से कोई मेल नहीं लेकिन कहा जा सकता है कि हर कवि स्वभावतः यात्री नहीं होता। मुक्तिबोध का कवि स्वभाव यात्री का था, यह उनकी कविताओं के शिल्प को देखकर आसानी से समझा जा सकता है बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि वे असमाप्य यात्राओं के यात्री थे। यह किंचित आश्चर्यजनक लग सकता है, उनकी घोषित मार्क्सवादी विचारधारा को देखते हुए, जो निश्चित प्रस्थान बिंदुओं और आगमन बिंदुओं के बीच समाजों के सफर को समझती और परिभाषित करती है।

मुक्तिबोध स्वयं यात्री नहीं थे। हम कह सकते हैं कि उनकी यात्रा उनके मन के भीतर ही होती रहती थी। उनके समकालीन और दो कवियों से उनकी तुलना करें तो बात कुछ और साफ होती है। अज्ञेय बड़े यायावर थे। भारत और भारत के बाहर उनकी यात्राओं के बारे में हमें पता है। नागार्जुन का तो नाम ही यात्री था।

मुक्तिबोध को बाहरी यात्रा की सुविधा नहीं थी। साहस-यात्राओं की तो बिलकुल नहीं। उनकी कोई भी यात्रा निरुद्देश्य नहीं हो सकी। हर सफर घरेलू आवश्यकताओं से निर्देशित था। अपने मित्रों को वे इसलिए हसरत से भी देखते हैं। वे अंततः एक कस्बाई परिवेश में जीवन बिताने को बाध्य हुए। यह नहीं कि बाहर निकलने की उनकी इच्छा न थी। पर हर बार कुछ ऐसा होता रहा कि वे

किसी बड़ी जगह से छोटी जगह पर लौट आने को बाध्य हुए। प्रेम-विवाह के बाद बसी गृहस्थी को वे कभी किसी बड़े सामाजिक या कलात्मक लक्ष्य के आगे छोड़ नहीं पाए। 1945 में नेमिचंद्र जैन को एक अन्य पत्र में उन्होंने इस घरेलू कर्तव्य की बाधा के बारे में लिखा, 'क्या जरूरी है कि कर्तव्य किया ही जाए, और उस समय आने वाली आपकी याद को बाहर ही खड़ा रख मन के दरवाजे को बंद कर दिया जाए। कर्तव्य के फलसफे की बात ज्यादा समझ में नहीं आती।

इसी कर्तव्य ने तो लोगों को पंगु कर दिया है, उनके हृदय के पंख तोड़कर उसे (उन्हें) अधिक सामान्य बना दिया है।' इस पत्र के आगे के अंश को ध्यान से पढ़ने पर मुक्तिबोध की भाषा की प्रकृति को समझ पाने में सहायता मिलती है, 'सरदी की पारदर्शनी, हल्की-हल्की चोटें करने वाली यह धूप और उसका ऊष्ण स्पर्श मानों मुझे जगा देता है। मन दैनिक नींद से जाग उठता है। वृक्षों के पत्र संभार पर फैलकर उनके गाढ़े हरियाले अंतराल में छाया-प्रकाश उत्पन्न करने वाली यह धूप मन में सपने जगा देती है। कोई विलास-स्वप्न नहीं वरन विजय-स्वप्न। जिन्हें देख लें पुराने मकान की जीर्ण मुंडेर पर बैठकर दूसरे के आंगन में झांकनेवाले लोग- कर्तव्य के पुराने मुहल्ले के बाशिंदे।' (मु.र.-6-226)

इस पत्र में, जो एक आत्मीय को लिखा गया है, शब्दों की अतिशयता को लक्ष्य किया जाना चाहिए। मुक्तिबोध काम के रोजमर्रेपन से ऊबकर जीवन को एक ऊंची सतह पर जाने को व्याकुल हैं लेकिन यह कहने के लिए उन्हें काफी कुछ कहना होता है। प्रकृति उनके सोचने के पूरे पैटर्न को तय करती है। पत्र में जीवन के शिखर की तलाश के साथ आत्मीयता के लिए आकुलता झलकती है। वाक्य संयम से उनका काम नहीं चलेगा।

30 अक्टूबर, 1945 के पत्र में जैसे इसी बात को वे दुहराते हैं, 'सहसा आपकी याद आ रही है, मीठी बयार के औचक जगाने वाले झोंके-सी।' '.... क्षण भर के लिए ही सही, मैं जाग्रत हो उठा हूं तो सहसा यह वाक्य निकल आता है- Lo, there is born a man with a disturbed soul and disturbed with the highest duties of age and the greatest weakness of his times.... न सिर्फ मैं अपनी राह को खोजता हूं बल्कि वह भी मुझे खोजती है....'

इस पत्र में आत्म-भर्त्सना नहीं है; आत्म-विश्वास है जो इस वाक्यांश से जाहिर होता है कि राह भी मुझे खोजती है। व्यक्ति को यदि अपना समाज खोजना पड़ता है तो हर समाज भी अपना व्यक्ति खोजता है। और वह कोई अमूर्त इकाई नहीं। किसी एक व्यक्ति का व्यर्थ होना किसी समाज के लिए बड़ी हानि है। व्यक्ति के इस महत्त्वबोध के कारण मुक्तिबोध किसी तुच्छता और व्यर्थता बोध की दलदल में फंसे रहने से बच गए। एक जगह उन्होंने घुटन भरी जिंदगी का जिक्र किया है और लिखा है कि सिनिसिज्म सेंटिमेंटलिज्म से अधिक बुरी चीज है और यह भी कि सारे रंजोगम के बावजूद जिंदगी से शिकायत नहीं, तकाजा है।

मुक्तिबोध के पत्रों में बार-बार जग उठने और जाग्रतावस्था में नए स्वप्न देखने का प्रसंग आता है। ये स्वप्न उनके अपने जीवन यथार्थ को चुनौती देते हैं। यह यथार्थ व्यक्तित्व को छोटा बना देता है, दैनिक जीवन के पूर्ण आबद्ध कार्यक्रम में आदर्शवाद की बू तक नहीं रहती। कहीं मन का विस्तार नहीं हो पाता.....मनुष्य का वास्तविक सामर्थ्य और उसकी शक्ति ...सो जाती है।' इसके साथ ही यह अहसास कि, '...in a dark unknowable way I am cut off from the people---incapacitated to 'realize', to fully feel the lives of others, the concrete emotions of their life, as

if I am unable to feel them, as if I cannot partake emotionally in their life.'

दूसरों के जीवन में भावनात्मक भागीदारी न कर पाने की बेचैनी के साथ अपने व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण की व्यग्रता जुड़ी हुई है। वे अपने-आप को एक ध्वस्त किले की तरह देखते हैं, जिसकी हरेक दीवार गिर चुकी है, एक-एक ईंट और पत्थर अलग हो गए हैं और उस मलबे से एक नई इमारत की तामीर की भयानक इच्छा उनके मन के भीतर जोर मारती है, 'I am a demolished castle of romantic associations. Every wall, every part of this huge glorious and gloomy structure has been brought down.' वे लिखते हैं कि उनके भीतर दरअसल आदिम गुफाओं में निवास करने वाला एक शिकारी, बर्बर है जिसे ऐंद्रिक आनंद और उल्लास प्रिय है।

नेमिचन्द्र जैन के संपर्क और मित्रता ने जैसे इस भव्य किले-से व्यक्तित्व में डाइनामाइट लगा कर उसे ध्वस्त कर दिया। इस तरह यह ध्वंस कोई धीमे-धीमे होने वाला क्षरण न था।

फिर नए मुक्तिबोध का जन्म कैसा है? इस ध्वस्त किले में नए पेड़-पौधे, नई वनस्पतियां उग रही हैं। आवेगपूर्ण आनंद के गोपनीय कक्ष में नंगी उनके जंघाओं और विस्तृत वक्षवाला पीपल उग आया है। अंदर और बाहर, हर तरफ नए वृक्ष उग रहे हैं जिससे ध्वस्त किले में एक वन्यता और सौंदर्य भर गया है। एक नया मुक्तिबोध पनप रहा है।

'हरे वृक्ष' शीर्षक कविता इस पत्र के लिखे जाने के आस-पास की मालूम पड़ती है :

ये हरे वृक्ष

सहचर मित्रों-से हैं बाहें पसार

(ये आलिंगन-उत्सुक बाहें फैली हजार)

अपने मर्मर अंगार-राग

से मधु-आह्वान के स्फुलिंग

बिखरा देते हैं बार-बार.. डंस जाती है हत्तल इनकी यह हरी आग।

यह स्नेहार्मत्रण है। अपने को मिटा देने का, किसी विराट में विलीन कर देने का आह्वान नहीं है। खुद को नया करने करने के लिए आवश्यक है मित्रता, कोई ऐसा जिसमें आपको सुनने की धैर्योत्सुकता हो। जो आपको आत्म-समीक्षा की राह पर ले जाए, लेकिन वह होगा 'परसुएशन', न कि भर्त्सना। इसीलिए तो पेड़ से स्फुलिंग बिखर रहे हैं। यह आग दिल के भीतर तक पहुंच जाती है। इसमें जलन है लेकिन प्रकाश भी है। ध्यान दिया जाना चाहिए कि आग हरी है। नेमिजी को अपने पत्रों में मुक्तिबोध कहते हैं कि उनकी मित्रता ने अपनी स्थिति के प्रति उनके भीतर भयानक असंतोष पैदा कर दिया है। लेकिन जो आत्म-समीक्षा वे करते हैं, वह आत्म-भर्त्सना नहीं है। वे खुद को कोड़े लगाने वाली आत्म-पीड़ा के सुख में डूबे रहना नहीं चाहते। एक पत्र में वे नेमिचंद्र जैन को कहते हैं कि आत्म-प्रताड़ना को वे अच्छा नहीं मानते। वे न तो अपने प्रति और न ही जीवन के प्रति कोई शिकायती रवैया रखना चाहते हैं।

यह हरी आग जो 'प्राकृत औदार्य-स्निग्ध/पत्तों-पत्तों से' फूट रही है, प्राण की 'स्नेह-मुग्ध चेतना' को जाग्रत कर देती है। और उसके कारण 'इस हरी दीप्ति में भभक उठा मेरे उर का व्यापक अभाव'। अभाव छोटा नहीं है, वह व्यापक जीवन-जगत से अपने अलगाव के कारण पैदा हुआ है। यह जो अभाव, या 'मन के अंदर गहरी दरार' है, उसमें चेतना की स्नेह-मुग्धता के कारण 'उग आते कुसुम, पत्र, नव-नवल लता, तरु का प्रसार...'

धीरे-धीरे देह ही वृक्ष में परिणत हो जाती है : 'चरणों से शिख तक देह वृक्ष/हो गई कि ये अंतर्गामी तरु-मूल वन्य/मेरी जंघाओं से बढ़कर मेरे उर में डालें पसार, निज आलिंगन-उत्सुक बाहें फैला हजार/बन जाते आदिम स्नेह-हरित वेदना-भार।' वेदना का यह भार सुखकर है। हरा इस कविता का रंग है। क्षितिज के कोने में जो बादल हैं वे हरिताभ हो उठे हैं और फिर आगे आर्द्र अंतर-धरा के गर्भ से 'हरी ज्वाला-सा' अंकुर उठता है। स्निग्धता और शक्ति का विलक्षण मेल मुक्तिबोध की भाषा में है : मेरे अंतर के गहन कूल/पर दृढ़ अनुभव-सा बना एक, मैं अनुभव करता तरु का श्यामल तना एक।' जो अंकुर फूटा है वह सत्य के 'अप्रमेय नव-वृक्ष-बाल' सा बढ़ रहा है। अप्रमेय शब्द के प्रयोग को लक्ष्य किया जाना चाहिए। यह जो सत्य का अंकुर फूटा है, जिसके वृक्षत्व में संदेह नहीं है, लेकिन जिसकी बढ़त को मापा नहीं जा सकता। अप्रमेय का एक अर्थ अज्ञेय भी है। सत्य को पूरी तरह जान लेने और उसकी दिशा की भविष्यवाणी करने का दावा मार्क्सवाद की 'वैज्ञानिकता' ने किया था। यहां उसका आश्वासन नहीं है। वह शायद बहुत महत्त्वपूर्ण भी नहीं। असल बात है उसका धरती से जुड़ा रहना, 'अपनी धरती से/जुड़ा हुआ जंघा-मूलों में दुर्विजेय' चूंकि वह धरती से जुड़ा हुआ है इसलिए दुर्विजेय भी है।

स्नेह और शक्ति का संयोग या स्नेह के कारण ही शक्ति : 'सुरभित मादक रस-रक्त खींचता सर्व काल।' फिर इस विकसमान वृक्ष का चित्र देखिए : 'रस-गर्वपूर्ण/ विश्वास-पुष्ट/दृढ़ भुजस्कंध/ उन्मुक्त पत्र, डालें प्रलंब/ फैली अबंध।' जैसे एक पेड़ सिर्फ एक डाल नहीं है, वैसे ही मुक्तिबोध का यह वृक्ष जो कि वास्तविक वृक्ष नहीं, एक रूपक मात्र है, अनेक विशेषणों से ही परिभाषित हो पाता है। यह रस-गर्वपूर्ण, और उसी वजह से विश्वास-पुष्ट है, इसकी भुजाएं और कंधे मजबूत हैं और इसमें पर्याप्त फैलाव है, इसके पत्ते उन्मुक्त हैं, डालें बिना किसी रुकावट के फैल रही हैं।

व्यक्तित्व के विकास के इस रूपक में ताकत है। पहले नेमिचंद्र जैन को लिखे पत्र में व्यक्तित्व के किले के ध्वंस के बीच ही नई वनस्पतियों और वृक्षों के फलने फैलने के मनोरम दृश्य का वर्णन हम देख चुके हैं। एक मजबूत पेड़ के जड़ जमाने का दृश्य उसकी लंबी, पत्तों से लदी बेतरतीब डालों के बिना पूरा नहीं होता, 'इस हृदय-वृक्ष में छाई हैं/घन पत्राच्छादित उत्सुक शाखाएं हजार।' असल चीज वह शक्ति भी नहीं है। यह वृक्ष हृदय के भीतर से उगा है और वह स्नेहोत्सुक है, 'आलिंगन-अनुभव अपार/उस नग्न वृक्ष की हरित- शीत जंघाओं का/शाखाओं का, मर्मर ख का/ मानो उत्सुक हो उठा विश्व से स्नेह/आज फिर मेरे अंतर।' यह स्नेही हृदय है क्योंकि इसके पास अपार आलिंगन-अनुभव है।

इस छोटी-सी कविता को लगभग पूरा पढ़ने का कारण एक ही है। और वह है मुक्तिबोध की भाषा-योजना को समझना। इसमें विशेषणों का प्राचुर्य ध्यातव्य है : हरे वृक्ष, सहचर मित्र, सहस्र डालें, आलिंगन-उत्सुक बाहें, मधु-आह्वान, अंगार-राग मर्मर, हरी आग, औदार्य-स्निग्ध पत्ते, स्नेह-मुग्ध चेतना, हरी दीप्ति, व्यापक अभाव, गहरी दरार, नव-नवल लता, नया भार, गहन क्षितिज, नील शांत कोना, गहरे हरे मेघ, गहरी तृषा, अंतर्गामी वन्य तरु-मूल, स्नेह-हरित वेदना-भार, दृढ़ अनुभव, श्यामल तना, गंभीर गर्भांतराल, हरी ज्वाला, अप्रमेय नव-वृक्ष, मादक रस-रक्त, घन पत्राच्छादित, उत्सुक शाखाएं।

इस छोटी से कविता में हरे रंग की उपस्थिति पर भी ध्यान जाना चाहिए, अक्सर मुक्तिबोध को विषाद और क्षोभ के नीले और श्याम रंगों से जोड़कर देखा जाता रहा है। यहां हरे के साथ नीला भी जीवन के नएपन और उसके विस्तार को प्रतीकित करता है।

विशेषणों के इस बाहुल्य से, जिसकी चर्चा अभी की गई है, भाषा में अतिशयता और शब्द बाहुल्य को लेकर मुक्तिबोध में किसी भी प्रकार के संकोच के अभाव का पता चलता है। हेमिंग्वे ने कभी यह इच्छा जरूर जाहिर की थी कि बिना विशेषण के उपयोग के एक उपन्यास लिख सकें। लेकिन मुक्तिबोध भाषा के भरेपूरेपन में छिपी ऊर्जा का पूरा उपयोग करना चाहते थे। भाषा की मांसलता और उसकी ऐंद्रिकता की उपेक्षा मुक्तिबोध की राजनीति के विरुद्ध पड़ती। इस राजनीति की बात फिर कभी, अभी इतना ही कहना पर्याप्त है कि किसी भी कवि के दर्शन या उसकी राजनीति को भाषा के प्रति उसके व्यवहार से ही समझा जा सकता है। नेमिचंद्र जैन को एक बार उन्होंने लिखा कि वे अपनी कविता में शक्ति का प्रवाह चाहते हैं, इस वजह से भाषा में किसी भी तरह की तराश या सिंगार के पक्ष में नहीं हैं। नामवर सिंह ने भी उनकी भाषा की प्राणशक्ति की ओर ध्यान दिलाया है और उसे सृजनशीलता की अनिवार्य शर्त बताया है। उनके अनुसार 'मुक्तिबोध की प्राणवान काव्यभाषा उनके प्राणवान कथ्य की प्रति-ध्वनि है।' मुक्तिबोध के पाठकों के लिए इस 'प्राणवान' को समझना आवश्यक है।

प्रश्न फिर भी यह रहता है कि क्या भाषा के ऐसे प्रयोग से भावों की निश्चित और सटीक अभिव्यक्ति में कोई बाधा तो नहीं पड़ती? दूसरे, क्या यह भाषिक प्रयोग उनके भीतर किसी कलात्मक शक्ति के अभाव की पूर्ति का प्रयास तो नहीं? 1958 में नामवर सिंह ने ही 'आत्म-संघर्ष के कवि : गजानन माधव मुक्तिबोध' शीर्षक निबंध में यह शंका जाहिर की थी : 'मुझे ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध जितना बड़ा विषय लेते हैं उसके लिए उनके पास गहरी चिंतनशक्ति तो है परंतु उतनी ही समर्थ कलात्मक शक्ति नहीं है।'

नामवर सिंह जिस कलात्मक शक्ति की बात यहां कर रहे हैं, जाहिर है वह कुछ दूसरी तरह की कविताओं में उन्हें दीख पड़ती होगी। उन्होंने उस कलात्मकता को परिभाषित नहीं किया, जिसका अभाव वे मुक्तिबोध में पाते हैं। यह कसौटी किस तरह की कविताओं के आधार पर बनाई गई, यह विचारणीय होना चाहिए।

नेमिचंद्र जैन के नाम पत्र से ही जाहिर है कि मुक्तिबोध को इस आरोप का अहसास था, तभी तो वे यह कहते हैं कि वे इसकी परवाह नहीं करते कि उनकी भाषा कलात्मक है या नहीं।

मुक्तिबोध की काव्यभाषा में जो अतिरिक्तता है और अनिवार्यता के सिद्धांत का प्रतिकार है वह एक प्रकार से मनुष्यता या मानवीयता के प्रति उनके दृष्टिकोण की ही अभिव्यक्ति है। वह भाषा के भीतर की सारी संभावना को साकार कर लेने की आकांक्षा भी है। एक उत्पादन व्यवस्था है जो समाज के बहुलांश को मात्र अनिवार्य जीवन जीने की स्थितियां उपलब्ध कराती है। अतिरिक्तपन चंदेक की सुविधा है लेकिन मनुष्य कुछ नहीं अगर यह अतिरिक्तपन उससे छीन लिया जाए। वह मात्र अनिवार्य जीवन नहीं जीता, सिर्फ उतना ही करके संतुष्ट नहीं रह जाता जितना आवश्यक है। कहा जा सकता है अतिरिक्तता ही मनुष्यता का पारिभाषिक गुण है। यह उसकी अस्तित्वगत विवशता है। इस कारण ही वह कला या काव्य का सृजन करता है।

...

संयमित जीवन और संयमित भाषा में क्या कोई रिश्ता है? ऐसी भाषा जो ऐंद्रिक अनुभव के संपूर्ण विस्तार और उसकी गहराई को उसके पूरेपन में व्यक्त करने से झिझकती हो, क्या हमारी संकुचित जीवन-स्थिति का ही परिणाम तो नहीं? क्या हम अपने-आप को पूरी ईमानदारी के साथ,

खुलकर अभिव्यक्त कर पाते हैं, बिना इस भय के कि हमें कहीं गलत तो नहीं समझ लिया जाएगा? क्या हमारी भाषा मानवीय दूरियों की भाषा बन पाती है? मानवीय दूरी से तात्पर्य ऐसी दूरी से है जिसे संवाद के माध्यम से पाटा जा सकता है। अभी हम ऐसे परिवेश में रह रहे हैं, जिसमें हर कोई एक-दूसरे से कवच ओढ़कर या नकाब पहनकर मिलता है। ऐसी हालत में संवाद, या सच्चा संवाद संभव नहीं हो पाता।

अपने व्यक्तित्व का उतना ही हिस्सा उद्घाटित करना, जितना सुरक्षित है, आज के जीवन की बाध्यता है। मैं आपको ताड़ता रहता हूँ, हमेशा जो आपने कहा, उसके पीछे के आशय की खोज में लगा रहता हूँ क्योंकि मुझे यह मालूम है कि आपने अपने वास्तविक आशय को छिपा लिया है। अपने सारे राज दे देना बेवकूफी के अलावा कुछ नहीं। खुद को निष्कवच करके किसी को सौंप देना हिमाकत होगी। इस तरह पूरा समाज 'डिप्लोमैटिक ऑनक्लेव्स' का समूह भर रह जाता है।

संवाद में एक प्रकार की औपचारिकता है, इसलिए मुक्तिबोध की कविता उसकी जगह बातचीत का प्रस्ताव करती है। यह बातचीत कई बार आंतरिक आलाप भी बन जाती है या मुखर चिंतन। बातचीत में एक खुलापन है लेकिन एक खतरा भी है जब मैं अपने आप को आपके समक्ष अनावृत करता हूँ तो आपके भीतर भय भी पैदा करता हूँ। क्या मुझे भी खुद को आपके लिए खोलने देना होगा? क्या बिना इस अपेक्षा के आप मुझसे बात करने को प्रस्तुत हैं?

नेमिचंद्र जैन से पत्राचार कवि मुक्तिबोध को समझने के लिहाज से उपयोगी है।

इस पत्राचार में मुक्तिबोध एक कमजोर इंसान के रूप में उभरते हैं। उनका रोजमर्रापन अपनी साधारणता में प्रकट हो जाता है। उनके पत्रों से ही जाहिर होता है कि जिन्हें वे संबोधित हैं वह उतना प्रगल्भ नहीं है। अनेक पत्र अनुत्तरित भी हैं। फिर भी पत्रों का सिलसिला खत्म नहीं होता। कई बार ऐसा लगता है कि आपका सामना ऐसे व्यक्ति से है जो भावना-ही-भावना है, सरापा संवेदना है। ऐसा भी नहीं कि उसे इसका अहसास नहीं। वह अगर तीव्रता से अनुभव करता है तो अपने हर अनुभव की व्याख्या करने की क्षमता भी है उसके पास। फिर भी जैसे वह किसी और तरीके से सोच भी नहीं पाता। संवेदना के रास्ते ही सोच पाना मुक्तिबोध की विवशता है। और इसमें कवि का संपूर्ण शरीर, उसका स्नायुतंत्र सन्नद्ध रहता है।

अपने मित्र को खींचकर अपने मन के तहखाने में ले जाने में उसे कोई संकोच नहीं। अपने आपको निरावृत करते हुए उसे कोई भय नहीं। इस शिकायत के बाद भी कि उसका मित्र प्रायः खामोश रहता है, वह बात करना बंद नहीं कर देता। पत्रों में मुक्तिबोध हीनतर आर्थिक स्थिति में भी नजर आते हैं लेकिन इससे उनके स्वर में किसी प्रकार का संकोच नहीं झलकता।

मुक्तिबोध के पत्रों को उनकी कविताओं, कहानियों और निबंधों के साथ मिलाकर पढ़ें, तीनों में ही लिखना एक अविभाज्य क्रिया है। मुक्तिबोध ने तीन अलग रजिस्टर जैसे बनाए ही नहीं हैं इन भिन्न विधाओं के लिए। कब वे काव्यात्मक हैं, कब गद्यात्मक, कहना कठिन है। उनके लेखन में कौन-सा अंश ज्ञानप्रधान है, कौन सा अंश विचारप्रधान है और कौन-सा नहीं, बताना मुश्किल है।



मुक्तिबोध आस्था देते हैं मुक्ति नहीं

प्रियदर्शन

मुक्तिबोध और खासकर उनकी कविता 'अँधेरे में' पर लिखने की मुश्किलें कई हैं। कुछ का वास्ता मुक्तिबोध के अपने बेहद जटिल काव्य विन्यास से है तो कुछ का उनके मूल्यांकन की सतत चली आ रही कोशिशों से, जिनमें कुछ बहुत सरल हैं कुछ बहुत जटिल, कुछ बहुत साधारण हैं कुछ वाकई असाधारण। मुक्तिबोध के निधन के बाद उनके समकालीनों और समानधर्मा लेखकों ने जिस आत्मीयता, अधिकार और प्रामाणिकता से उन पर लिखा है, वह भी किसी नए लिखने वाले की एक मुश्किल है। जो सबसे बड़ी मुश्किल है, वह बीते पचास सालों का वह कालखंड है जिसमें हिंदी पट्टी अपने बहुत सारे ठहरावों के बावजूद इतनी बदल गई है कि मेरी तरह के लेखक को मुक्तिबोध बहुत दूर खड़े दिखाई पड़ते हैं। एक प्रातःस्मरणीय पुरखे की तरह उनका सम्मान आसान काम है, एक परंपरा के रूप में उनकी पहचान करना, उनसे रिश्ता-राब्ता जोड़ना मुश्किल है लेकिन इतनी सारी मुश्किलें हैं तो हम मुक्तिबोध को छोड़ देने का सबसे आसान काम क्यों नहीं करते? ऐसा तो नहीं है कि हमारी पीढ़ी ने अपने जीवन की सारी चुनौतियों का सामना किया है? उल्टे यह दिखाई पड़ता है कि सवालियों के बच निकलने की, बने-बनाए तैयार जवाबों में जा छुपने की, चालू जुमलेबाजी की गलियों से अपने लिए रास्ता बनाने की, एक पूरी शैली हमारे पास तैयार है और उस पर हम खूब अमल करते हैं। बल्कि चाहें तो इस रास्ते से मुक्तिबोध का सामना करते हुए भी दिख सकते हैं। बड़ी आसानी से उन समीक्षात्मक निष्कर्षों का सहारा लेते हुए जो मुक्तिबोध के अध्ययन के दौरान विकसित हुए हैं, हम कई जाने-पहचाने सूत्र बता सकते हैं- कि मुक्तिबोध बहुत गहरे अंतःसंघर्ष के कवि हैं, कि विवेक और वेदना उनके बीज शब्द हैं, कि उनमें हमारी सभ्यता के संकट झांकते हैं। सच तो यह है कि मुक्तिबोध पर बहुत कुछ इतना अच्छा भी लिखा गया है- उनके एक-एक शब्द और वाक्य को उद्धृत करते हुए उनकी ऐसी व्याख्याएं सुलभ हैं कि उन पर जैसे नए सिरे से लिखना कुछ पुराने प्रयत्नों को दुहराने के बराबर लग सकता है।

इन सबके बावजूद उन पर लिखने की इच्छा होती है तो इसलिए कि हम मुक्तिबोध को भले छोड़ना चाहें, मुक्तिबोध हमें नहीं छोड़ते। किसी घने जंगल सरीखा उनका बहुत उलझा-सुलझा-प्रीतिकर और भयंकर भी- उनका काव्य वितान हमें जैसे किसी जादू में बांध लेता है- अँधेरे में कोई ब्रह्मराक्षस जैसे हमारी आत्मा में उतर आता है, वह कभी लुभाता है, कभी डराता है, कभी हम उसका हाथ छुड़ाकर भागना चाहते हैं लेकिन अकसर कुछ सहमे हुए उसके पीछे-पीछे चलते जाते हैं- इस उम्मीद में कि इसी यातना भरी यात्रा में वह मोती है जिसमें कविता के होने का मर्म है, मनुष्यता के होने की नियति है। जाहिर है, यह थोपी हुई नहीं, उनकी कविता के भीतर से निकलती उम्मीद है।

यह अनायास नहीं है कि इस अँधेरे में से गुजरते हुए एक पाठक के रूप में हम जो महसूस करते हैं, 'भोगते' हैं, जिस प्रक्रिया से गुजरते हैं, एक लेखक के रूप में मुक्तिबोध कहीं ज्यादा निर्ममता और तीव्रता के साथ वही सब झेलते, भोगते हैं और उसी प्रक्रिया से गुजरते हैं। उनकी विडंबना इस मायने में कहीं ज्यादा गहरी और मारक है कि वे इस सबके रचयिता भी हैं- जिस कभी न पाई गई अभिव्यक्ति की चर्चा उनके काव्य के संदर्भ में बहुत रूढ़ ढंग से बार-बार होती है, वह मुक्तिबोध के सामने बार-बार रूप बदल कर आती है- कभी उनके समरूप की तरह, कभी उनके विलोम की तरह, कभी रक्तस्नाता, तो कभी 'चेहरे पर सुबहें खिलती हैं उसके।'

अचानक यहां मुक्तिबोध रचना की- यानी सृजन की- वह गिरह खोलते दिखाई पड़ते हैं जो होती हम सबके भीतर है, लेकिन उसे पाने की मुक्तिबोधीय तड़प हमारे भीतर नहीं होती। मुक्तिबोध के यहां सृजन किसी मौलिक कल्पना का सहज उन्मेष नहीं है, बल्कि वह एक दिए हुए पर्यावरण में, एक लगातार रूप बदलती प्रकृति के भीतर सुलभ अवयवों का अनुसंधान और उनका परिमार्जन है। कहना न होगा कि जिसे सृजन, निर्माण या उत्पादन कहते हैं- वह दरअसल, अर्थशास्त्र की ठोस भाषा में- इसी प्रक्रिया का नाम है- एक दी हुई वस्तु का रूप बदल कर उसे उपयोगी बनाना- लकड़ी से मेज बनाना, लुगदी से कागज बनाना और लोहे से सुई से लेकर तलवार तक बनाना।

लेकिन मुक्तिबोध बनाते क्या हैं? उनकी कविता में मिलने वाला बीहड़ यथार्थ कैसे आकार लेता है? क्या वे अनुभव नाम के लोहे में अपनी निजी वेदना और विवेक का रसायन घोलकर कविता नाम का हथियार तैयार करते हैं? क्या वे ऐसा कुछ तैयार करने की कोशिश करते भी दिखते हैं? जब हम इसे समझने के क्रम में उनकी कविता के कारखाने तक पहुंचते हैं तो पाते हैं कि यह किसी जलती हुई धमन भट्टी जैसा है जिसमें पसीने से लथपथ- लेकिन श्रम की आभा से दमकते हुए मुक्तिबोध, जैसे अपनी हड्डियों का लोहा गला रहे हैं। यहां आकर हम पाते हैं कि कारीगर-कारखाना और कृति एक हो गए हैं, कवि अपनी कविता का कच्चा माल भी है, उस पर पड़ने वाला लोहा भी, उस पर गिरने वाली आग भी। अचानक हमारे सामने एक ऐसी कविता है जो इस धमन भट्टी में लगातार रूप बदल रही है, लेकिन अनवरत जारी है- खत्म होने का नाम नहीं ले रही- क्योंकि वह जितनी कविता है, उससे कहीं ज्यादा अपने चारों तरफ पसरे हुए जीवन और जंगल की मार्मिक पहचान भी है।

शायद ज्यादातर बड़ी रचनाओं में यही होता है- कृति और कृतिकार एक हो जाते हैं लेकिन ज्यादातर लेखक जो चक्रव्यूह बनाते हैं, उससे निकलने का रास्ता भी जानते हैं- या कम से कम इतना जानते हैं कि वह सुरक्षित बिंदु कौन सा है जहां से वापस हो लिया जाए या खुद को बचाकर निकल लिया जाए। मुक्तिबोध बस यह काम नहीं करते। वे अपने रचे हुए चक्रव्यूह में जैसे घूमते, झुलसते रहते हैं- बल्कि उस चक्रव्यूह को और बड़ा करते जाते हैं ताकि बाहर की जो तपिश है, वेदना है, बाहर का जो युद्ध है, वह पूरी तरह कविता में चला आए। ऐसा नहीं कि मुक्तिबोध को निकलना नहीं आता था- न निकलने के जोखिम से भी मुक्तिबोध पूरी तरह परिचित थे- अपने पास बार-बार आती जो अभिव्यक्ति है, उसके सामने उनकी प्रतिक्रियाएं बताती हैं कि वे भय में भी होते हैं, संशय में भी होते हैं, लेकिन अंततः सबसे ज्यादा इस निश्चय में होते हैं कि इस तार-तार अभिव्यक्ति को ज्यों का त्यों पा लें, उसकी संपूर्णता में अर्जित कर लें।

‘अँधेरे में’ की शुरुआत से ही इस कोशिश का बहुत बहुत मार्मिक और मानवीय संघर्ष दिखता है। अंधकार, वेदना, रहस्य, भय- सब जैसे उनकी कविता के शुरू में ही अपने चरम पर हैं। इन सबको वे बिल्कुल मूर्त और ठोस ढंग से पकड़ने और व्यक्त करने की कोशिश करते हैं। इस कविता की जो दृश्य बहुलता है, उसे देखते हुए ही शायद प्रभाकर माचवे ने इसे कविता में गुणनिर्णय करार दिया था, लेकिन यह पेंटिंग नहीं, एक पूरी फिल्म है। मुक्तिबोध जैसे कविता के सेल्युलाइड पर एक ‘हॉरर फिल्म’ बना रहे हैं। कविता के फॉर्म को छोड़कर, उसे तोड़ कर वे जैसे अपने समय की- और आने वाले समयों की भी- एक विराट पटकथा लिख रहे हैं। इस पटकथा में जिंदगी के कमरों में अँधेरे कोई लगातार चक्कर लगा रहा है जिसकी आवाज भर सुनाई देती है, जिसका सिर्फ घूमना महसूस होता है। इस तिलिस्मी खोह में भीत से चूना गिरता है और एक चेहरा बन जाता है- नुकीली नाक और भव्य ललाट वाला (क्या यह खुद मुक्तिबोध हैं- या उनकी आत्मछवि?), इसके बाद शहर की पहाड़ी के पार का तालाब चला आता है, वहां भी अँधेरा है, लेकिन वृक्षों पर बिजलियां नाच रही हैं और इन्हीं के बीच किसी एक तिलिस्मी खोह का शिला द्वार खुलता है और वह ‘रक्तालोक स्नात पुरुष’ प्रगट होता है जिसका तेजोप्रभावमय ललाट देख कवि के अंग-अंग में एक थर-थर जाग उठती है लेकिन अंततः वह पाता है कि ‘वह रहस्यमय व्यक्ति/अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है /...मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव?’

मुक्तिबोध का यह कौन सा खेल है? या यह कैसी यातना है जिसे वे शब्दों में ढाल रहे हैं? यह फिल्मकार के अपनी फिल्म में, कृतिकार के अपनी कृति में दाखिल होने की विवशता है- जो शायद ‘हृदय में रिस रहे ज्ञान’ के इस तनाव से निकली है कि इस पटकथा, कविता या फिल्म के बाहर खड़े रहना उस प्रक्रिया को कुछ अधूरा छोड़ देना है जो अपनी परिपूर्णता में घटित हो रही है- उन प्रश्नों को भी, जिनके बिना जीवन और अभिव्यक्ति के अर्थ समझ में नहीं आते?

क्योंकि यहां अचानक दृश्य खत्म हो जाते हैं और प्रश्न शुरू हो जाते हैं-

वह फटे वस्त्र क्यों पहने हैं?

उसका स्वर्णमुख मैला क्यों?

वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया?

उसने कारावास दुख क्यों झेला?

उसकी इतनी भयानक स्थिति क्यों है?

रोटी उसे कौन पहुंचाता है?

कौन पानी देता है?

फिर भी उसके मुख पर स्मित क्यों है?

प्रचंड शक्तिमान क्यों दिखाई देता है?

मुक्तिबोध इन्हें गंभीर और खतरनाक प्रश्न बताते हैं, लेकिन इनके जवाब मिलें- इसके पहले अचानक कुछ और हो जाता है। कवि के मुताबिक ‘बाहर के गुंजान/जंगलों से आती हुई हवा ने/फूंक मार कर एकाएक मशाल ही बुझा दी.../कि मुझको यों अँधेरे में पकड़ कर/मौत की सजा दी।’

यह कौन सी मशाल है? किसे मौत की सजा दी गई है? यह कोई पीछे छूटा डर है जो कवि के भीतर इस तरह उभरता है या आने वाला अदेशा जो सवालों के तत्काल बाद उसके हिस्से की

रोशनी बुझा देता है?

मुक्तिबोध के संदर्भ में इन सवालों के जवाब आसान नहीं हैं। मेरी तरह के पाठक को जो अर्थ सबसे ज्यादा आकृष्ट करता है, वह यही कि मुक्तिबोध का दृष्टिबोध इतना प्रखर है कि वे न सिर्फ बहुत सारी उलझी हुई सच्चाइयों को पहचान लेते हैं, बल्कि यह भी देख लेते हैं कि इस पहचानने को लिख देना बहुत जोखिम भरा है- इतना कि उसके लिए किसी को अँधेरे में पकड़कर मौत की सजा दी जा सकती है।

इस पूरी कविता में यथार्थ, स्वप्न और फंतासी का यह उलझाव भरा जाल और भी बीहड़ रास्तों पर फैला दिखाई देता है- 'समझ न पाया कि चल रहा स्वप्न या/जागृति शुरू है। 'हिंदी कविता में अब बहुचर्चित हो चुका आधी रात का वह जुलूस, जिसमें जाने-पहचाने पत्रकार, सैनिक, कर्नल ब्रिगेडियर, जनरल, जगमगाते कवि, उद्योगपति, विचारक, मंत्री और कुख्यात हत्यारा डोमाजी उस्ताद तक शामिल हैं- मुक्तिबोध के इसी दृष्टिबोध का अनुपम साक्ष्य है जिसे उन्होंने साठ के उन शुरूआती दशकों में ही पहचान लिया था और तब भी वे जिसे पहचानने की सजा जानते थे- 'हाय-हाय! मैंने उन्हें देख लिया नंगा/इसकी मुझे और सजा मिलेगी।'

ऐसा लगता है, जैसे मुक्तिबोध भविष्य को देख रहे हैं। आधी रात का वह जुलूस हमारे समय में अब चौबीस घंटे चलता रहता है और वाकई उसमें वे सब लगातार मौजूद रहते हैं जिनका जिक्र मुक्तिबोध किसी अँधेरे में पचास साल पहले कर गए थे। यह हमारे समय का वह वृत्तांत है जिसे मुक्तिबोध जैसे पूरे ब्योरों के साथ दर्ज कर गए हैं। सच देखने की, सच बोलने की, सच के लिए खड़ा होना चाहने की सजाएं क्या हैं- इसका भी बयान है। जैसे मुक्तिबोध ने बिल्कुल अनुभव किया हो कि सत्ता जब थर्ड डिग्री की यातनाएं देती है तो वे कितनी अमानवीय होती हैं।

लेकिन स्वप्न, फंतासी और यथार्थ का यह खेल चलता रहता और मुक्तिबोध अपनी अभिव्यक्ति की तलाश में खोए अंतर्द्वंद्वों वाले कवि होते तो शायद 'अँधेरे में' इतनी बड़ी कविता नहीं होती। कविता बड़ी बारीकी से बदलती है। फिल्म बदलती है, (बकौल मुक्तिबोध, सीन बदलता है) और 'अरे भाई, मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा/मुझे डर लगता है ऊंचाइयों से; /बजने दो सांकल! /उठने दो अँधेरे में ध्वनियों के बुलबुले/ वह जन...वैसे ही/आप चला जाएगा आया था जैसे। / खड़े के अँधेरे में/मैं पड़ा रहूंगा पीड़ाएं समेटे।' जैसी अकेलेपन और वेधक बेचारीगी से गुजरने वाली कविता आखिरकार यह महसूस करती है, 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/उठाने ही होंगे। /तोड़ने होंगे ही मठ और गढ सब/पहुंचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार।'

हालांकि यह यात्रा इतनी सरल नहीं है। कवि भीषण भय और उत्कट उम्मीद के बीच लगातार जैसे एक तनी हुई नहीं, बल्कि वक्त के थपेड़ों से बार-बार हिलती हुई रस्सी पर चलने की कोशिश में है। इस कोशिश में वह कभी अपने सिद्धांतवादी और आदर्शवादी मन से पूछता है कि 'अब तक क्या किया? जीवन क्या जिया!!...दुखों के दागों को तमगे सा पहना, अपने ही ख्यालों में दिन रात रहना असंग बुद्धि व अकेले में सहना, जिंदगी निष्क्रिय बन गई तलघर, अब तक क्या किया? जीवन क्या जिया!!' 'अँधेरे में' के वक्र-जटिल शिल्प के बीच अचानक आया यह गीतात्मक अंतराल लेकिन देर तक नहीं टिकता, वह फौरन फिर से संशय, एक अदेशे में ढलता है- 'गलियों में अंधकार भयावह. .../ मानो मेरे ही कारण लग गया/मार्शल लॉ वह, मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया...

/निष्क्रिय संज्ञा किसी मार्शल लॉ की जिम्मेदार हो सकती है, यह वही कवि समझ और महसूस कर सकता है जिसे सत्ता-व्यवस्था और जनता के बीच के जटिल रिश्ते की सही और खरी पहचान हो।

‘जीवन क्या जिया’ की तरह की एक और टेक अँधेरे में आती है- ‘भागता मैं दम छोड़/ घूम गया कई मोड़’। जाहिर है, यह देखना-भागना-घूमना वह स्वानुभूत प्रक्रिया है जिसने कवि को उसका यथार्थ दिया है। उसके हिस्से यंत्रणाओं की स्मृतियों और दमन के अंदेशे हैं, वह बार-बार अपनी अभिव्यक्ति तक पहुंचता है। उसे पहचानता है, लेकिन उसे हासिल करने से डरता है- लेकिन अंततः वह सारे डरों के पार जाता है। खास बात ये है कि अब उसकी अभिव्यक्ति किसी तिलिस्मी खोह से, किसी रहस्यमय गुफा से नहीं आती, वह लोगों के बीच से निकलती है, वहीं घूमती है, उन्हीं के बीच कातर पड़ती है, रक्ताक्त होती है, जर्जर होती है लेकिन अंततः वहीं पूर्णता हासिल करती है। ‘परम अभिव्यक्ति/अविरत घूमती है जग में/पता नहीं, जाने कहां, जाने कहां/वह है।/इसलिए मैं हर गली में/और हर सड़क पर/झांक-झांक कर देखता हूं हर एक चेहरा/प्रत्येक गतिविधि,/ प्रत्येक चरित्र/व हर एक आत्मा का इतिहास,/हर एक देश, व राजनीतिक स्थिति और परिवेश/प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श, / विवेक प्रक्रिया, क्रियागत परिणति !! /खोजता हूं पहाड़.. पठार.. समुंद्र, /जहां मिल सके मुझे/मेरी वह खोई हुई/परम अभिव्यक्ति अनिवार/आत्मसंभवा।’

यह अँधेरे का अंत है। लेकिन इतना आसान नहीं है। इस अभिव्यक्ति को पहचानना पड़ता है। उसे खोजना पड़ता है, बार-बार साधना पड़ता है। वह मिल जाती है, वह खतरे में पड़ती है, जब मिल जाती है तो फिर सांवली हवाओं में काल टहलता है। वह ‘स्वानुभूत आदर्श’ है, यानी किताबी नहीं। महत्त्वपूर्ण बस इतना है कि वह अनिवार्य और आत्मसंभवा है।

हालांकि मुक्तिबोध के ऐसे सरल भाष्य उस विराट अँधेरे की विडंबनामूलक विभीषिका को खत्म कर देते हैं जो इस कविता में पर्यावरण की तरह छाया हुआ है। मुक्तिबोध आस्था तो देते हैं, लेकिन मुक्ति नहीं देते। उनकी कविता शब्द-शब्द पढ़ने के लिए नहीं है। वह उस मनोवेग को पहचानने के लिए है जो सत्ता में निहित अन्याय और हिंसा के अंदेशे के बीच संवेदनात्मक तीव्रता से भरे किसी कवि के भीतर पैदा हो सकता है। ‘अँधेरे में’ की महानता इस तथ्य में भी निहित है कि व्यक्ति से समाज तक, निजी से सामूहिक तक, अंतर्भूत वेदना से बहिर्जगत के विवेक तक आवाजाही करते हुए भी उसकी ऊर्जस्वित तीव्रता कभी कम नहीं होती। दूसरी बात यह कि यह पूरी कविता जैसे लगातार बन रही है। जो ‘हॉरर फिल्म’ मुक्तिबोध बना रहे हैं, उसमें बनती-मिटती आकृतियों और आवाजों का एक पूरा जंगल है जो ‘अँधेरे में’ को एक अलग आयाम देता है।

दरअसल यहां यह भी खयाल आता है कि ‘अँधेरे में’ को मुक्तिबोध की पूरी काव्य यात्रा में अलग से नहीं पढ़ा जा सकता। विश्वनाथ त्रिपाठी ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के हवाले से लिखा है कि मुक्तिबोध जीवन भर एक ही कविता ‘अँधेरे में’ लिखते रहे। यह पूरा सच भले न हो, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इस कविता को पढ़ते हुए मुक्तिबोध की कई और कविताओं की बेसाख्ता याद आती है। ‘चांद का मुंह टेढ़ा है’, ‘भूल गलती’, या ऐसी अन्य कई कविताओं का अंतिम पाठ बनाती यह कविता फिर भी जैसे अंतिम पाठ नहीं लगती। इस लिहाज से लगता है कि ‘असाध्य वीणा’ भले अज्ञेय ने लिखी हो, लेकिन उसे मुक्तिबोध साध रहे थे- बेशक, किसी राजा के आग्रह पर पधारें प्रियंवद गुफागेह केशकंबली की तरह नहीं, बल्कि अपनी गुफा के अँधेरे में बैठे एक तपस्वी की तरह।

और जो वह साध गए, वह एक बीहड़ राग है जो हमारी आत्माओं के अँधेरे में अब भी उतरता है और बीच-बीच में ऐसी चमक पैदा करता है जिसकी रोशनी में हम अपनी ही खोई हुई अभिव्यक्ति का सुराग पाते हैं।

इस बात का बहुत बार जिक्र किया गया है कि 'अँधेरे में' में टॉलस्टाय भी आते हैं और गांधी भी। वे अनायास चले आते हैं या इसलिए भी कि कहीं मुक्तिबोध के अवचेतन में अपनी अभिव्यक्ति, अपने विचार के लिए ये दो मॉडल रहे होंगे? कम से कम मेरे लिए यह बताना मुश्किल है लेकिन दरअसल मुक्तिबोध अपने काल से बंधे हुए कवि नहीं हैं। वे आसान राजनीतिक-सामाजिक या मानवीय व्याख्याओं के लिए भी नहीं हैं। उनका जटिल काव्य-वितान उन्हें आम लोकप्रिय कवि भी नहीं रहने देता। हालांकि इसके बावजूद यह बात बार-बार कही गई है और शायद बहुत दूर तक सच भी है कि अपने निधन के इन पचास वर्षों में मुक्तिबोध कभी काव्य-परिदृश्य से धूमिल नहीं हुए, बल्कि उनकी कीर्ति कुछ बढ़ी ही है। फिर भी मुक्तिबोध को लोकप्रियता की तलाश न थी, न तब मिली होगी और न आगे मिलेगी लेकिन लोकप्रियता और प्रासंगिकता दो अलग-अलग चीजें हैं। लोकप्रिय होने की परवाह न करने की वजह से ही मुक्तिबोध हमारे इस समय में भी- जब पूरी हिंदी पट्टी की चूल्हे हिली हुई हैं और मध्यवर्ग उपभोक्ता वर्ग में बदल चुका है, पठन-पाठन का अभ्यास छूट रहा है, सरलीकरणों और सतहीपन का बोलबाला है- इस तरह प्रासंगिक और जरूरी लगते हैं कि हम उनसे आंख मिलाने से भी बचते हैं, और फिर उन्हें देखने-पढ़ने भी लगते हैं।

दरअसल मुक्तिबोध जितने रहस्यमय और जादुई दिखते हैं, उतने ही ठोस यथार्थवादी हैं- उनकी कविताओं के गझिन शिल्प के झाड़-झंखाड़ और फूल-पत्ते हटाकर देखें तो जैसे अस्तित्व की असह्य वेदना के बीच मुक्ति के स्वप्न में विचरती और बिलकुल सूक्तियों में ढलती पंक्तियां मिलती हैं। उनका फलक बहुत विस्तृत है। कभी-कभी वे प्रसाद और निराला की तरह उदात्त हो उठते हैं, अकसर काफ़का की तरह संशयशील, कभी शमशेर जैसे सुंदर और अकसर अपने बीहड़ वितान में ऐसे महाकाव्यात्मक, जिनको ठीक से पढ़ने-समझने के लिए बार-बार उनकी कविता में दाखिल होना पड़ता है। कमाल यह है कि उनका यथार्थ-बोध कई स्तरों पर इतना स्पष्ट और खरा है कि वह हमें अपनी समकालीनता को समझने के सबसे सूक्ष्म उपकरण सुलभ कराता है और कई स्तरों पर इतना मानवीय कि वह हमें एक सुकोमल-सार्वकालिक अनुभव-बोध के बीच छोड़ जाता है।



अ-लगाव से मुक्ति की कविता : अँधेरे में

सुधीर रंजन सिंह

में कहता हूँ मैं आदमी हूँ, लेकिन वह अन्य कौन है जो मुझमें छुपा है?

-अर्थर मेकन

संसार क्या है? मुझसे बाहर या मेरे अंदर? न एक न दूसरा, और दोनों एक ही साथ।

-मारिस-जेन लेफबवे

तारसप्तक के वक्तव्य में मुक्तिबोध ने लिखा है, 'मेरी हर विकास-स्थिति में मुझे घोर असंतोष रहा है।' यह सच है। मुक्तिबोध में आश्वास-भाव कम था। दूसरे शब्दों में, यानी उलटकर कहें, वे हमेशा दुरुस्त होने की चेतना से आविष्ट रहे। 'अँधेरे में' कविता में वह चेतना एक मुकाम पाती है। यह कविता दुरुस्त होने की चेष्टा की एक बड़ी मंजिल है। ये पंक्तियाँ, इस दृष्टि से, आकस्मिक नहीं हैं :

खोजता हूँ पठार... पहाड़... समुंदर
जहां मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-संभवा।

परम अभिव्यक्ति कुछ होती नहीं है, लेकिन उसकी चेतना जरूर होती है। नीत्शे अथवा ऑस्कर वाइल्ड के समान यह चेतना मुक्तिबोध में थी, जो अँधेरे में कविता में उग्रतर रूप में दिखाई पड़ती है।

मुक्तिबोध ने चाँद का मुँह टेढ़ा है संकलन की तैयारी से पहले 'अँधेरे में' का शीर्षक 'आशंका के द्वीप अँधेरे में' तय किया था। कल्पना में यह कविता इसी शीर्षक से छपी थी। श्रीकांत वर्मा के कथनानुसार मुक्तिबोध का मानना था कि यह शीर्षक उन्होंने 'एक विशेष मनःस्थिति के प्रवाह' में दिया था। वह मनःस्थिति क्या थी? दिसंबर 1963 में मुक्तिबोध ने एक चिट्ठी आग्नेशका सोनी को लिखी थी उसमें इस कविता की चर्चा है। लिखते हैं, 'उसमें ('अँधेरे में' में) एक आशंका है, अँधेरी आशंका का वर्णन है- कहीं हमारे देश में ऐसा-वैसा न हो।' यह आशंका आकस्मिक और निर्मूल नहीं थी। छठवें दशक के अंत के आसपास कुछ ऐसा वातावरण बन गया था, जिसे लेकर मुक्तिबोध को 'भूल-गलती' कविता में कहना पड़ा- 'कोई सोचता इस वक्त/ छाए जा रहे हैं सल्लनत पर घने साए स्याह'। यही 'चित्त' (साइक) 'अँधेरे में' कविता में काम कर रहा होता है : 'कोई सोचता इस वक्त'। सोचने का काम बुद्धिजीवियों का होता है। कविता का मनोविज्ञान बौद्धिक वर्ग की विवादास्पद भूमिका को देखकर तैयार हुआ है। कवि चूँकि खुद इस वर्ग से है, इसलिए वह अधिक

विचलित है। कविता का काव्यनायक उसके विचलन की सृष्टि है। काव्यनायक के मनोवेगों की सृष्टि है 'रहस्यमय व्यक्ति', जो लगभग अंत तक परम अभिव्यक्ति और गुरु के रूप में दिखाई पड़ता है। वह आदर्श है।

'अंधेरे में' का वह हिस्सा महत्वपूर्ण है जिसे 'मृत्यु-दल की शोभा-यात्रा या विचित्र प्रोसेशन से इंगित किया गया है। वह जनक्रांति को दबाए जाने के उद्देश्य से लगाए जाने वाले मार्शल लॉ का गुप्त सैन्य अभियान है। प्रोसेशन के उस दृश्य से इस आशंका को बल मिलता है कि स्वतंत्रता का हनन स्वतंत्रता के प्रवक्ताओं के विश्वासघात से होने वाला है। कवि अब तक जिन्हें पहचानता आया है प्रसिद्ध पत्रकार, विचारक और कवि आदि के रूप में, उनका कायांतरण मंत्रियों, उद्योगपतियों और कुख्यात हत्यारा डोमाजी उस्ताद के साथ चलते हुए कर्नल, बिग्रेडियर, जनरल और मार्शल के रूप में हो जाता है। काव्यनायक का गुनाह है कि उसने अनजाने में उन्हें उनकी असली औकात में देख लिया है और उन्होंने उसे देखते देख लिया है। उसे अपनी इस गलती की सजा मिलने की आशंका है।

मार्शल लॉ जनक्रांति को दबाने के उद्देश्य से है और कारण हम और आप भी हैं। हमारी निष्क्रियता की उसमें भूमिका है।

गलियों में अंधकार भयावह...

मानो मेरे कारण ही लग गया

मार्शल लॉ वह

मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया

मानो मेरे कारण ही दुर्घटना

हुई यह घटना।

यह आत्मालोचन एक सजग व्यक्तित्व के आत्मसंघर्ष की उपलब्धि है। यह काम 'ब्रह्मराक्षस' का काव्यनायक नहीं करता, 'अंधेरे में' का काव्यनायक करता है। आत्मालोचन का अवकाश नहीं रखा जाता तो यह एक तरह के मसीही अंदाज की कविता होती। मसीही अंदाज के बावजूद हरावल संभावनाओं से रहित! जिसे कला का हरावल- अवांगार्द- आंदोलन कहा जाता है, उसमें रहनुमाई की तीव्र वैचारिक उत्तेजना देखी गई, लेकिन आत्मालोचन की चेतना के साथ। वस्तुतः वूजुआ समाज अनिवार्य रूप से उन परिस्थितियों को पैदा करता है, जिसमें मनुष्य का मन विभाजित होने के लिए बाध्य होता है। एक मन वह जिसके भीतर विद्रोही व्यक्तित्व का विकास होता है और दूसरा वह जिसमें कमजोरियां और निष्क्रियताएं घर करती हैं। पहले मन के समर्थन में इस दूसरे मन को बार-बार समझाने की जरूरत होती है। यही काम 'अंधेरे में' का कवि एक सिरफिरे पागल के गीत और काव्यनायक की आत्मालोचन के जरिए करता है।

आत्मालोचन साहस की बात है, जिसे दुनियादारी की दृष्टि से सिरफिरा होना समझा जाता है। बहुत कम लोग होते हैं जो आत्मसंबोधन में यह कहने का साहस रखते हैं-

अब तक क्या किया,

जीवन क्या जिया

ज्यादा लिया, और दिया बहुत-बहुत कम

मर गया देश, अरे, जीवित रह गए तुम!!

आत्मालोचन एक साहस का काम है। उसकी तीव्रता को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से मुक्तिबोध ने एक पागल चरित्र की उद्भावना की है। इसे रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध की मनःस्थिति से जोड़कर उनमें विक्षेप की संभावना खोजने का प्रयत्न किया है। इस विक्षेप को वे यथार्थ से आत्मरक्षा बताते हैं। यह ठीक नहीं है। अपने को दूसरे के रूप में उत्पन्न करना दूसरा हो जाना नहीं होता है। फैंटेसी में एक मनुष्य अपने को विभिन्न रूपों में उत्पन्न करता है; वह उसका यथार्थ-रूप नहीं होता। सिरफिरे पागल की भूमिका यह थी कि उसकी प्रेरणा से काव्यनायक आत्मालोचन का संस्कार ग्रहण करे। उसने यह किया और आगे बढ़ गया।

रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद के जिस फ्रेम में अपने चिंतन को विकसित किया है, उसमें उनकी आलोचना अस्वाभाविक नहीं है। वस्तुतः द्वंद्वात्मक चिंतन के बावजूद मुख्यधारा के मार्क्सवादी लेखक आत्मालोचन के दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करते। वे आत्मालोचन को या तो ईसाइयत की अंतर्वस्तु मानते हैं या अस्तित्ववादी चिंतन। व्यावहारिक स्तर पर भी 'पार्टी लाइन' के अनुरूप होने के दबाव ने आत्मालोचन के अवसर को कम किया और इस तरह इसे मार्क्सवाद की सैद्धांतिक अंतर्वस्तु से बाहर की चीज मान लिया गया। लेकिन यह स्थिति मार्क्स के चिंतन से पैदा नहीं होती है। मार्क्स स्वयं, जैसा कि 'गुंडरिस' में संकेत मिलता है, 'एकपक्षीय ग्रहण' के विरोधी थे और आत्मालोचन को आवश्यक मानते थे।

'अँधेरे में' कविता में घोर अनहोनी की आशंका है, और गहरा भय-बोध है। आतंकित करने वाली परिस्थितियाँ निर्मित हो रही हैं, इसे अनुभूत करवाने के लिए काव्यनायक से एक प्रदीर्घ भय-यात्रा करवाई जाती है। लगभग बीस पृष्ठों में काव्यनायक दम छोड़ भागता दिखाई पड़ता है। जब भी कोई नई मुलाकात होती है, कोई नया दृश्य दिखाई पड़ता है, कोई विचित्र घटना घटती है, वह उसे समझने की चेष्टा करता है और तुरंत भागने के लिए विवश होता है। चार जगहों पर एक ही पंक्ति की आवृत्ति होती है- 'भागता मैं दम छोड़/ घूम गया कई मोड़।' जब-जब ये पंक्ति आती है, कविता में भी एक मोड़ आता है। काव्यनायक का भागमभाग रुकता है सकर्मकता की इस चेतना के साथ :

प्रत्येक स्थान पर लगा हूँ मैं काम में
प्रत्येक चौराहे, दुराहे व राहों के मोड़ पर
सड़क पर खड़ा हूँ
मानता हूँ, मानता हूँ, मानवता अड़ा हूँ!!

लंबी भय-यात्रा के बाद 'मानवता अड़ा हूँ' जैसी पंक्ति में आत्मविश्वास का अर्जन निराला की 'राम की शक्तिपूजा' का स्मरण दिलाता है। 'राम की शक्तिपूजा' के प्रारंभ में भी विचलित कर देने वाला भयबोध है। कविता समाप्त होती है शक्ति-अर्जन से।

वस्तुतः आधुनिक साहित्य का जन्म ही आतंकजन्य परिस्थितियों और भय के अनुभव के भीतर हुआ है; लेकिन इसमें कमजोर करने वाले अनुभवों पर विजय की इच्छा उतनी ही सघनता से शामिल है। 'अँधेरे में' परिस्थितियों के विरुद्ध इच्छा-शक्ति के विकास की कविता है। इच्छा-शक्ति के आगे आशंकाएं छोटी पड़ जाती हैं। इसलिए हमारी समझ से ठीक ही किया मुक्तिबोध ने कविता के शीर्षक से 'आशंका के द्वीप' पद को हटाकर। स्वयं 'अँधेरे में' पदरचना अपने आगे बिंदु-रेखा (डाट लाइन)

की गुंजाइश छोड़ रखती है। उस बिंदु रेखा में कविता की उन अंतिम पंक्तियों को पढ़ते हुए, जिन्हें हमने शुरू में उद्धृत किया है, हम उजाले की रेखा का प्रारंभ देख सकते हैं- 'खोजता हूं पठार... पहाड़.. समुंद्र...'

नामवर सिंह ने इसे उद्धृत करते हुए लिखा है, 'अँधेरे में' कविता की ये पंक्तियां उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मनुष्य की सबसे ज्वलंत समस्या है। रामविलास शर्मा ने इसका खंडन करते हुए इसे 'व्यक्तिवादी-अस्तित्ववादी' अर्थ से बद्ध करने का कार्य किया है। अस्मिता की खोज विभाजित व्यक्तित्व अथवा आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व की समस्या है। इस समस्या का 'प्रमुख आलंबन निम्न मध्यवर्ग है (पद नामवर सिंह का है और इस पर जोर रामविलास शर्मा का है)। 'अँधेरे में' में मजदूर वर्ग की समस्या नहीं है, इसलिए रामविलास शर्मा इसे ज्वलंत समस्या की कविता नहीं मानते।

डॉ. रामविलास शर्मा व्यक्ति को केवल वर्ग-बद्ध व्यक्ति के रूप में देखते हैं। वस्तुतः व्यक्ति की धारणा को लेकर मार्क्सवादी सिद्धांत में एक बड़ी 'ऐतिहासिक रिक्ति' दिखाई पड़ती है। व्यक्ति जिस विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति में निर्मित होता है, उसे समझने में वर्ग-सिद्धांत पर अटल रहना एक बड़ी बाधा है। इसे अनुभव करते हुए सार्त्र ने लिखा है, 'मार्क्सवाद उस किसी भी मध्यस्थता की श्रेणी के अभाव से ग्रस्त है जो प्रदत्त समाज के भीतर प्रदत्त ऐतिहासिक क्षण में व्यक्ति के उत्पन्न होने और उसके भीतर वर्ग उत्पन्न होने की प्रक्रिया को पकड़ने का मौका देती है।' व्यक्ति की पूरी आयु में केवल उसकी वयस्कता और वृद्धावस्था का भाग शामिल नहीं होता, बल्कि उसका वह बचपन भी दर्ज होता है जिसकी उसके व्यक्तित्व और चेतना के विकास में अहम भूमिका होती है जबकि आज के मार्क्सवादी, सार्त्र ने कटाक्ष करते हुए लिखा है, केवल वयस्कों से संबंध रखते हैं। उनका अध्ययन भी इस रूप में करते हैं जैसे कोई विश्वास करता होगा कि हम अपने प्रथम वेतन की प्राप्ति के साथ जन्म लेते हैं।

मुक्तिबोध की कविता में शैशव-स्मृति और उसके गहरे संस्कार दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः शैशव-कोष के अभाव में उत्कृष्ट फैंटेसी का सृजन संभव नहीं है। फ्रायडीय सिद्धांत से यह बहुत स्पष्ट है कि सभी स्वप्न-इच्छाएं किसी-न-किसी प्रकार के अवचेतन से संबंध रखती हैं और अवचेतन स्वयं शैशवीय मानसिक जीवन है। यहां मुझे मुक्तिबोध की 'एक अंतर्कथा' कविता याद आ रही है जिसमें मां परंपरा-निर्मिति के हित में जिंदगी के कचरे में भी ज्ञानात्मक संवेदन खोजती है और उसका भार कवि के सिर पर रखती है। वही भार 'अँधेरे में' के काव्यनायक के कंधों पर दिखाई पड़ता है।

रहस्यमय व्यक्ति सर्वहारा-चेतना का प्रतीक है। इसका उल्लेख-योग्य संकेत नंदकिशोर नवल की आलोचना में दिखाई पड़ता है। नवल उन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं जिनमें रहस्यमय पुरुष के फटेहाल रूप का वर्णन है। दुर्भाग्य से वह चांद का मुंह टेढ़ा है संकलन में छपी कविता में से गायब है।

किंतु, वह फटे हुए वस्त्र क्यों पहने है?

उसका स्वर्ण-मुख मैला क्यों?

वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया?

उसने कारावास का दुख झेला क्यों?

उसकी इतनी भयानक स्थिति क्यों है?
रोटी उसे कौन पहुंचाता है?
कौन पानी देता है?
फिर भी, उसके मुख पर स्मित क्यों है?
प्रचंड शक्तिमान क्यों दिखाई देता है?

ये केवल नौ पंक्तियां नहीं, नौ गंभीर और खतरनाक प्रश्न हैं।

रहस्यमय व्यक्ति सर्वहारा-चेतना का प्रतीक है, इसे दूसरे उदाहरण से भी समझा जा सकता है। जब काव्यनायक को अनुभव होता है- 'मेरे इस कमरे में आकाश उतरा/ मन यह गगन की वायु में सिहरा', ठीक उसी समय रहस्यमय पुरुष 'गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में' दिखाई पड़ता है : 'वह दिखा, वह दिखा/ फिर खो गया किसी जन-यूथ में...।'

नंदकिशोर नवल का संकेत महत्त्वपूर्ण है। मुश्किल यह है कि वे अपनी आलोचना को खड़ा तो करते हैं मुक्तिबोध की फैंटेसी में निहित यथार्थ-बोध के विश्लेषण के उद्देश्य से, किंतु रामविलास शर्मा की आलोचना-पद्धति से अपने को मुक्त नहीं कर पाते। वे एक में केवल एक देखते हैं; यह नहीं देखते कि एक में एक से अधिक का अस्तित्व संभव है। वे ठीक से नहीं देख पाते कि 'रक्तलोकस्नात पुरुष' में कवि का निज और उसकी अस्मिता भी शामिल है।

कवि, काव्यनायक और रहस्यमय पुरुष, तीन होकर भी एक हैं। इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि एक (कवि) में दूसरा (काव्यनायक) है। दूसरे का तीसरे से साक्षात्कार होता है- रहस्यमय व्यक्ति से साक्षात्कार। यह तीसरा किसी चौथे (सर्वहारा-चेतना) का प्रतीक है तो दूसरे (काव्यनायक) के रूप में पहले (यानी कवि) की अस्मिता की प्रतिमा है। कवि की अस्मिता अभिव्यक्ति से जुड़ी हुई है और यह अभिव्यक्ति ही उसका गुरु है। प्रायः हर कवि अपनी अभिव्यक्ति का शिष्य होता है। सृजनहार अपने सृजन की गुरुता को स्वीकार करता है। बोर्खेज की कहानी 'अगस्त 25, 1983' में एक अन्य बोर्खेज से साक्षात्कार करते हुए कहते हैं, 'देर-सबेर हर लेखक अपना सबसे कम बुद्धिमान शिष्य बनता है।'

नामवर सिंह ने रामविलास शर्मा की इस धारणा के जबाब में कि 'अँधेरे में' के काव्यनायक का व्यक्तित्व विभाजित है, मार्क्स के अ-लगाव और रैकरण संबंधी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। यह स्वीकार करते हुए कि मुक्तिबोध की कविता में 'अलगाव का मुख्य आलंबन निम्न मध्यवर्ग है', वे स्पष्ट करना चाहते हैं कि यह समस्या सभी वर्गों के साथ है और मजदूर वर्ग के साथ तो जबर्दस्त है। प्रश्न है कि मजदूर वर्ग में निहित 'अ-लगाव' का 'अँधेरे में' कविता से क्या संबंध है? क्या इसमें 'अ-लगाव' से मुक्ति भी है?

'अँधेरे में' में 'अ-लगाव' है, लेकिन उससे अधिक 'अलगाव' से मुक्ति की चेष्टा है। मार्क्स की धारणा के अनुसार मजदूर जिस पूंजी का उत्पादन करता है वही पूंजी मजदूर का उत्पादन करती है। मजदूर मनुष्य रूप में पूंजी और माल की अभिव्यक्ति है- यानी पूंजी और वस्तु की तरह अस्तित्व में है। इस अमानवीय अस्तित्व को 'अँधेरे में' कविता में तोड़ा गया है, 'आत्मा की प्रतिमा' तैयार की गई है :

वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है
पूर्ण अवस्था वह
निज-संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिभावों की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह,
आत्मा की प्रतिमा ।

‘निज-संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिभावों’ की अभिव्यक्ति ही तो अ-लगाव-मुक्त कार्य है, जिसे स्वान्तःसुखाय सृजन के रूप में एक कलाकार अपनाता है और यही लक्ष्य मजदूर वर्ग का है। ‘अँधेरे में’ विद्रोह (रिबेल) की कविता है। इसमें वर्ग संघर्ष का विचार है, किंतु इसकी अंतर्वस्तु सत्ता-वर्चस्व तक सीमित नहीं है। ‘हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव’- यह विद्रोह की चेतना है। विद्रोह का क्रांति के समान एक निर्धारित लक्ष्य नहीं होता, वह एक अंतहीन प्रक्रिया है, जिसमें यथार्थ के परिष्कार के संकेत होते हैं। ‘अँधेरे में’ विद्रोह के गहरे चिंतन की कविता है।

(20 सितंबर 2014 को यह स्मरण मुक्तिबोध समारोह : राजनांदगांव में पढ़ा गया।)



अँधेरे में : एक अनुशासनहीन फैंटेसी

आशुतोष भारद्वाज

क्या कोई रचना अपनी फॉर्म की बंधक हो सकती है? पहली दृष्टि में यह प्रश्न अपर्याप्त या शायद अनुपयुक्त भी लगेगा। आखिर यह माना जाता रहा है कि कृति अपनी फॉर्म से भिन्न नहीं होती, उसे उसके रूप से विलगित कर नहीं देखा जा सकता लेकिन अगर हम कृति और रूप को क्रमशः अनुभव व अभिव्यक्ति से प्रतिस्थापित कर दें और कहें कि चूँकि अनुभव और अभिव्यक्ति के मध्य एक अनिवार्य अंतराल है जो मनुष्य की समझ और संयम से निर्मित होता है, जिसके फलस्वरूप उसका अनुभव एक विशिष्ट स्वरूप में अभिव्यक्त होता है, इसलिए जिस क्षण मनुष्य का संयम दरक जाएगा, उसका अनुभव अविकसित या अतिरेकपूर्ण अभिव्यक्ति में कायांतरित होगा तो इस आलोक में अब पहला प्रश्न वैध दिखलाई देगा।

‘अँधेरे में’ कविता मुक्तिबोध के एक अत्यंत संश्लिष्ट अनुभव की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का स्वरूप फैंटेसी में कही गई लंबी कविता है लेकिन यह संश्लिष्ट अनुभव क्या कवि द्वारा चुनी गई फैंटेसी की फॉर्म की गिरफ्त में है? अभिव्यक्ति की सार्थकता सिर्फ इसमें निहित है कि वह अनुभव को सर्वोत्तम तरीके से व्यक्त करती है। मैं प्रस्तावित करना चाहूँगा कि मुक्तिबोध ने फैंटेसी-बद्ध लंबी कविता का जो स्वरूप चुना वह उनके अनुभव की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति नहीं थी। खामी इस फॉर्म में थी या वे इसे साध नहीं पाए, यह दूसरा प्रश्न है।

लेकिन उससे पहले कविता-पूर्व कवि के अनुभव और कविता के रूप का प्रश्न।

यथार्थ की जटिलता और संश्लिष्टता को समझ मुक्तिबोध फैंटेसी की ओर मुड़ते हैं, स्वप्न और कल्पनाओं का एक वृहद् मकड़जाल बुनते हैं। कविता का यह स्वरूप तत्कालीन आधुनिक हिंदी कविता और अब तलक भी अन्यत्र कम दीखता है। कवि को बोध है कि फैंटेसी की अपनी चुनौती है, सीमाएं हैं जिन्हें कवि अपने पोएटिक मैनिफेस्टो ‘तीसरा क्षण’ में बखूबी निर्धारित कर देता है। कवि ठीक ही कहता है कि पहले क्षण में घटित हुए जीवन का उत्कट अनुभव दूसरे क्षण में अपने तंतुओं से अलग हो एक फैंटेसी का रूप ले लेता है। तीसरे यानी अभिव्यक्ति के क्षण में कवि अत्यंत सतर्कता बरतने की चेतावनी देता है। फैंटेसी को अनुभव की व्यक्तिगत पीड़ा से पृथक होने को आवश्यक मानता है और चूँकि फैंटेसी के मर्म को शब्द-बद्ध करते समय अनेक अनुभव, चित्र और स्वर तैर आते हैं इसलिए फैंटेसी के उद्देश्य और दिशा के निर्वाह के लिए कलाकार को भाव-संपादन करना पड़ता है।

बतौर विचारक मुक्तिबोध एकदम स्पष्ट हैं। उनकी प्रस्तावना संपुष्ट है कि चूँकि स्वप्न अपने स्वभाव में बिखरा हुआ होता है इसलिए कलाकार को निर्मम हो अपनी रचना से वे सभी दृश्य, स्वर

हटाने होंगे जो कविता के ओज और मर्म को धूमिल करते हैं। दुर्भाग्यवश, अपने इस मेनिफेस्टो को मुक्तिबोध खुद अपनी ही प्रतिनिधि कविता में रूपांतरित नहीं कर पाए। इस कविता में कई ऐसे अतिरेकपूर्ण स्थल हैं जो उसकी प्रबलता, प्रवाह और प्रभाव को उथला करते हैं, उसकी धार को कुंठित करते हैं।

इस अतिरेक का केंद्र बिंदु है इसका नायक, और इस उथलेपन की सबसे बड़ी, शायद एकमात्र, वजह है मुक्तिबोध का इस नायक के प्रति असंभव झुकाव।

यह नायक एक बुद्धिजीवी कवि है। इसकी दृढ़ मान्यता है कि इसके या इस जैसे गिने चुने मनुष्यों के अलावा पूरी दुनिया व्यभिचारी है। इस नायक में सिर्फ दो कथित कमियां हैं, जो कविता के दो समांतर पाठ को भी इंगित करती हैं। पहली खामी रचनात्मक है। यह नायक कवि है इसलिए विशुद्ध है कि वह अपनी परम अभिव्यक्ति अभी तक हासिल नहीं कर पाया है, उसे खोजने की राह पर चलने से बचता रहा है। दूसरी खामी सामाजिक है। यह नायक जन-क्रांति की कामना करता है इसलिए ग्लानि में डूबा है कि वह इस क्रांति का वाहक नहीं हो पा रहा है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार, जिसका पालन मुक्तिबोध करते थे, यह दोनों ही अवगुण हैं, चारित्रिक दोष हैं। क्रांति में सक्रिय सहयोग नहीं दे पाना किसी बुद्धिजीवी का अक्षम्य अपराध है। यानी मार्क्सवादी दृष्टि से यह नायक एक दुर्गुणी इनसान बतौर प्रस्तुत होना चाहिए था। आखिर जब शब्द की जरूरत हो तो मौन गुनाह है, जब सत्कर्म की पुकार हो तो अकर्मण्यता पाप है।

इस दोष से मुक्ति का सिर्फ एक रास्ता है वह यह कि इस नायक की समूची चेतना और कर्म दरअसल क्रांति को समर्पित हैं, लेकिन चूंकि वह खुद के प्रति इस कदर हीनता बोध और ग्लानि में डूबा है कि उसे अपने सर्वोत्तम कर्म भी अपर्याप्त लगते हैं। यह रास्ता लेकिन तभी उपलब्ध होता जब मुक्तिबोध उसका एक तटस्थ चित्रण करते, उसके समूचे गुण-दोष के साथ। मुक्तिबोध इस तरह अपने नायक को लिखते हैं कि न सिर्फ हमारा ध्यान इन अवगुणों से हट उसकी संवेदनशीलता और नैतिकता पर जाता है, हम उसके प्रति कारुणिक होने लगते हैं, बल्कि हमें भी उसके साथ उसकी इन कमजोरियों से मोह हो जाता है। इस दृष्टि से उसकी कथित कमजोरियां छद्म प्रतीत होती हैं जिनका मूल उद्देश्य पाठकीय करुणा को उकसाने के लिए है।

वह उपयुक्त शब्द की तलाश में है लेकिन उसके प्रयास अपर्याप्त हैं। यह विशुद्ध लेखकीय संघर्ष है, कला का मूल संघर्ष। तमाम साहित्यिक कृतियों के नायक अपनी अभिव्यक्ति के लिए संधानरत हैं, और वे अपने प्रति निर्मम भी हैं। कला आखिरकार क्रूर अनुशासन में ही संभव होती है। पेसोआ की 'द बुक ऑफ दि स्क्वाइंट' का नायक अपने लेखन को अपनी इच्छाशक्ति की विजय नहीं बल्कि उसकी हार बतलाता है। *मगध* का नायक अपने समूचे लिखे को ध्वस्त कर कहता है 'जो लिखा व्यर्थ था, जो न लिखा अनर्थ था।' ये किरदार वह सहानुभूति नहीं चाहते जिसका गुहार 'अंधेरे में' का कवि-नायक बारंबार करता है।

निर्मल वर्मा ने कहीं लिखा है कि एक अच्छा उपन्यासकार अपने किरदारों को सहानुभूति बराबर मात्रा में बांटता है लेकिन एक महान उपन्यासकार उस सहानुभूति के विरुद्ध संघर्ष करता है। यह बात कविता के लिए भी उतनी ही उपयुक्त है, खासतौर पर वह कविता जो एक कथा की तरह चलती है, अपने भीतर औपन्यासिक आकांक्षा लिए जीती है। कला का सहानुभूति से शायद अनिवार्य संघर्ष

है। सहानुभूति मानवता के लिए शायद बड़ा मूल्य हो, किरदारों के प्रति सहानुभूति कलाकृति को हल्का बनाती है। कविता सहानुभूति नहीं, समझ देती है। मनुष्य को वह बोध देती है कि वह अपने जीवन और समय को निर्मम सच्चाई में देख सके। वह हमें सहानुभूति के खतरों से भी बचाती है। किस्तोवस्की के *डेकालोग* से गुजर या *आन्ना कारेनिना* को पढ़ नायिका के प्रति सहानुभूति नहीं, बल्कि वह अंतर्दृष्टि मिलती है जिससे हम व्यसन और द्वंद में फंसे मनुष्य जीवन की जटिलता समझ पाते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि रचना के लम्हों में लेखक की अपने अनुभव से पर्याप्त दूरी हो। खुद मुक्तिबोध भी इस अवकाश की आवश्यकता को इंगित करते हैं।

इसके विपरीत 'अँधेरे' में पढ़ते वक्त यह एहसास निरंतर रहता है कि कवि अपने नायक के लिए करुणा और सहानुभूति बटोर रहा है। अगर जीवन में दूसरों की अनुकंपा या समर्थन के लिए भागना निरा लिजलिजापन है, तो अपने किरदार के प्रति हमदर्दी जोड़ना और जुटाना कलात्मक अभिव्यक्ति का अनिवार्य अवगुण है।

सहानुभूति के विरुद्ध संघर्ष और भी गहरा होना चाहिए जब कोई रचनाकार अपना कथानायक किसी लेखक या कवि को बनाता है। लेखक के पास वह औजार हैं, सामर्थ्य, शक्ति और स्पेस है जो समाज के अन्य वर्ग, मसलन नेता, अधिकारी या व्यापारी के पास नहीं। अपनी कलम के तनिक भर झुकाव से वह अपने कवि-नायक यानी अपनी बिरादरी को महिमामंडित, बाकी अन्य वर्गों को बदगुमान कर सकता है, जैसा कि मुक्तिबोध का नायक ही नहीं कई अन्य लेखक भी करते दिखलाई देते हैं। हिंदी की ढेरों रचनाओं में सृष्टि का नैतिक पताका पुरुष कवि ही होता है, यह भले हो कि उस किरदार का रचयिता लेखक खुद अपने जीवन में उस आचरण को रती भर नहीं निभा रहा हो।

यह न्याय के नैसर्गिक सिद्धांतों का हनन है। लेखक प्रतिवादी है, लेकिन वह फैसले की कुर्सी पर बैठा न्यायाधीश भी है। जाहिर है ऐसी अवस्था में अगर लेखक अत्यधिक निर्मम न हो तो वह फैसले के लम्हे में फिसल जाएगा, उसका निर्णय खुद अपने हक में ही होगा।

मुक्तिबोध के साथ समस्या और गहरी है। उनका नायक न सिर्फ कवि है बल्कि शायद नामवर सिंह के अपवाद के सिवाय, जो इस नायक को मुक्तिबोध का आरोपित आत्म नहीं मानते, यह भी सर्वमान्य है कि वह उनका ही प्रतिरूप है। उन्होंने लगभग अपने को ही केंद्र में रख यह कविता लिखी है। यह कवि कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल, सेनाध्यक्षों, मंत्री, उद्योगपति, कवि, नर्तक, विद्वान जन, यानी समाज के लगभग प्रत्येक वर्ग को दोषी सिद्ध करता है।

अगर कवि अपने अलावा समूचे समाज को व्यभिचारी बताएगा तो न सिर्फ उसकी कविता बल्कि बतौर मनुष्य उसकी समझ भी प्रश्नांकित हो जाएगी। क्या वाकई यथार्थ इतना इकहरा है कि समूचा समाज मार्शल लॉ का प्रेमी है? यहां मंत्री, कर्नल, उद्योगपति, विद्वान, नर्तक इत्यादि बतौर जातिवाचक सर्वनाम उपस्थित हैं। क्या यह सभी वर्ग अनिवार्यतः व्यभिचारी है? क्या कवि वाकई अपने स्वप्न में इन सबकी कल्पना सिर्फ इसी रूप में कर पाता है? क्या यह अत्यंत अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति/फैंटेसी नहीं? क्या इस फैंटेसी को तराशने, अतिशयता से बचाने की जिम्मेदारी कवि की नहीं थी? यह कविता इसलिए तीसरे क्षण में ढह जाती है। पहले और दूसरे क्षण को कवि ने संपूर्णता से जीया लेकिन तीसरे लम्हे वह फिसल गया।

यह नायक अपनी कमजोरी का उल्लेख करता है, मार्शल लॉ को अपनी ही निष्क्रियता की वजह

मानता है। उसे अपने बौद्धिक जुगाली में लिप्त होने का भी एहसास है; लेकिन पूरी कविता को पढ़ इसकी छवि अतिनिर्मल, अतिपावन, अतिसत्यवान नायक की बनती है। क्या इस नायक के जैविकीय आचरण और कविता की काया में झलकते इसके चेहरे में कुछ भेद है? क्या इसके जीवन में कुछ ऐसा है जो यह कविता के आईने में नहीं दिखला रहा, हमसे छुपाए ले जा रहा है?

इस नायक का रचयिता कवि अपने जीवन में अति-शंकालु है। उसे अपनी रचना की गुणवत्ता के प्रति और अपना लिखा छपवाने के प्रति अनिवार्य संशय रहा है— एक सच्चा संशय जो किसी भी खरे कलाकार का गुण है। लेकिन जीवन में इतना प्रश्नाकुल और संशयी इंसान अपनी कविता में ऐसा नायक रचता है जो दूसरों को खारिज करता, खुद को नैतिकता की अंतिम मिसाल और मशाल सरीखा प्रस्तुत करता है। कई आलोचकों ने इस नायक को संशय में डूबा बताया है लेकिन नहीं। यह नायक संशयग्रस्त, प्रश्न करता भले दिखाई दे, उन प्रश्नों की परत उघाड़िए, वहां ठोस, पूर्व-उपलब्ध उत्तर मिलेंगे। उसके सभी प्रश्न पहले से ही उपलब्ध उत्तरों को इंगित करते हैं जहां हर सवाल क्रांति के विराट स्वप्न में घुल जाता है।

दिलचस्प है कि हिंदी कविता का सर्वाधिक चर्चित क्रांतिगामी नायक, आलोचकों की नजर में एक प्रामाणिक और वैचारिक रूप से विश्वसनीय नायक, एक ऐसे लेखक ने रचा है जो खुद अपने जीवन और कला कर्म को हमेशा कटघरे में रखता है। राजनैतिक विचार की दृष्टि से समाजवाद और क्रांति शायद अंतिम और अमोघ मूल्य होंगे, लेकिन क्या ऐसा कवि के लिए भी होता होगा? क्या एक प्रश्नाकुल कवि खुद इस क्रांति के स्वप्न को भी कटघरे में नहीं लाएगा?

शायद यही मुक्तिबोध का द्वैध है। एक कवि और राजनैतिक प्रवक्ता का अनिवार्य द्वंद्व जो कविता की काया में अगर घटित होता तो यह कविता किसी बारूदी सुरंग की माफिक फूटती। लेकिन मुक्तिबोध अपने कवि को प्रवक्ता के समक्ष अर्पित कर देते हैं।

नामवर ने इस नायक की तुलना दोस्तोएव्स्की के अंडरग्राउंड नायक से की है। दोनों ही रचना प्रथम पुरुष में कही गई हैं, दोनों के नायक अपने अंधेरे में कैद हैं। लेकिन एक बड़ा फर्क है। दोस्तोएव्स्की अपने नायक को महिमामंडित नहीं करते, वे उसके अवगुण समूची शक्ति से उघाड़ते हैं। मुक्तिबोध बहुत हलके से अपने नायक पर चोट करते हैं, वो भी तिरछे कोण से कि नायक के प्रति सिर्फ सहानुभूति ही उमड़ती है, उसकी आभा ही गहरी होती है।

नामवर बतलाते हैं कि यह आत्म-निर्वासित नायक खुद मुक्तिबोध की प्रतिकृति नहीं बल्कि मध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधि मनुष्य है। वे मानते हैं कि इस नायक की आलोचना दरअसल मुक्तिबोध द्वारा मध्यवर्ग की आलोचना है। ऐसा नहीं है। मुक्तिबोध अगर इस नायक की कठोर आलोचना करते तो यह नायक इतनी अधिक करुणा बटोर हिंदी का प्रतिनिधि काव्य-पुरुष नहीं होता, इसके गुण-दोष पर पुनर्विचार हुआ होता। नामवर जी की प्रस्तावना में समस्या एक और है। अगर यह नायक तत्कालीन मध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधि है तो कौन है यह मनुष्य जिसने सभी पर फैसला सुना लेने का अधिकार लिया हुआ है?

मदन सोनी ने इस नायक को हिंदी कविता का काव्यपुरुष कहा है, जिसके साथ परवर्ती कवियों का तादात्म्य बहुत गहरा रहा है। वे एक महत्त्वपूर्ण बात इंगित करते हैं कि हिंदी कवि बिना प्रश्न किए इस नायक के निष्क्रमण को अपना प्रतिनिधि निष्क्रमण मान लेते हैं और उसकी खोज में

निकल लेते हैं।

इस नायक ने परवर्ती लेखकों को निर्णायक रूप से प्रभावित किया है, उन्हें रचा भी है। एक स्वघोषित आदर्शवादी नायक अनेक लेखकों के लिए ऐसी शरणगाह रहा है जहां वे अपने जीवन और रचना के भेद को सहज छुपा सकते हैं। एक बेदाग, उजला नायक, समाज द्वारा सताया कवि, जो किसी भी चीज, व्यवस्था पर प्रश्न कर, उसे अवमूल्यित कर सकता है, बस खुद उसका आचरण प्रश्नातीत है। हाय, हाय! मैंने उन्हें देख लिया नंगा, इसकी मुझे और सजा मिलेगी।

उदय प्रकाश की कई कहानियों में हम यह नायक पाते हैं। निरीह कवि पाल गोमरा मसलन जो करुण मौत मारा जाता है। जैसाकि ऊपर कहा कवि नायक के लिए आत्मदया बटोरना कला का हल्का नमूना है।

यह कविता एक कवि द्वारा अपनी अभिव्यक्ति के संधान और उस प्रक्रिया में उठाए गए जोखिम की प्रतिनिधि कविता भी मानी गई है। कवि अकेला पड़ते जाने के बावजूद ऐसी परम अभिव्यक्ति की खोज में है जो समाज की त्रासदी, विद्रूप और विडंबना को उसकी संपूर्ण और सश्लिष्ट स्वरूप में थाम सके। काफ़का की बेमिसाल कहानी 'हंगर आर्टिस्ट' भी एक कलाकार के अपने कर्म के प्रति जूनून, उससे उपजे अनिवार्य और अपरिवर्तनीय एकांत और निरंतर घटित होते आत्म-निर्वासन को बताती है। 'अँधेरे में' के नायक को विचार और विचारधारा का सहारा तो है, 'हंगर आर्टिस्ट' के पास उसकी कला के सिवाय और कुछ नहीं। वह भी अंत में मारा जाता है लेकिन काफ़का उसे सहानुभूति के सैलाब में नहीं डुबोते, इस कदर तटस्थ चित्रण करते हैं कि समूची कहानी ठिठुरती रात में नग्न खड़े किसी मनुष्य सी थरथराती है।

कविता में आतंक की उपलब्धि कठिन है। रचनाकार को अपनी अभिव्यक्ति पर कठोर अंकुश देना होता है, क्योंकि अतिरेकपूर्ण स्वर भय को बहा ले जाता है। अँधेरे में के साथ यही खामी है। कविता आतंकित कर देने माहौल में जन्म लेती है लेकिन अति नाटकीयता के बोझ से यह भय धूमिल होता है, पिघलकर बहने लगता है। उसका जोखिम हल्का दिखलाई देता है, पाठक पर उसकी पकड़ कमजोर हो जाती है। काफ़का का नायक खुद पर हँस सकता है, वह अपने को सर्वोपरि किसी नैतिक शिखर पर बैठा नहीं प्रस्तावित करता। खुद को न्यूनतर दिखलाने की वजह से काफ़का का भय कहीं प्रामाणिक और मारक लगता है। उनका जोखिम कहीं प्रामाणिक बनता है।

'हंगर आर्टिस्ट' के अलावा भी काफ़का के कई नायक निरंतर इस भय में जीते हैं कि पूरी दुनिया किसी षडयंत्र के तहत उसे अभियोजित करना चाह रही है। वही भय 'अँधेरे में' के नायक को भी है लेकिन काफ़का निर्ममता से अपने नायक को चित्रित करते हैं, उसे नैतिक तलवार नहीं थमाते। इसके बरक्स 'अँधेरे में' का कवि बड़े ही ऊंचे घरातल पर बैठा है।

इस कविता का फलक विस्तृत है, विराट है। लेखक की अनुभव संपदा विपुल है लेकिन लेखक अपने भाव संपादित नहीं कर पाता, अपने स्वप्न को सर्वोत्तम अभिव्यक्ति नहीं दे पाता। इस दृष्टि से यह कविता अपनी फॉर्म की बंधक है, कवि की फैंटेसी एक अनुशासनहीन अभिव्यक्ति है। इस कविता के ही शब्दों में कहें तो काव्य चमत्कार रंगीन लेकिन कई स्थलों पर ठंडा है। यह ठंडक अति-ऊष्मा पैदा करने के प्रयास से उपजती है। खामी फैंटेसी के स्वरूप में नहीं थी, बल्कि कवि उस स्वरूप के मानदंड समझते हुए भी उसे साध नहीं पाया। शायद वह एक अतिमानव के छलावे

द्वारा छला गया।

इसके बावजूद यह कविता अपने उत्कृष्ट लम्हों में बहुत ऊपर उठ जाती है। उस सरफिरे पागल का प्रलाप जिसका गद्यानुवाद कवि करता है, वे हिंदी कविता के बेहतरीन लम्हे हैं। विडंबना यह कि मुक्तिबोध जिस आचरण को त्याज्य बताते हैं, वे खुद ही उसी राह पर चलते हैं। दुखों के दागों को तमगों सा न सिर्फ पहनते हैं, बल्कि उन तमगों का गुमान भी करते हैं।

जैसा कि उनके तत्कालीन मित्रों के संस्मरण इत्यादि से मालूम होता है बतौर मनुष्य मुक्तिबोध ने निसंदेह ही सतचित वेदना में डूबा जीवन जिया होगा, लेकिन क्या वह अपने जीवन और अपने स्वप्न के मध्य अनिवार्य द्वंद्व को अपनी कविता में साध पाए? एक निम्न मध्यवर्गीय जीवन जिसे वह जी रहे थे, एक विराट स्वप्न जिसे वह अपने आल्टर ईगो के जरिए अपनी कविता में हासिल कर लेना चाहते थे। इस कविता में एक अद्भुत पंक्ति है-- 'बहुत दूर मीलों के पार वहां/गिरता हूं चुपचाप पत्र के रूप में/किसी एक जेब में।' अगर मुक्तिबोध ने यह भांप लिया होता कि समाज में क्रांति भले ही बड़ा लक्ष्य हो कविता की काया में दूर-सुदूर किसी छोटी सी जेब में एक गुमनाम पत्र की तरह, अनिवार्य उम्मीद से आश्वस्त करते पत्र की तरह जा गिरना ही बड़ी उपलब्धि है, तो शायद यह कविता कहीं बड़ी होती। अगर मुक्तिबोध ने अपने आल्टर ईगो नायक को मानवीय गुण, दोष से युक्त रखा होता, उसे आगामी पीढ़ियों के लिए बतौर आदर्श प्रस्तुत करने की शायद अनकही चाह न होती तो यह नायक कहीं अधिक प्रामाणिक होता। अगर उनकी कविता बगैर कोई निर्णय सुनाये उनके मनुष्य और उसके आल्टर इगो के मध्य इस संघर्ष की साक्षी बनती तो शायद इस कविता का कद कहीं बड़ा होता लेकिन यह कविता अपने कवि की महत्त्वाकांक्षा के शिकंजे में कैद हो रह गई। मुक्तिबोध की पचासवीं पुण्यतिथि पर मेरे ख्याल से हमें न सिर्फ इस नायक बल्कि पाल गोमरा सरीखे हिंदी के उन तमाम कवि-नायकों पर पुनर्विचार करना चाहिए जो कवि होने के नाम पर अतिरिक्त रियायत लेते रहे हैं। मुक्तिबोध का नायक अपनी कमजोरी, कम ही सही, पहचानता तो है। परवर्ती नायक तो एक नितान्त अप्रामाणिक बुलबुले जैसी दुनिया में जी रहे हैं। आत्म-संशय या आत्म-साक्षात्कार की संभावना से परे। चूंकि मैं कवि हूं इसलिए किसी भी दोष से मुक्त हूं, इस बहुमान्य लेकिन एकदम निराधार प्रस्तावना पर पुनर्विचार का यह समय है। इस प्रस्तावना की वजह से रचना के निरंतर इकहरे होते जाने पर पुनर्विचार का यह समय है। शायद इस तरह से ही हम अपनी प्रामाणिक राह चुन सकेंगे, जो मुक्तिबोध के दिखाए रास्ते से भिन्न होगी, लेकिन उसके प्रत्येक पड़ाव पर मुक्तिबोध एक अदृश्य पूर्वज की तरह हमारी राह आलोकित करते, हमें आसान अभिव्यक्ति के खतरे से आगाह कराते मौजूद रहेंगे।



हिंदी कविता के बारे में

गीत चतुर्वेदी

समकालीन कविता का अर्थ है सांस के लिए संघर्ष करना। -तादेउष रूजेविच
लगता है कोई भीषण दुर्व्यवस्था हमारी रक्षा कर रही। -कुंवर नारायण

मुक्तिबोध संभवतः काफ़का को ज्यादा पसंद नहीं करते थे। उनके हिसाब से काफ़का अस्तित्ववादी भुलभुलैयाओं में भटकते अणु-खंड थे। हालांकि, मुक्तिबोध चाहते रहे हों या न चाहते रहें हों, इतने बरसों बाद यह भी एकदम स्पष्ट है कि हिंदी में अगर काफ़का का कोई बौद्धिक सहोदर है, तो वह सिर्फ मुक्तिबोध हैं। दोनों के पास एक जैसे ब्यूह हैं। काफ़का में दुःस्वप्न का संत्रास व्यूहात्मक है, तो मुक्तिबोध में दुःस्वप्न की परिणति व्यूहात्मक है। आप जिसे नापसंद करते हैं, धीरे-धीरे उसके जैसे भी होते जाते हैं- क्या यह बात सच है?

कतिपय आलोचकों ने मुक्तिबोध में भी अस्तित्ववादी बूदें खोज ली थीं। चूंकि हिंदी में, आज दिनांक तक, अस्तित्ववाद को हेय दृष्टि से देखा जाता है, खुद मुक्तिबोध भी अपने लिखे में कई जगहों पर इसके प्रति अरुचि दर्शा चुके थे, इसलिए भी संभवतः, हिंदी आलोचना के एक दूसरे प्रभावशाली तबके ने उनमें अस्तित्ववादी प्रवाहों की स्थापनाओं का खंडन किया। इस आरोपण और खंडन का जितना रिश्ता मुक्तिबोध की कविताओं से नहीं है, उससे ज्यादा हिंदी की विचारधारात्मक खेमेबंदियों, अहं-युद्ध, नायक-निर्माण, नायक भेद, नायक-ध्वंस से है। जो मुक्तिबोध अपने गद्य में खुद को व्यक्तिवादी स्वभाव का कहते रहे, उनकी कविताओं में जाहिरा तौर पर मौजूद व्यक्तिवादी तत्त्वों तक को न देखने की कोशिश की गई। जो पंक्तियां साफ-साफ अस्तित्ववादी दुःस्वप्नों व आत्मपीड़न की घोषणा थीं, उन्हें वैसा मानने से इंकार कर दिया गया।

यहां मेरा उद्देश्य मुक्तिबोध को महज अस्तित्ववादी करार देना नहीं है, न ही इस अनंत-अनर्गल बहस में पड़ना है। बल्कि इस संदर्भ के बहाने मैं आगे की पंक्तियों में उस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिलाने की कोशिश करूंगा, जिसकी वर्तमान-रूपा शुरुआत हुए भी संभवतः पचास बरस होने को हैं।

मुक्तिबोध कोई साधारण बौद्धिक नहीं थे। वह जीवन, अध्ययन, संघर्ष, संत्रास, उम्मीद, राजनीति, अकेलापन, जिया हुआ अनुभव, पढ़ा हुआ अनुभव, विचारा गया अनुभव, आशांका, दुःस्वप्न, स्वप्न-भंग, चुनौती और निराशा से बना हुआ एक ब्यूह थे। ब्यूह-सामग्री में और इजाफा गिनाया जा सकता है, किंतु यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि वह एक चीज तो कतई नहीं थे, और वह है-एकांगिता। मुक्तिबोध कहीं से एकांगी नहीं। वह जितना राजनीति-दृष्टिसंपन्न-मुखर थे, उतना ही कलात्मक-नावीन्य-जागरूक भी। जितना वह मार्क्सवाद के भीतर थे, उतना ही अस्तित्ववाद के भीतर

भी। समस्या इसी वाक्य से शुरू होती है। मार्क्सवादी आलोचना के प्रभावशाली तबके को यह मंजूर नहीं था कि वह मुक्तिबोध को अस्तित्ववादी माने। संभवतः ऐसा करने से उसकी राजनीति प्रभावित हो जाती। आलोचना की वह पद्धति राजनीति को सर्वोपरि मानती है, साहित्य को द्वितीयक, इसलिए वह साहित्य की मीमांसा-व्याख्या में झोल करना चुन सकती है, राजनीतिक रूप से गलत होने (पॉलिटिकली इनकरेक्ट) होने का जोखिम लेने के बजाय।

यह पूरी समस्या खड़ी ही सिर्फ इसलिए होती है कि मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद को आमने-सामने खड़ा कर दिया जाता है, गोया दोनों में मल्ल-आयोजन हो। साहित्य के भीतर हर दृष्टिकोण के पीछे एक राजनीति होती है, और उसके प्रगटीकरण का ठेका आलोचना ले लेती है, जबकि खुद लेखक भी कई बार यह नहीं बता सकता कि आखिर वह कौन-सी राजनीति थी, जिसके कारण उसने वह दृष्टिकोण अपनाया। अस्तित्ववाद भी ऐसा ही एक दृष्टिकोण था, जिसके पीछे किसकी क्या राजनीति होगी, इतने बरसों बाद कहना मुश्किल है, लेकिन कम से कम यह जरूर कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद कोई विचारधारा नहीं थी, कोई राजनीतिक दर्शन नहीं था। यह सारे दृष्टिकोणों का एक समुच्चय था। हम-आप चाहें, तो उसमें अपने दृष्टिकोण जोड़ सकते हैं, अस्तित्ववाद को उससे कोई नुकसान नहीं पहुंचेगा, बल्कि उसका विस्तार हो जाएगा। (कुछ यही मामला इन दिनों उत्तर-आधुनिकता का भी है।)

जब यह विचारधारा और दर्शन नहीं है, तो क्या है? यह महज एक पैटर्न है, एक डिजाइन है। यदि यह दर्शन है, तो खुद नीत्शे और किर्केगार्ड भी पूरी तरह अस्तित्ववादी नहीं हैं। अगर यह राजनीतिक विचारधारा होता, तो दुनिया के किसी न किसी देश में अस्तित्ववादी सरकार बनाने का आंदोलन अवश्य चल रहा होता और किर्केगार्ड, दोस्तोएव्स्की, सार्त्र, कामू सभी का अस्तित्ववाद एक जैसा ही होता, एक ही जगह गिरता और उनमें महज कुछ लाक्षणिक अंतर ही होते, परंतु इन चारों में तो बहुत फर्क है। काफ़का को अस्तित्ववादी कहा गया, लेकिन उनका यह तथाकथित अस्तित्ववाद एक ऐसी डिजाइन थी, जिसके पीछे कोई दार्शनिक फोर्स भी काम नहीं करता। यह ऐसी डिजाइन थी, जिसका सभी ने अपनी-अपनी तरह से प्रयोग किया। मुक्तिबोध ने भी किया।

मुक्तिबोध ने कुछेक बार कहा है कि हर कलाकार के भीतर सौंदर्य का पैटर्न होता है, और वह उसी के आसपास चलता है, जानते-अनजानते। मुक्तिबोध ने अपनी सन 47-48 के बाद की कविताओं में इसी पैटर्न को अपनाया, जानते-अनजानते। अस्तित्ववाद उनका पैटर्न है, मार्क्सवादी दृष्टि से उनका कंटेंट बनता है।

और यही उनके द्वारा उठाया गया अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा खतरा है।

दुनिया में किसी बड़े मार्क्सवादी कवि ने अस्तित्ववादी पैटर्न का प्रयोग करने की हिम्मत नहीं दिखाई। अगर किसी ने इस तरफ सोचा होगा, तो वह समझ गया होगा कि ऐसा करना खतरे से खाली नहीं, या तो उसकी मार्क्सवादी प्रतिबद्धता खतरे में पड़ जाएगी या फिर वह दोनों 'विपरीत-ध्रुवी अनुकूलता' से तालमेल नहीं बिठा पाएगा, मार्क्सवादी जीवनदृष्टि/काव्यदृष्टि, अस्तित्ववादी जीवनशैली/काव्यशैली से डैमेज हो जाएगी। हिंदी में ही मुक्तिबोध के बाद किसी अन्य कवि के पास वैसा अस्तित्ववादी दुस्साहस नहीं आ पाया, जबकि मुक्तिबोध ने रास्ता खोल दिया था।

यदि कोई कवि अपने लेखन को राजनीतिक दृष्टिसंपन्न दिखलाना चाहता है, तो इस पैटर्न

का प्रयोग सच में बहुत बड़ा खतरा है। पता नहीं, मुक्तिबोध इस खतरे को समझ पाए थे या नहीं समझ पाए थे, पर यह सभी जानते हैं कि उनकी बेचैनी अभिव्यक्ति का खतरा उठाने को सन्नद्ध थी। यह तो दिखता है कि वह इस पैटर्न को स्वीकृति नहीं देना चाहते थे। *नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र* में वह नई कविता में जिस तरह की समस्याओं को गिनाते हैं, यदि उन्हीं को कसौटी बनाकर उनकी कविताओं को पढ़ा जाए, तो वे खुद उन समस्याओं से दूर जान नहीं पड़ेंगी। 'जनता का साहित्य कैसा होना चाहिए' के आधार पर 'अंधेरे में' को पढ़ा जाए, तो शायद ही 'अंधेरे में' या उनकी कोई और रचना जनता का साहित्य नजर आएगी। जनता अपने आप में एक अमूर्त अवधारणा है और 'हार्डब्रो' कला से लेकर 'पॉपुलर' कला तक, जिस किसी ने 'जनता को क्या चाहिए', या 'जनता को हम क्या दें' जैसा मॉडल बनाकर, उसके आधार पर, कला की रचना की, इतिहास गवाह है कि उसने दोगम दर्जे की कला 'उत्पादित' की। यह वृहत्तर तौर पर साहित्य के लिए हितकारी है कि उनकी कविताएं और कुछ गद्य अलग-अलग दिशाओं में जाते हैं। तर्कों के आधार पर दोनों की दिशा एक साबित करने के कई फाउल प्ले हो चुके हैं, पर कविता के संदर्भ में तर्क सबसे कमजोर औजार होते हैं। शुरु से ही कविता अनुभूति को अपना आधार बनाती रही है और जब तक मनुष्य के पास अतीत रहेगा, तब तक वह तर्क के मुकाबले अनुभूति को ही चुनती रहेगी इसलिए मुक्तिबोध के कुछ गद्य-विशेष को उन्हीं के लिए कसौटी बनाना बहुत उचित नहीं होगा, इस लिहाज से यह लगभग जगजाना है कि किसी लेखक के भीतर का कवि और उसके भीतर का आलोचक, दोनों अलग-अलग जबान बोलते हैं और जबान का यही अलगाव उस लेखक के आत्मसंघर्ष की कोई एक पगडंडी बनाता है। संस्कृत के कवि यूं ही नहीं कह गए कि कवि की दो जीभ होती है।

उसी पैटर्न ने मुक्तिबोध को गालिब की तरह बना दिया। उन्हें काफ़का वाली भूमिका में भेज दिया। सबके पास अपना गालिब होता है। गालिब के एक ही शेर का बहुत पॉजिटिव मतलब निकाला जा सकता है, तो बहुत ही नेगेटिव मतलब भी। सबके पास अपना एक काफ़का होता है। नैयर मसउद काफ़का का प्रयोग अपनी तरह से करते हैं, जे.एम. कुत्सी के पास अपना एक अलग काफ़का है, पमुक के पास अलग, तो मुराकामी का काफ़का मन इन सबसे ही जुदा है- बेहद की हद तक।

उसी तरह सबके अपने-अपने मुक्तिबोध हैं। रामविलास शर्मा के पास अपना, नामवर सिंह के पास अपना और अन्य के पास अपना। शर्मा, मुक्तिबोध के अस्तित्ववादी पैटर्न पर सवाल उठाकर उनके कंटेंट को संदिग्ध बताने की कोशिश करते हैं, सिंह उनके कंटेंट को हावी दिखाने के लिए उनके अस्तित्ववादी पैटर्न का खंडन करते चलते हैं। 'खामोश सिसकियां भरनेवाला मन', 'कमजोरियों से ही लगाव है मुझको' जैसी अनेक स्वयंसिद्ध पंक्तियां, आत्मनिर्वासन-आत्मवंचना-आत्मभर्त्सना का असंदिग्ध स्वर नामवर को कहीं से अस्तित्ववादी नहीं लगते। इनके खंडन के लिए वह जिस तरह तर्कणा करते हैं, वह फाउल प्ले बन जाती है। एब्सर्डिटी, एलियनेशन, री-इफिकेशन अंततः मुक्तिबोध को अन्य से अनन्य और अनन्य से अन्य की यात्रा पर ले जाती है, जो कि कहीं आत्म की खोज का माध्यम भी है। मुक्तिबोध के यहां यह डिसगाइज्ड है। आत्मकथात्मक मैं और प्रतीकात्मक मैं के रूप में। यदि मैं को प्रतीक ही मानना है, तो यह छूट हमेशा रहेगी कि उसे इनमें से किसी का भी प्रतीक माना जाए- खालिस मैं का, परिवार का, मध्यवर्ग का, समाज का या राष्ट्र का।

मुक्तिबोध पर दोनों ही एक पक्ष की प्रधानता का दावा करते हैं, दूसरे को नकारते हैं, जबकि मुक्तिबोध दोनों पक्षों की प्रधानता हैं। उनमें कंटेंट और पैटर्न का अद्वैत ऐतिहासिक है। वही उन्हें समस्याग्रस्त भी बनाता है और वही उन्हें बार-बार प्रासंगिक भी करता है। इसीलिए उन पर लगातार बहस होती रहती है, और आगे भी होती रहेगी। चूंकि यह पैटर्न खुद कवि ने चुनकर अपनी कविता को आवरण की तरह पहना दिया है, दोनों ही किस्म के तर्क बराबर चलते रहेंगे। यह अब एक अनंत प्रक्रिया बन चुकी है। यही कहीं नहीं रुकेगी। जिस दिन हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी कैनिन का हास होगा, तब नई आलोचना मुक्तिबोध पर नए सिरे से, इसी तरह के नए सवाल उठाएगी और तब मुक्तिबोध एक बार फिर समस्याग्रस्त होंगे/करेंगे।

जब मुक्तिबोध यह कहेंगे, 'वह काव्य या कला जो हमें भावोत्तेजित तो करती है, किंतु हमारे वास्तविक जीवनपथ में मूल्यवान होकर सहायक नहीं बनती, निश्चय ही वह कला श्रेष्ठ होते हुए भी श्रेष्ठतम नहीं है', तब इस वाक्य के आसपास कितनी बार भी जोड़ दें कि ऐसा कहकर मैं स्थूल उपयोगितावाद का समर्थन नहीं कर रहा, इसे उपयोगितावाद का समर्थन ही माना जाएगा। भले वह सूक्ष्म हो या स्थूल। क्योंकि भावोत्तेजना भी एक मूल्य ही है और मूल्यवान होने की मांग अंततः उपयोगितावाद। क्योंकि जिस कविता या साहित्य के डिफेंस में हम इतनी सारी बातें कहते आते हैं, उस कविता को न्यूटन जैसे लोग सदियों पहले ही 'कपटी किस्म की बकवास' जैसा उद्बोधन दे चुके।

ऐसा मुक्तिबोध ने भी नहीं चाहा होगा। अभिव्यक्ति के खतरे उठाकर भी नहीं चाहा होगा। जीवन को महज बौद्धिक विश्वासों से देखा जाए, तो जीवन की सुंदरता नष्ट होती है। मुक्तिबोध यह कहकर गए- 'लोग आलोचना करते समय किसी खास "वाद" के दायरे में बांधकर ही साहित्य को देख पाते हैं। यह तरीका एकदम गलत है। साहित्य के "वाद" दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रणालियां नहीं हैं, वे केवल साहित्य के दृष्टिकोण हैं।' ऐसा स्पष्ट कहकर जाने के बाद भी मुक्तिबोध को एक खास 'वाद' के दायरे में बांधकर ही देखा जाता है या देखने की जिदो-जिरह की जाती है। शायद मुक्तिबोध ने यह भी नहीं चाहा होगा।

मुक्तिबोध की मृत्यु को पचास साल हो गए। इसी के साथ इस जिदो-जिरह की विराट शुरुआत के भी पचास साल हो गए। 'वाद' में बांधने के कारनामे उसके पहले भी चलते थे, लेकिन मुक्तिबोध के बाद यह बेहद मुखर हो गया। यकीनन, इसमें मुक्तिबोध का दोष निकालना सिवाय मूर्खता होगी।

मुक्तिबोध के जाने के बाद उन पर कब्जे को लेकर जिस तरह संघर्ष हुए, उन्हें देखकर बुद्ध का जाना याद आ जाता है। जब बुद्ध मरे, तो उनके अनुयायी राजाओं में उनके अवशेषों के स्वामित्व को लेकर झगड़ा हो गया। बुद्ध सबके थे, लेकिन कोई उनके पैरों की राख ले गया, तो कोई उनका दांत। द्रोण की उपस्थिति में संतोषजनक बंटवारा हो गया और फिर कोई विवाद न हुआ, लेकिन मुक्तिबोध को कोई द्रोण न मिल सका।

मुक्तिबोध पर जिस तरह की बहसें हुईं, उसका सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि आने वाले रचनाकार, 'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने होंगे' जैसी पंक्ति को नारे की तरह प्रयोग करने के बाद भी, अभिव्यक्ति के खतरे उठाने जैसे गुण से विमुख रहे। ये बहसें यह नहीं बता पाईं कि आखिर खुद मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति का कितना भयंकर खतरा उठाया था, ऐसा खतरा, जो दुनिया का कोई कवि

नहीं उठा सका, ऐसा खतरा जो खुद मुक्तिबोध की प्रतिबद्धताओं और काव्यकला-चैतन्यताओं को भी खतरे में डाल दे। बहुलांगी मुक्तिबोध ने जो खतरा उठाया, उस पर एकांगी बहस हुई। प्रेडिकामेंट कैसा कि ऐसी ट्रेजडी है नीच! आखिर मुक्तिबोध के बाद कोई भी कवि उतना जटिल, उतना दुरूह, उतना व्यूहात्मक, उतना तिलिस्मी और उतना बहुलांग क्यों नहीं हो पाया?

इन पचास बरसों में हर दशक का युवा कवि दोहराता रहा- अभिव्यक्ति के खतरे उठाने होंगे, तोड़ने ही होंगे सारे मठ और दुर्ग... इन पचास बरसों में करीब तीन दशकों का युवा कवि अब बूढ़ा हो चुका है और अब बेचारा खुद भी सोचता होगा- दुहराया तो बहुत, पर उठाया कौन सा?

मुक्तिबोध सिर्फ यही एक पंक्ति नहीं हैं, लेकिन चूँकि सबसे ज्यादा इसी पंक्ति को दुहराया गया, इसलिए यह प्रश्न इसी पंक्ति के कोण से।

मुक्तिबोध के पूरे नाम में वैसे तो एक मिडिल नेम जुड़ा हुआ है, लेकिन मैटाफोरिकल तरीके से उनका एक मिडिल नेम बनाया जाए, तो वह यही होगा- मैंने पैटर्न और कंटेंट का सबसे बड़ा खतरा उठाया- तो यह प्रश्न इस काल्पनिक मिडिल नेम के कोण से भी।

जाने संस्कृत का वह पहला कवि कौन रहा होगा, जिसने लिखा होगा- चंदन के पेड़ में फूल नहीं उगते। जाने इतावली का वह पहला कवि कौन रहा होगा, जिसने लिखा होगा कि मरते समय हंस गीत गाता है। जबकि ये दोनों चीजें नहीं होतीं। चंदन में बाकायदा फूल लगता है और हंस मरते समय कोई गाना नहीं गाता। अगर एकाध बार यह लिखा गया होता, तो हम मान लेते कि दो हजार साल की परंपरा के भीतर यह किसी खास किस्म की अनुभूति का कवि-विशेष द्वारा किया गया उपमात्मक चित्रण है, लेकिन पूरा संस्कृत काव्य ही उस उक्ति का अनुसरण करता है, इतालवी और बाद में अंग्रेजी काव्य अब तक उस उक्ति की पुनरावृत्ति करता रहता है।

पूर्ववर्ती कवियों द्वारा दी गई उपमाओं का अनुसरण करते चलना शायद कवियों की प्रवृत्ति होती है। कवि अमूमन अनुसंधानात्मक नहीं होते। हर भाषा की कविता में ऐसी कई सारी पंक्तियाँ मिलेंगी, जिन्हें दोहराने जाने का कोई आधार नहीं होता, लेकिन जो महज इसलिए दोहराई जाती हैं कि वे चली आ रहीं। ऐसी आदत को फ्रेंच में 'क्लीशे' कहा जाता है, लेकिन कविता के भीतर इस प्रवृत्ति के लिए यह शब्द भी सही नहीं है। अंग्रेजी का 'ऑबवियस' भी एक पहलू को पूरा करता है, लेकिन यह भी इस प्रवृत्ति को पूरी तरह नहीं दिखाता। चित्रकार साल्वादोर दाली की एक उक्ति याद आती है, जो शायद उन्होंने फ्रेंच कवि जेरार दे नर्वाल से उधार ली थी और कमोबेश बेहतर शब्दों का प्रयोग कर उसे चुकाया था: 'स्त्री के गालों की तुलना गुलाब से करने वाला पहला व्यक्ति यकीनन कवि था, इस तुलना को दोहराने वाला पहला व्यक्ति यकीनन मूर्ख।' हिंदी कविता में क्लीशे और ऑबवियस का प्रचुर प्रयोग है। यह कहना भी गलत नहीं होगा कि क्लीशे या सहज तार्किक चीजें इस समय हिंदी कविता के सबसे बड़े बौद्धिक भयों में से हैं, लेकिन यहां उनके उदाहरणों में जाना उद्देश्य नहीं है।

क्लीशे किसी एक शब्द, मुहावरे के प्रयोग को कहा जा सकता है, लेकिन फॉर्म और कंटेंट को लेकर भी इस तरह का अनुसरण दिखता रहे, तो काव्य-प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के लिए 'कवि-समय' कहीं बेहतर शब्द है। जब कविता की एक पूरी पीढ़ी या उससे ज्यादा लोग इस तरह का अनुसरण

करने लगते हैं, तो वह 'कवि-समय' कहलाता है। यह पद राजशेखर का दिया हुआ है। उन्होंने *काव्यमीमांसा* में संस्कृत काव्य के बहुप्रचलित क्लेशों का विश्लेषण करते हुए इस पद की रचना की थी। इस पद का अर्थ 'कवि का समय' नहीं है, यह 'कवि का युग' भी नहीं है, बल्कि यह अपने समय की प्रचलित अवधारणाओं, मान्यताओं, स्थितियों और प्रतीकों के भीतर कैद हो जाना है। यह अनुकरण की कैद है। दुनिया का कोई भी काव्य-समुच्चय 'कवि-समय' से नहीं बच पाता, लेकिन जो काव्य खुद को इस 'कवि-समय' से बचा ले जाता है, वह कविता को एक सीढ़ी आगे पहुंचा देता है।

हिंदी कविता की कई वर्तमान आदतें, किंचित संशोधित रूप में, 'कवि-समय' ही हैं। कुछ सदियों तक बहुत सारे कवि प्रेम, सिंगार, सेक्स लिखते रहे और उन्होंने संस्कृत का काव्य-साहित्य बनाया। वह भी एक 'कवि-समय' था। मैं उन कवियों को खोजता हूँ, जो अपने समय के प्रचलित 'कवि-समय' के खिलाफ खड़े होकर लिखते हैं, इतिहास में नहीं मिलते। फिर कुछ सदियों तक बहुत सारे कवि भक्ति पर लिखते हैं और भक्ति काव्य बनाते हैं। इनके बीच में मैं उसे खोजता हूँ, जो इस 'कवि-समय' में मिसफिट होता है। कोई खास नहीं मिलता। वैसे कवि होंगे जरूर, लेकिन हमारा इतिहास उन्हें ठीक से दर्ज न कर पाया होगा। एक देश और संस्कृति के रूप में हमने कविता से बुरा इतिहास-लेखन किया है। बीसवीं सदी के शुरुआती बरसों में वापस प्रेम, प्रकृति और मीठेपन का कवि-समय आया। साहित्य के इतिहास में युगों का जो नामकरण किया गया है, सिर्फ उनसे ही इस 'कवि-समय' का मूल्यांकन नहीं होता, बल्कि उस दौर में जो अलग लिख रहे थे, उनका अलग-पना भी उसी मीठेपन से मार्गदर्शित हुआ किया, यह 'कवि-समय' की प्रवृत्ति है।

बीत जाने के बाद 'कवि-समय' की यह अवधारणा स्वीकृत व मान्य हो जाती है। इस पर सवाल नहीं उठाया जाता। खुद राजशेखर भी इस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिलाते हैं, लेकिन यह भी कहते हैं कि इसे प्रश्नांकित नहीं करना चाहिए।

किंतु बीत जाने के बाद। जब यह चल रहा हो, तो इस पर कम से कम विचार अवश्य करना चाहिए। और हमारे समय का 'कवि-समय' अभी बीता नहीं है। यह एक रूढ़ प्रवृत्ति की तरह अभी भी हमारी कविता के साथ है। हमारा 'कवि-समय' राजनीतिक है। पिछले पचास साल की हिंदी कविता का प्रमुख स्वर राजनीतिक है। इक्कीसवीं सदी की इस दूसरी दहाई में भी यह स्वर परिवर्तित नहीं हुआ है। किसी एक काव्यांदोलन का मुख्य स्वर किस तरह रूढ़ता के 'कवि-समय' में बदल जाता है, हम इसके कई उदाहरण इन बरसों में देखते आए हैं।

यह सिर्फ हिंदी में ही नहीं है बल्कि दुनिया के कई देश, जिनका काल राजनीति से प्रभावित रहा, राजनीतिक 'कवि-समय' में निवास करते हैं। बीसवीं सदी में राजनीति ने मनुष्य को विराट कटु अनुभव दिए हैं और वह कविता में अभिव्यक्त हुआ है। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद पोलिश कविता (और पूरे पूर्वी यूरोप की कविता) का स्वभाव राजनीतिक स्वरों से ही प्रतिश्रुत हुआ। उसने युद्ध की त्रासदी को झेला, फिर कम्युनिस्ट शासन उनके लिए अत्याचार ले आया। उन सारे अनुभवों ने कविता के भीतर जगह पाई और मनुष्य की संवेदनाओं को नई तरह से छुआ। उसने पोलिश कविता को चार बेहतरीन कवि दिए। पूर्वी यूरोप से बेहद मार्मिक कवि सामने आए लेकिन नब्बे के दशक के बाद से पोलैंड सहित पूर्वी यूरोप के कई देशों के हालात बदल गए। राजनीतिक दमन-चक्र नजदीकी

इतिहास में चला गया। तो क्या तब भी वहां का कवि उसी नजदीकी इतिहास की कविता लिखता रहा? हां, बहुत हद तक। क्योंकि कवि अनुसंधानात्मक नहीं, अनुकरणात्मक होते हैं, इसलिए नई पीढ़ी के कवि भी वैसी ही कविता लिखते रहे, जैसी मिवोश, रूजेविच, हेर्बेर्ट, रिस्सोस, योजेफ, या इनके तुरंत बाद की पीढ़ी की कवि लिख गए थे। काव्य-विषयों के अनुकरण की वंशानुगत लत छोड़ने और अपने लिए नए विषयों की तलाश करने में उन्हें थोड़ा-सा समय लग गया। आज की पोलिश कविता महज राजनीतिक कविता नहीं है।

हिंदी में पूरी तरह ऐसा नहीं हो पाया।

आजादी के बाद भारत में राजनीति ने जन-जीवन को उस तरह प्रभावित नहीं किया, जैसा कई अन्य देशों में, लेकिन फिर भी हिंदी की कविता का मुख्य स्वर राजनीतिक ही है, क्योंकि हिंदी का कवि वंशात्मक-अनुकरणात्मक तौर पर राजनीतिक जीव है। वह पोएटिक्स की समझ को दरकिनार कर सकता है, लेकिन राजनीतिक समझ को नहीं। वह वृहत् मानवता के पक्ष में खड़ा होने के लिए भी कविता के भीतर पॉलिटिकली इनकरेक्ट होने का जोखिम नहीं ले पाता। उसकी करेक्टनेस उसकी पॉलिटिक्स पर आधारित होगी। अगर आप उसकी पॉलिटिक्स में यकीन नहीं रखते, तो उसकी करेक्टनेस भी संदिग्ध हो जाएगी। कविता के भीतर मानवीय अनुभूतियों पर राजनीतिक अनुभवों को एक बालिशत ऊपर रखना भी एक 'कवि-समय' है; उसका यह एक मुखर नुकसान है, जो कि समूची कविता को भुगतना पड़ता है।

मैं बहुत सारे उदाहरणों में नहीं जाना चाहूंगा, क्योंकि उससे एक पूरे ग्रंथोत्पादी विस्तार की गुंजाइश बन जाएगी, किंतु एकाध उदाहरण रखे बिना काम भी नहीं चलेगा। सत्तर के दशक में एक कविता ने घोषणा की थी कि वह कविता नहीं है, वह गोली दागने की समझ है। वह कविता पूछती है कि अगर आदमियत को जीवित रखने के लिए दारोगा को गोली दागने का अधिकार है, तो मुझे क्यों नहीं? यह कविता सत्ता के षड्यंत्रों के खिलाफ, शोषकवर्ग के दमन के खिलाफ उतनी ही आक्रामकता से खड़ी होती है। लेकिन यह कविता अंततः क्या पूछती है? अपने लिए क्या चाहती है? यह अपने लिए गोली दागने का अधिकार चाहती है, क्योंकि यह जिनके पक्ष में लिखी गई है, वे गोली खाते रहे हैं और जिनके खिलाफ लिखी गई है, वे गोली दागते रहे हैं। यह कविता अधिकार मांगती है कि वह जिनके खिलाफ खड़ी हो रही है, किन्हीं मामलों में उनके जैसी हो जाए?

अगर दारोगा गोली दागता है, तो मैं भी गोली दागने की समझ हूँ। कल को दारोगा अगर बलात्कार करेगा, तब क्या मैं बलात्कार करने की समझ हूँ? दारोगा कल को लोगों के हाथ-कान-नाक काट देगा, तो मैं कविता नहीं, हाथ-कान-नाक काटने की समझ बन जाऊंगी? इन एक-दो वाक्यों से यह कविता संकटग्रस्त हो जाती है। संकट में डालने वाले ऐसे वाक्यों का इजाफा, उसी कविता के विन्यास और व्याकरण में जज्व रहते हुए भी, किया जा सकता है। अपनी-अपनी राजनीतिक विचारधाराओं की विवशताओं के बावजूद व्यापक मनुष्यता के पक्ष में खड़े लोर्का, राद्नोती, हिकमत, माण्डेलस्ताम जैसे कवियों को पढ़कर पता चलता है कि कविता गोली खाने की नियति तो हो सकती है किंतु हिंदी का कवि सगर्व कहता है कि कविता गोली दागने की समझ है।

यह बेहद हिंसक कविता है। बेहद हिंसक समय में कविता का भी बेहद हिंसक हो जाना कोई बहुत उम्मीद से भरा नहीं है। हिंसा को किसी भी तर्क से जस्टीफाय नहीं किया जा सकता। मनुष्य

का पूरा इतिहास सबसे ज्यादा हिंसा से ही भरा हुआ है, लेकिन कविता कभी हिंसा के पक्ष में खड़ी नजर नहीं आती। महाभारत अकूत हिंसा से भरा है, लेकिन शांतिपर्व प्रायश्चित और ग्लानि का पर्व है। ओडिसस तमाम मार-काट मचाता है, लेकिन इथाका लौटते समय वह ग्लानि में रहता है। हिंसा की पीड़ा और हिंसा की ग्लानि में कविता का अवसर हो सकता है, लेकिन हिंसा के विरुद्ध प्रतिहिंसा में भी कविता का अवसर हो सकता है, हिंदी में यह कविता बताती है। हिंसा और प्रतिहिंसा मानवीय गुणों में पैबस्त है, लेकिन क्या वह विराट मानवीय मूल्य है? या सूक्ष्म मानवीय मूल्य भी? और क्या यह ऐसा मूल्य है, जिसके पक्ष में कविता को खड़ा होना चाहिए?

यह शुचितावादी दृष्टिकोण नहीं है, बल्कि यह मानवीय दृष्टिकोण है। यह शोषकों द्वारा की जा रही हिंसा का पक्ष लेना नहीं है, लेकिन उस हिंसा के विरुद्ध कविता के भीतर, व जीवन के भी, प्रतिहिंसा का पक्ष लेने पर प्रश्नांकन है।

इसलिए यह सवाल सिर्फ इस कविता पर नहीं है, यह सवाल उस पूरी राजनीति से है, जिससे दृष्टि पाकर यह कविता संचालित होती है। चूंकि यह राजनीति-विशेष दृष्टि से संचालित कविता है, इसलिए यह विराट व सूक्ष्म, मानवीय मूल्यों को कविता के भीतर त्याग देने के लिए तैयार हो जाती है।

अगर कोई कवि दक्षिणपंथी कट्टर राजनीति में विश्वास रखता है, तो क्या वह ऐसी कविता लिख देगा, जिसमें वह अल्पसंख्यक मुसलमानों को काटकर फेंक देने की इच्छा व्यक्त करे, क्योंकि पिछले दंगों में मुसलमानों ने उसके लोगों पर हमला किया था? या इस वाक्य में मुसलमान की जगह हिंदू कर दिया जाए, तब भी वाइस वर्स की स्थिति पैदा होगी। तो क्या ऐसी कविता को राजनीतिक कविता मान लिया जाए? क्या दक्षिणपंथी कट्टर राजनीति से मिली दृष्टि से संचालित उस कविता को राजनीतिक कविता की तरह अध्ययन में शामिल किया जाए? उस राजनीति का भी आखिरकार अपना एक तर्कशास्त्र तो है ही।

पार्टीशन के समय राजनीतिक निर्णयों के कारण सरहद के इस तरफ मुसलमानों को मारा गया, सरहद के उस तरफ हिंदू-सिखों को मारा गया, तो अगर दोनों तरफ के कवि अपनी कविता के भीतर अपने विपक्षियों को मार-काट डालने की प्रतिहिंसा से भरी कविताएं लिखने लगे तो उन्हें राजनीतिक कविता मान लिया जाए? सदियों से यहूदी प्रताड़ित रहे हैं, तो क्या यहूदी कवियों को प्रताड़कों को गोली मार देने की समझ वाली कविता लिखनी चाहिए? या वर्तमान में फलीस्तीनी, यहूदी राष्ट्र की हिंसा से बेहाल हैं, तो फलीस्तीनी कविता द्वारा समूचे यहूदी राष्ट्र को बम से उड़ा देने की घोषणा को राजनीतिक कविता मान लिया जाए? राजनीतिक उपसर्ग हटा देते हैं, बहुत आसान सवाल कि क्या उसे कविता भी माना जाए? श्रेष्ठ फलीस्तीनी कविता उस आतंक का, भेदभाव का, अपने लोगों को मनुष्य न समझे जाने का विरोध करती हैं, लेकिन प्रतिहिंसा से प्रतिश्रुत होकर नहीं।

यदि गोली दागने की समझ कविता है, तो 'दूध मांगोगे तो खीर देंगे, कश्मीर मांगोगे तो चीर देंगे' जैसे घृणास्पद वाक्य भी कविता हैं। नहीं मानेंगे आप? मैं भी नहीं मानता, लेकिन मैं दोनों को ही नहीं मानता।

कविता नहीं, गोली दागने की समझ है जैसी पंक्ति वाली कविता को इतना सेलेब्रेट किया गया, उसके कवि को युगांतकारी बताया गया, तो किसने बताया? जिस राजनीतिक दृष्टि से संचालित

होकर वह कविता लिखी गई थी, उसी राजनीतिक दृष्टि से संचालित होकर कविता-आलोचना आदि लिखने वाले खेमे ने बताया। हिंदी में वह खेमा प्रभावशाली और प्रभुत्वकारी है, तो अपने जैसी राजनीति की कविता करने वालों को वह महान बता देता है, अपनी राजनीति का समर्थन करने वाली कविताओं को श्रेष्ठतम कहने का तर्कशास्त्र गढ़ लेता है, तो उसके ऐसा करने से साहित्य का इतिहास भी इस कविता को, इस कवि को या इसके जैसे तमाम कवियों व उनकी कविताओं को राजनीतिक चेतना से लैस श्रेष्ठ कविता मान लेगा, क्योंकि किसी भी इतिहास की तरह साहित्य का इतिहास भी प्रभुता का ही दस्तावेज होता है।

मैं सोचता हूँ कि कल को अगर हिंदी साहित्य में दक्षिणपंथी कट्टर राजनीति में विश्वास रखने वाला खेमा प्रभुता पा ले, वह उतना ही ताकतवर हो जाए, जितना आज व बीते बरसों में मार्क्सवादी कैमन रहा है, तब क्या होगा? तब तो वह 'मध्ययुग से ही हिंदुओं पर अत्याचार करने वाले मुसलमानों को चीरकर रख देने की समझ वाली कविता' को श्रेष्ठ राजनीतिक कविता बता देगा?

यह कितना नुकसानदेह, कितना घातक होगा! यह प्रतिहिंसा को मानव-मूल्य में स्थापित कर देने का अक्षम्य अपराध होगा। बहुत सारी सरकारें, बहुत सारे आतंकी संगठन यह काम पहले ही कर रहे, क्या कविता को भी यह काम करना चाहिए?

जब सबसे क्रूर तानाशाह भी हिंसा करता है, तो उसके पास अपनी हिंसाओं को वैध ठहराने के लिए तीक्ष्ण तर्क होते हैं, लेकिन वे सारे तर्क मानवीय अनुभूतियों और मूल्यों का उपहास करते हैं, उनसे घात करते हैं। इसी तरह गोली दागने की समझ जैसी कविताओं के पक्ष में की जाने वाली तर्कणा बुनियादी मानवीय मूल्यों के साथ घात ही करती हैं। इससे अपनी राजनीति का समर्थन करने वाली कविता को श्रेष्ठ बताने की 'फाउल प्ले की परंपरा' का ही अंग-विकास होगा।

यह अंततः बुनियादी तौर पर एक अनुभूति, एक तत्व, एक अभिव्यक्ति के रूप में उपस्थित कविता-मात्र से भी घात होगा। हिंदी कविता इस तरह की हिंसक-प्रतिहिंसक प्रतिश्रुतियों से भरी पड़ी है, और दुर्भाग्यजनक तरह से न केवल इस प्रतिश्रुति को मान्य किया जाता है बल्कि उसका उत्सव भी मनाया जाता है। यह कविता है या राजनीति का खेला? जिस विचारधारा की राजनीतिक-साहित्यिक प्रभुता होगी, उस राजनीति की कविता श्रेष्ठ हो जाएगी, तो कविता किस पृष्ठभूमि में बिला जाएगी?

यदि यह आपकी राजनीति है, तो यह आपकी निजी राजनीति है। इस राजनीति से संचालित कविता आपकी निजी कविता है। यह कविता मेरे समय में मौजूद तो है, लेकिन यह मेरे 'समय की कविता' नहीं है। ठीक है, कविता अंततः एक निजी अभिव्यक्ति होती है, लेकिन वह कितनी उदात्ता से निजी के दायरे का अतिक्रमण कर सार्वभौमिक हो जाती है, यह कोई कहने की बात नहीं है। आज ही नहीं, बहुत पहले से ही पर्सनल पोएट्री की परंपरा रही है, बहुत सारी पर्सनल पोएट्री को बहुत बड़े पैमाने पर बहुत बड़े तबके के साथ कनेक्ट होते देखा गया है, यह पर्सनल का निर्बंधीकरण है, लेकिन पर्सनल पोएट्री में भी पर्सनल प्रतिहिंसा को वैध नहीं कहा जा सकता।

यहां मुझे सर्बिया का एक युवा कवि याद आता है। मैंने उसके बारे में किसी किताब में पढ़ा था। वह मनोरोगी सीरियल किलर था। हत्याएं करता, कविताएं लिखता। हत्या को सही ठहराने के लिए अपनी कविताओं में वह भावप्रवण तर्क करता। मरने वाले के चरित्र का ऐसा चित्रण करता

कि पाठक को यकीन हो जाए कि ऐसे व्यक्ति की हत्या कर देना ही उचित है। निश्चित ही, वे उसकी पर्सनल कविताएं थीं, पर क्या काव्य व जीवनमूल्यों के आधार पर उन कविताओं को मान्य किया जा सकता है? बिलकुल नहीं। किंतु जब दुनिया में मनोरोगी सीरियल किलर्स का बाहुल्य हो जाएगा, हत्या को वैध बताने वाली उस कविता से कई लोग कनेक्ट होंगे, तो क्या उस कविता को मान्य-महान कह देंगे? संभव है, कह दें। बाहुल्य का प्रताप है।

हिंदी की जिस कविता का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उसमें मौजूद प्रतिहिंसा पर्सनल भी नहीं है।

यह एक राजनीतिक रूढ़ 'कवि-समय' से निकली कविता है, जो उस 'कवि-समय' को और रूढ़ कर देती है। यानी यह अकेली, अपवाद जैसी कविता नहीं है। इस कविता का हिंदी में बेहद अनुकरण हुआ और आज की कविता में भी इसके अंशावशेष पाए जा सकते हैं। इनके कारण हिंदी के गंभीर साहित्य में 'मास मीडिया कवि' की उपस्थिति प्रबल हुई है। यह 'मास मीडिया कवि' हिंदी के मंचीय कवियों जितना लोकप्रिय तो नहीं, लेकिन फिर भी लोकप्रियता के तत्व उसकी कविता को प्रभावित करते हैं। हिंदी में ये कवि हर जगह आगे खड़े हैं, इनकी कविताएं सरल को सरलीकृत ढंग से दिखाने को प्रचलन में लाती हैं। ये बार-बार मांग करते हैं कि कविता को सरल होना चाहिए; कि सरल कविता लिखना बेहद कठिन काम होता है और ये कठिन काम कर रहे हैं; इनकी मांग होती है कि किसी भी कविता का अर्थ उसके पहले पाठ में ही पूर्णतः स्पष्ट हो जाना चाहिए; कि ये बार-बार खुद को गालिब-निराला-मुक्तिबोध की परंपरा का कवि बताते हैं और जरा-से कठिन से भी उबकाई भरने लगते हैं; उनकी काव्य-दृष्टि की आंते इतनी कमजोर होती हैं कि वे सतत सुपाच्य की खोज में रहते हैं; इनके पास हर स्थिति के लिए डायलॉगबाजी जैसा एक वाक्य होता है, बकौल पुराने किंवा नए आलोचक, जैसे ही कविता में यह वाक्य छूटता है, कविता एकदम से अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है। (भले अपनी समग्रता में हिंदी कविता सिर के बल खड़ी हो जाए।) आठवें व नौवें दशक में लिखी गई कई कविताएं सरल को सरलीकृत ढंग से प्रस्तुत करने का अप्रतिम उदाहरण हैं। जमीनी यथार्थ से मुठभेड़ का दावा करने वाली यह कविता अपने लिए एक काल्पनिक यथार्थ का सृजन करती चलती है जैसे तानाशाह के आसपास बहुत सारी कविताएं लिखी गईं। ज्यादातर कवियों की वोकाबुलेरी में तानाशाह जैसा शब्द कम से कम एक बार जरूर आया। आजाद भारत के छह दशक छोटे-से इतिहास में कोई तानाशाह गद्दीनशीं नहीं दिखा, लेकिन हिंदी कविता में इतनी बार तानाशाह आता है कि लगता है, भारत में तानाशाही व्यवस्था चल रही है। लोकतंत्र में अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य महत्तम है, इसीलिए वे तानाशाह पर कविताएं लिख पाए। सच में तानाशाही होती, तो वे अपनी कविताओं में ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर पाते। हिंदी कविता ने बहुत कुछ पश्चिम से अर्जित किया है, जिसमें इस शब्द का कविता के भीतर प्रयोग का सलीका भी शामिल है। दरअसल, पूर्वी यूरोप, निष्कासित-निर्वासित सोवियत कवियों और लातिन अमेरिकी तानाशाहियों के खिलाफ लिखी गई 'प्रतिरोध की कविता' से हिंदी कविता गहरे तक प्रभावित हुई। उनसे हिंदी का कवि शायद दुखी हुआ होगा कि हमारे यहां तानाशाही क्यों नहीं? होती, तो हम भी उसी तरह प्रतिरोध करते। मूल में प्रतिरोध की इच्छा थी, तो तानाशाह की जरूरत ही क्या? सो, तानाशाह की एक काल्पनिक उपस्थिति तैयार कर दी गई और प्रतिरोध शुरू हो गया।

विराट मानवीय दमन, विराट प्रतिरोध के अवसर हैं। जैसे हिंदी में विभाजन पर बड़ा साहित्य नहीं रचा जा सका, उसी तरह इमर्जेसी पर भी बड़ा साहित्य नहीं आया। जबकि इमर्जेसी लगाकर लगभग ढाई साल तक एक महिला प्रधानमंत्री लगभग तानाशाह का बाना ओढ़े रही। काल्पनिक यथार्थ की सृष्टि कर उसकी जमीन पर प्रतिरोध में मुब्तिला हिंदी कवि को इतनी फुरसत नहीं मिल पाई कि वह अपनी कविता में मात्रा का ही परिवर्तन कर देता, आ की जगह ई की मात्रा लगा लेता : 'तानाशाह कहता है' की जगह 'तानाशाह कहती है' जैसा मामूली संशोधन भी कर लेता, तो भी कुछ मायनों में वह असल यथार्थ की जमीन पर आ जाता। पर वैसा भी नहीं हो पाया।

लोकतांत्रिक दायरों में रहकर भी सत्ता किस तरह दमन करती है, इसके कई प्रसंग संक्षिप्त नजदीकी इतिहास में है, लेकिन कवि की नजर वहां तक भी नहीं पहुंच पाई।

कविता में भारतीय जमीन, विदेशी जमीन जैसा अलगाव में नहीं मानता। ये सारी बातें सिर्फ इसीलिए कहीं हैं कि यह पीढ़ी बार-बार यह दावा करती है कि उसने जमीनी यथार्थ की कविता रची है। यदि इस तरह के दावे न हों, तो कभी भी काल्पनिक यथार्थ को प्रश्नांकित नहीं किया जा सकता। काल्पनिक यथार्थ भी यथार्थ-चित्रण का एक महत्वपूर्ण अंग है। कवि स्वभावतः विश्व-नागरिक होता है। वह देश और काल की सीमा से परे चला जाता है। इसमें आपत्ति जैसी कोई बात नहीं, यह कविता का एक मान्य उपकरण है। खुद राजशेखर ने इस तरह की प्रवृत्ति को 'कवि-समय' से भिन्न माना है।

बशर्ते वह कविता ऐसे काल्पनिक यथार्थ का भार वहन कर सके। कविता तमाम किस्म के भार वहन करती है। कवियों का वह गद्य जो कविता के साथ संवाद करता है, और पिछले तीस बरसों में वह प्रचुर-प्रकाशित है, उसे पढ़ा जाए, तो अंदाजा लग सकता है कि कवि, कविता से किस कदर उम्मीद करते हैं, उस पर कितनी मांगें चढ़ाए रखते हैं, छोटी-सी एक कविता, और उससे इतनी ज्यादा मांग? कई बार आश्चर्यजनक लगता है कि दुनिया के बेहतरीन कवि भी अपना आधा समय 'डिफेंस ऑफ पोएट्री' में खर्च करते हैं। कविता को इतने डिफेंस की जरूरत है, इसी से अंदाजा लग जाता है कि कविता कितने संकट में है। या शायद यह दबाव का रूमान है? दुनिया में किसी को इस बात की चिंता नहीं है कि आप कविता में क्या करते हैं, क्या नहीं करते। बुरी कविताओं के खिलाफ कोई जुलूस तो नहीं ही निकलता। कवि अपनी-अपनी तरह से अच्छी कविता, बुरी कविता रचने के लिए स्वतंत्र है। साठ-सत्तर साल पहले तक राज्य को तीखी कविताओं से फिक्री हो जाती थी, वह तिलमिला जाता था, लेकिन पूंजी के इस पुष्ट काल में उसे कोई चिंता नहीं। संभवतः वह मान चुका है कि कविता, जो इस समय जैसी है, (या साहित्य) उसे कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकती। विकसित देशों में सत्ता का तंत्र इतना मजबूत हो चुका है कि अब साहित्य को ताड़ा नहीं जाता। ताड़ने के जो उदाहरण अब भी आते रहते हैं, उनमें धार्मिक भावनाओं के आहत होने मात्र का जोर रहता है और वे अमूमन उन जगहों से आते हैं, जहां धर्म, सत्ता-शक्ति-विमर्श का अनिवार्य अंग है। ऐसी तमाम चीजों के बाद भी कविता-कर्म-व्यापार चल रहा, तो यही लगता है कि कोई भीषण दुर्व्यवस्था हमारी रक्षा कर रही।

जिस कविता की फिक्र कोई नहीं करता, वह कविता सभी की फिक्र करती है। उसका कवि अपने काव्येतर लेखन में उन तमाम चीजों की फेहरिस्त बनाता चलता है, जो उसकी कविता पर किसी किस्म का दबाव बनाती हों। वह कवि अब भी उम्मीद करता है कि कविताएं किसी न किसी तरह

बदलाव का कारण बनेंगी, वे मनुष्य को थोड़ा और मनुष्य बनने का सलीका व सलाहियत देंगी। छोटे-से अपने बौद्धिक जीवन में मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला, जिसने कहा हो कि फलां कविता ने उसका जीवन बदलकर रख दिया। शायद जिनका बौद्धिक जीवन ज्यादा लंबा हो, जिनका काव्य-व्यवहार-अनुभव कहीं चौड़ा हो, उन्हें इस तरह के अनुभव हुए हों। कविताओं ने लोगों को आनंदित किया, उन्हें किस्म-किस्म की अनुभूतियां दीं- यह सब पता चलता रहता है। पाठक को खुशी से भर दिया, या निराशा में डुबो दिया जैसी कई बातें। कैसी भी अनुभूति हो- खुशी की, निराशा की, सुख या दुख की, चिंता या बहस की, स्फुरण या अनिद्रा की, यदि व्यक्ति स्वेच्छा से उसकी ओर बढ़ता है, तो यह उसका आनंद है। यहां आनंद का अर्थ व्यापक है। कविता व्यापक अर्थ वाला यही आनंद देती हैं। अधिकतम यह आनंद। उससे ज्यादा वह कुछ नहीं देती, लेकिन कवि, कविता से इस आनंद को छोड़कर बाकी सभी उम्मीदें लगाए रखता है। संभवतः यह आधुनिक काल की उपज है और हिंदी में पिछले चालीस-पचास बरसों में यह प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी है कि कविता, और प्रकारांतर से कवि को, मसीहा की तरह देखा जाए। एक सुधारक की तरह। मैं इतिहास के कई मसीहाओं और सुधारकों को देखता हूं, और यकीनन, उन्होंने किसी न किसी स्तर पर समाज के एक तबके के सुधार या परिवर्तन में भूमिका भी निभाई है, लेकिन उनमें से कोई भी कवि या लेखक नहीं दिखता। बुद्ध से लेकर गांधी तक, कोई भी लेखक नहीं था। ये सभी वक्ता थे।

कवि और कविता से यदि सुधारक होने की उम्मीद की जाएगी, तो वह समाज कविता-च्युत होता जाएगा। कविता सवाल को प्रस्तुत कर सकती है, वह एक सवाल के खिलाफ दूसरा सवाल खड़ा कर सकती है, लेकिन वह कभी भी जवाब प्रस्तुत नहीं करेगी। कविता द्वारा प्रस्तुत किया गया जवाब यथार्थ के साथ किया गया छल है। यह शोचनीय है कि हिंदी में वरिष्ठ कहलाने वाले कई आलोचक भी अपनी समीक्षाओं-लेखों में यह समस्या गिनाते रहते हैं- 'आज की कविता में परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण तो है, लेकिन यह कविता विकल्प या परिवर्तन का कोई मॉडल प्रस्तुत नहीं करती।' वरिष्ठ ही क्या, युवा आलोचक-समीक्षक भी इसी का अनुकरण करते जान पड़ते हैं। (फिर वही, अनुकरण के 'कवि-समय' की प्रवृत्ति।)

यदि कविता सच में विकल्प का कोई मॉडल लेकर चलती, तो अब तक वह अपनी जिल्द से निकल समाजशास्त्र और नागरिकी की जिल्द में समा चुकी होती।

दांते-शेक्सपीयर को कोई सुधारक के रूप में चित्रित नहीं करता, कबीर को लोग सुधारक के रूप में दिखाना चाहते हैं। यदि वह सुधारक थे, तो उन्हें पढ़कर अब तक किसी को तो सुधर जाना चाहिए था। वह समाज की तीखी अलोचना करते थे। कवि यह कर सकता है। इस आलोचना के स्वप्न में सुधार का लक्ष्य भले हो सकता है, कर्म में सुधार का लक्ष्य नहीं। कर्म में कविता है। यह सूरत बदलनी चाहिए में बदलाव का स्वप्न है। यह स्वप्न भावोत्तेज पैदा करता है, जो कि कविता के अनिवार्य गुणों में से है। 'जीवनपथ में मूल्यवान होकर सहायक होने की मांग' भी किंचित भावोत्तेज ही है। यदि इस मांग को ही मुख्य मांग बना लिया जाए, तो वह सूक्ष्म उपयोगितावाद को पैदा करेगी। कालिदास की *अभिज्ञान शांकुतलम* को पढ़-पढ़कर सराहने वाला, उससे संवेदित होकर खुद को थोड़ा और मनुष्य अनुभूत करने वाला व्यक्ति भी अपनी प्रेमिका को विस्मृति के भंवर में डुबोए छोड़ सकता है। *अपराध और दंड* पढ़कर, उससे संवेदित होने वाले व्यक्तियों ने भी हत्याएं की हैं। 'जीवनपथ

में मूल्यवान होकर सहायक होने की मांग' न केवल उपयोगितावाद को बढ़ावा है, बल्कि मसीहावाद की उत्प्रेरक भी है।

यह तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों का शगल है कि वे अपने बौद्धिक-साहित्यिक नायकों में सुधारक का पक्ष निवेश करते हैं। यह कविता के गलत आस्वादन की रूढ़ि के विकास का पोषण है। यह आनंद के उस मूलभूत उत्सर्जन के मार्ग में अवरोध है। कविता ने इसके अलावा कोई और मांग पूरी नहीं की, पिछली तीन सहस्राब्दियों से। वह आगे ऐसी मांग पूरी करेगी, संदेह है किंतु दबाव का रूमान बना रहेगा। उससे और कुछ भले न हो, कविता की अप्रोच और रेंज को विस्तार मिलता रहेगा। इसीलिए कवि को तमाम प्रेरणाओं को प्रश्नांकित करते रहना चाहिए।

कविता की प्रक्रिया में प्रेरणा-शक्ति की क्या भूमिका है, इस पर अलग-अलग विचारों के स्कूल हैं। कई सारे कवि अब भी मानते हैं कि कविता की एक प्रेरणा होती है। चेस्वाव मीवोश तो जीवन-भर यह बात कहते रहे कि वह कविता खुद से नहीं लिखते, वह किसी डायमोनियन या प्रेरणा के प्रभाव में रहते हैं। उनके भीतर कविता का आवेश वही करती है। वहीं, पॉल वैलरी जैसे कवि, जिनके अपॉरमिज्म्स का दुनिया में भरपूर सम्मान है, कहते रहे कि कविता के लिए किसी प्रेरणा-शक्ति की जरूरत नहीं होती, कविता एक सुगठित दिमाग की रचना है।

प्रेरणा को किसी शक्ति के रूप में लिया जाए, या किसी बाहरी घटना के रूप में, किसी न किसी उत्प्रेरण से कविता घटित होती है, यह सभी मानते हैं। प्रेरणा बेहद सब्जेक्टिव किस्म की खोज है, इसलिए इस बारे में हर कवि की राय अलग होती है।

चाहे प्राचीन ग्रीक या रोमन कविता हो या प्राचीन संस्कृत कविता, ज्यादातर कवि, प्रेरक-देवियों का प्रभाव बताया करते थे। होमर ने *ओडिसी* और *इलियड* की शुरूआत अपनी पसंदीदा म्यूज से संवाद के रूप में ही की है। कविता की दस प्रेरक-देवियों में से एक, कलीपी उनकी म्यूज थी। ऐसा माना जाता है कि एकांत में वह उससे संवाद कर सकते थे। उसी तरह सैफो, जो प्रेम कविताओं की भावप्रवण कवि थी, अपनी म्यूज एरातो से संवाद करते हुए अपनी कविता शुरू करती थीं। एरातो, प्रेम व काम के देव इरोस का स्त्री-रूप है।

संस्कृत और हिंदी में यह स्थान सरस्वती को मिला है। संस्कृत के लगभग सभी कवि अपने काव्य की शुरूआत देवी सरस्वती के मंगलाचरण से किया करते थे। आधुनिक हिंदी कविता तक यह परंपरा चलती आई, लेकिन जिस तरह बीसवीं सदी की विश्व-कविता में प्रेरक-देवियों को श्रेय देने का चलन कम हुआ, हिंदी में भी निराला की 'वीणा-वादिनी वर दे' के बाद यह चलन कम होता गया। अब की हिंदी कविता में इस तरह का कोई भी मंगलाचरण कवि को निश्चित ही उपहास का पात्र बना देगा किंतु फिर भी प्रेरणाएं होती हैं, व्यक्त या अव्यक्त रूप में। उसे देवी या शक्ति न मानकर कोई घटना, स्थिति, उत्प्रेरण या कारक के रूप में देखा जाता है। कई बार यह बेहद अमूर्त होती है और कई दफा बेहद मूर्त। राजनीति और विचारधारा भी एक किस्म की प्रेरणा हैं।

प्रेरणा के बारे में बात करते हुए मैं दंडी और विज्जिका का उदाहरण देना चाहूंगा। सातवीं सदी के संस्कृत महाकवि दंडी ने काव्यशास्त्र पर लिखी अपनी पुस्तक *काव्यादर्श* की शुरूआत भी सरस्वती की वंदना से की है। उनके पहले श्लोक का अंतिम पद है :

चतुर्मुखमुखाभोजवनहंसवधूर्मम
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ।

(हंस पर विराजमान चार मुखों वाली, पूर्णतः सफेद रंग वाली, हे देवी सरस्वती, तुम मेरे मन में निवास करो।)

विज्जिका (संस्कृत नाम- विजया) कर्नाटक में रहने वाली संस्कृत कवि थीं। वह संभवतः दंडी के तुरंत बाद की पीढ़ी की थीं। जब उन्होंने दंडी का यह श्लोक पढ़ा, तो उसके जवाब में लिखा :

नीलोत्पलदलश्याम विज्जिकां मामजानता
वृथैव दंडिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती ।

(मेरा रंग उतना ही काला है, जितनी नीलकमल के फूल की पंखुडियां। दंडी मुझे नहीं जानता। अगर जानता होता, तो वह सरस्वती को सर्वशुक्ला या पूर्ण सफेद नहीं लिखता)

आम मान्यता है कि सरस्वती का रंग गोरा है, वह पूरी तरह सफेद के आवरण में रहती हैं, उनकी समस्त प्रिय चीजें सफेद रंग की ही होती हैं, इसीलिए सरस्वती को सर्वशुक्ला या सर्वशुभ्रा कहा जाता है। प्राचीनतम ग्रंथों में तीन तरह की सरस्वती मिलती हैं। शुक्ल सरस्वती, नील सरस्वती और पीत सरस्वती। शुक्ल सरस्वती को ज्ञान-रूपा शक्ति, नील सरस्वती को क्रिया-रूपा शक्ति और पीत सरस्वती को इच्छा-रूपा शक्ति माना जाता है। कवि ज्ञान के आराधक होते हैं। परंपरा और रूढ़ि दोनों से ही भारतीय ज्ञानोपासक, ज्ञानयोगी रहे हैं। इसीलिए कवियों ने शुरू से ही शुक्ल सरस्वती को महत्त्व दिया, उसी के लिए मंगल-गान किया और बाकी दोनों सरस्वतियों को पृष्ठभूमि में डाल दिया। ये दोनों सरस्वतियां जटिलतम तंत्र-शास्त्र में चली गईं। साहित्य और कला में शुक्ल सरस्वती का परचम बुलंद रहा इसीलिए सरस्वती सफेद हो गईं।

लेकिन मुद्दा यहां दंडी और विज्जिका का है। उनके श्लोक-संवाद के कई अर्थ निकलते हैं। यह भारतीय साहित्य में रंगभेदी टिप्पणी पर ली गई आपत्ति है। यह गौरवर्ण को श्रेष्ठ बताने, उसे साहित्य की अधिष्ठात्री घोषित करने पर एक मुखर महिला द्वारा उठाई गई उंगली है। विज्जिका एक तरह से यह कह देती है कि यदि दंडी सच में सरस्वती को जानते होते, जोकि मैं खुद हूं, तो वह उसे शुक्ला नहीं कहते। शायद वह उसे रंग में परिभाषित करने की कोशिश भी नहीं करते। यह ऐतिहासिक और महान आपत्ति है। इससे यह भी पता चलता है कि सबकुछ निर्विवाद नहीं था और अपनी पसंद से आराध्यों तक का रंग निर्धारित कर देने वाली ताकतवर सत्ता के खिलाफ एक स्त्री खड़ी हो सकती थी, वह उस सत्ता का उपहास कर सकती थी। मखौल उड़ाते हुए यह गर्वीली स्त्री कहती है- तुम्हारा रंग नहीं चलेगा, दंडी!

इसे यदि तत्त्व रूप में देखा जाए, तो कह सकते हैं कि दंडी जिस तत्त्व को (यानी शुक्ल सरस्वती में छिपे ज्ञान को) अपनी प्रेरणा बताते हैं, विज्जिका उसे दंडी का अज्ञान कहती है। वह उन्हें किसी और तत्त्व को (नील सरस्वती में छिपी क्रिया-शक्ति को) प्रेरणा बनाने की सलाह देती है।

यह प्रेरणा का प्रश्नांकन है। किसी की प्रेरणा पर प्रश्न करना उसकी काव्य-दृष्टि पर प्रश्न करना है। काव्य-दृष्टि का विकास जिन सारे उपादानों से होता है, उन सब पर प्रश्न करना है। विज्जिका, दंडी की प्रेरणा के साथ-साथ वृहत्तर रूप में उनकी काव्य-दृष्टि पर प्रश्न करती हैं। इसीलिए मैंने ऊपर कहा कवि को तमाम प्रेरणाओं का प्रश्नांकन करते रहना चाहिए। सिर्फ अपनी ही प्रेरणा का नहीं,

बल्कि अन्य कवियों की प्रेरणाओं का भी।

चाहे राजनीतिक विचारधारा हो, चाहे सामाजिक शिरकत, चाहे गहन अध्ययन, चाहे एकांत का मनन- काव्य-दृष्टि का विकास जिस भी चीज से होता है, उस पर प्रश्न करते रहना। अपनी काव्य-दृष्टि को भी प्रश्नांकित करते रहना। अपनी काव्य-दृष्टि खुद कवि के लिए भी कभी निर्विवाद नहीं हो सकती।

दंडी की प्रेरणा पर विज्जिका ने जिस तरह प्रश्न किया है, कुछ वैसा ही प्रश्न मुक्तिबोध भी करते हैं :

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि जो तुम्हारे लिए विषय है, मेरे लिए अन्न है।

अपनी प्रेरणाओं (व काव्य-दृष्टि) को सतत प्रश्नांकित करने की प्रेरणा अगर इन तीन पंक्तियों से भी ले ली जाए, तो हिंदी कविता अपने कई रूढ़ 'कवि समयों' को तोड़ सकती है। उन 'कवि-समयों' को भी, जिनका उल्लेख इस लेख में नहीं हो पाया।



समकालीन कविता का (निजी) पाठ

प्रभात त्रिपाठी

इस आलेख में मैं कुछ कवियों की कुछ कविताएं पढ़ने की कोशिश करूंगा। कविता के इस पाठ के अनुभवों को लिखने का प्रयत्न ही इस पाठ का प्रयोजन है। इस आलेख में पढ़ने का मेरा अपना तरीका, हर पंक्ति और शब्द की व्याख्या करने का नहीं होगा, हालांकि मुझे लगता है, कि यही तरीका समकालीन ही नहीं किसी भी कविता के 'पाठ' की अधिक विश्वसनीय सार्थकता का अनुभव पाठक के मन में जगाता है। पर यह मेरी सीमा है कि व्याख्या के इस जटिल कठिन रास्ते पर, चलना मेरे लिए संभव नहीं होगा। कवि की विशिष्ट कविता से शुरू करते हुए भी थोड़ी स्वेच्छाचारिता के साथ, कविता के अर्थ और अनुभव के कई रास्तों व पगडंडियों पर गुजरने की इस कोशिश में दूसरी कई कविताओं की स्मृतियां भी सहज भाव से शामिल होती रहेंगी, यह समकालीन कविता पर लिखने की सोचते ही अनुभव होने लगा है। शायद यह पाठ, उस तरह का घनघोर वस्तुपरक पाठ नहीं हो पाएगा, जैसा सांस्थानिक स्तर पर सारे विश्व में जारी काव्य-पाठ के विविध उपक्रमों जारी है, और जिसके अलावा कविता के हर पाठ को कुपाठ की तरह देखा जाता है। कोशिश करूंगा कि कविता के ऐसे कुपाठ से बचूं जो शब्द के अर्थ को अनर्थ की ओर ले जाता लगता हो, लेकिन अंतरात्मिक स्तर पर एक गहरी निरर्थता की अनुभूति तो अंततः कविता की सार्थकता के साक्ष्य की तरह ही लगती है, जैसे शब्दों के बीच की जगह का मौन हो, सन्नाटा हो, आवाजों के बावजूद मानवीय भाषाओं की अर्थवत्ता से परे की कोई चीज, जिसकी गूंज भर लिखने के लिए कवि ने यह शब्द लिखे हों, और जो अंततः शब्दों की इस दुनिया को मानवीय संबंधों की सर्जनात्मकता से जोड़ने में अहम भूमिका निभाती हो- कोशिश करूंगा कि उस गूंज के अनुकरण के रास्ते कुछ शब्द लिखूं।

मुझे लगता है कि शीर्षक में 'निजी' शब्द के कोष्ठक में रखे जाने का कोई मतलब नहीं है। पढ़ने के बाद लिखने का मतलब ही है उसे निजी से सार्वजनिक करना। दरअसल भाषा में आने का मतलब ही, उस संसार से जुड़ जाना होता है, जो निरपेक्ष तौर पर अपना या निजी नहीं होता। दरअसल यूं भी आदमी अहंकारवश यह सोचता है कि यह उसकी निजी है, या वह एकदम ही अलग अकेला कोई अद्वितीय व्यक्ति है। एक आदमी के भीतर, वयस्क होने के दौरान वंशानुगत ही नहीं, बल्कि अन्यथा रास्तों से आने वाले बहुत सारे आदमी, अभी के, और कभी किसी सुदूर काल के, भरे ही होते हैं। शायद यह कोष्ठक वाला शब्द मैंने सिर्फ इस उद्देश्य से लिखा है कि अपने इस पाठ से मैं समकालीन कविता के बारे में कोई या कुछ सामान्य सिद्धांत जैसी बातें नहीं लिखने जा रहा हूं। पढ़ते हुए लिखने की, शब्दों के साथ कुछ देर रहने की, एक कोशिश भर है यह आलेख, और

पहले से यह भी पता है, पिछले अनुभवों के कारण, कि कतई विफल कोशिश होगी यह। जो हो, कविता के बारे में लिखे गए ये शब्द अनंतिम और अंतरिम हैं।

जब मैं समकालीन कविता पर सोच रहा हूँ, तो यह महसूस कर रहा हूँ कि समकालीन कवि (व्यक्ति) तो मोटामोटी एक अर्थ देता है, पर कविता सुनते या कहते ही लगता है, कविता के शब्द तो बहुत प्राचीन हैं, भले हम उनका इस्तेमाल अभी और आज कर रहे हों। दूसरे यह भी लगता है, शुद्ध इतिहास की दृष्टि से प्राचीन से प्राचीन कवि को अगर हम आज पढ़ते हैं तो उसी ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीनतम कवि का कोई पाठ भी समकालीन हो ही जाता है, बशर्ते की हमारा पाठ प्राचीन टीकाओं और व्याख्याओं की पुनरावृत्ति भर न हो। मुझे लगता है कि कविता को समकालीन कहने की बात थोड़ी फिसलन भरी है क्योंकि हम समकालीन को अगर सुपरिभाषित सीमित संकुचित कर भी दें, तो कविता में आने वाले प्राचीन शब्दों को भी, अपने इरादों और प्रयोजनों द्वारा जकड़ने-बांधने का आयोजन करते हैं। तब हम कविता के विषय में कम, और समकालीन के विषय में ज्यादा सोचने-विचारने लगते हैं, जबकि हमारे पाठ के दौरान, हमारे बिना सोचे-विचारे भी, हमारे अपने भीतर तरह-तरह के रूपों में, यह समकालीन तो रहेगा ही, बशर्ते कि कविता हमारा ऐसा कायाकल्प न कर दे कि हम उस प्राचीन शब्द की तरह ही बाहर भीतर से, कविता जितने ही प्राचीन न हो जाएं।

मुझे लगता है कि समकालीन शब्द पर जोर देने का कोई ज्यादा मतलब नहीं है, क्योंकि मैं कुछ कविताएँ पढ़ने जा रहा हूँ।

पहली कविता मुक्तिबोध की है। लिखने के पहले दो सूचनात्मक बातें यह कि मैं मूलतः 'चकमक की चिनगारियां' शीर्षक कविता के पाठ को लिख रहा हूँ, पर कोई उद्धरण शुरू में नहीं दे रहा हूँ। पाठ के अनुभव को लिखने की इस कोशिश के दौरान कुछ दूसरी कविताओं की भी याद आ सकती है।

यों तो किसी भी सार्थक कविता में लेकिन खासकर मुक्तिबोध की इस कविता का पहला मन में बचा रह जाने वाला अनुभव यही है, कि मुझे लगा था कि इसे पढ़ते हुए मैं इस दुनिया में नहीं था। कविता के शब्दों ने जो संसार रचा था, वहाँ रहने के उन पलों का अनुभव, रोजमर्रा के अपने होने के अनुभवों से बहुत अलग था, बल्कि यह भी लगता था कि रोजमर्रा के सामाजिक जैविक जीवन के सामान्य अनुभव, और संसार की दूसरी गतिविधियों के होने को कविता ने जैसे कुछ इस तरह रूपांतरित कर दिया था, कि वास्तविक जीवन की ऊब और बोरियत, और दूसरी दुनियावी पीड़ाएँ एक तरह की सर्जनात्मक बेचैनी में बदलती सी लग रही थीं। लगता था, जैसे पाठ पूरा हो जाने के बाद भी कुछ शब्द, कुछ बिंब पुकार रहे हों, कि फिर से पढ़ो, फिर से गढ़ो अपने मन में हमारी छवि। दूसरी तरफ यह भी लग रहा था कि विचार सार की प्रखरता के बावजूद यहाँ ऐसे शब्दों की भरमार है, कि जो शब्द हमें तरह-तरह से पढ़ने गुनने के लिए उकसाते हैं। एक दूसरी थोड़ी बहा ले जाने वाली बात इन शब्दों के रखरखाव की लयात्मकता में है। अर्थ या संवेदना की लय ही नहीं, बल्कि वह परंपरागत लयात्मकता जो मुक्तिबोध की कई कविताओं में है। प्रमोद वर्मा ठेका देकर मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' पढ़कर सुनाते थे। थोड़ी जटिल तालबद्धता होती थी, पर वहाँ भी 'राह के पत्थर ढोकों के अंदर पहाड़ों/पहाड़ों के झरने तड़पने लग गए/मिट्टी के लोंदे के भीतर/भक्ति की अग्नि का उद्रेक

भड़कने लग गया' जैसी कुछ पंक्तियों की लय की रवानी थोड़ी तीव्र, थोड़ी सहज हो जाती है।... . तो उस तरह की एक सहज लयात्मकता का प्रभाव भी इस कविता का पड़ता है, जिससे आप इसको इसकी आर्थी रैखिकता से अलग एक प्रभविष्णु अमूर्तता में देखते हैं, बावजूद इसके कि दो टूक शब्दों में यहां इसके केंद्रीय प्रयोजन और विचार को व्याख्यायित और रेखांकित करने की कोशिश की गई है। दूसरी तरह से सोचें तो यह कि इस कविता में मुक्तिबोध 'क्या' कह रहे हैं, इसका तो सहज सारांश किया जा सकता है, 'निज में ही सिकुड़ते सिफर होते' आत्म को आत्मविस्तार की संभावना की ओर ले जाती यह कविता, अंततः उनकी अनेक कविताओं की तरह ही वैश्विक मार्क्सवादी स्वप्न को विचार सार की तरह स्वीकार करती है कि मुक्तिकामी लोक सेनाओं के साथ एकमेक होकर अपना पक्ष और अपना वर्ग तय करके ही वह सार्थक आत्म विस्तार संभव है। शायद इसीलिए, इस कविता से कई बार यह पंक्ति उद्धृत की गई है कि 'अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते।'

पर कविता के पाठ का मेरा अनुभव कुछ और कहता है। मुझे लगता है कि आत्मग्रस्त और आत्मसीमित जीवन की इस बेचैनी को, महज उनके निष्कर्षों से नहीं समझा जा सकता। कविता से गुजरते हुए उसकी दीर्घता में मौजूद आकस्मिकता और नाटकीयता के झटकों को महसूस करते हुए ही, हम कविता के स्तर पर इसके प्रभाव को अपने अनुभव का हिस्सा बनाते हैं, बल्कि कई बार व्याख्या या आदर्श या केंद्रीय प्रयोजन की याद दिलाती पंक्तियां, उस बेचैनी की मार्मिकता को थोड़ा न्यून करती हुई लगती हैं, कि जिस बेचैनी के चलते, वे न सिर्फ यह कविता लिख रहे थे, बल्कि जिसके लिए उन्होंने कवि-कर्म का, शब्द-कर्म का वरण ही किया था। वे उस अनुभाविक निरंतरता से जारी अपनी निजी बेचैनी को एक विशाल जन-जीवन के संघर्ष से जोड़ने का काम, मुक्तिकामी सेनाओं के हथियारों से नहीं कर रहे थे, बल्कि कविता के औजारों से, कविता के विशिष्ट मोर्चे पर कर रहे थे, और निश्चय ही इसमें भारत में जारी जन-संघर्ष और मुक्ति आंदोलन के मार्क्सवादी यूटोपिया की एक प्राणमय ऊर्जा थी, लेकिन यह किसी वास्तविक जन आंदोलन की भाषा में उद्बोधन और आह्वान की कविता नहीं थी, बल्कि हिंदी कविता की परंपरा में, उसके काव्य संस्कार में ऐसा कुछ जोड़ने की एक सर्जनात्मक कोशिश थी, जहां गूंगों, असमर्थों, शोषितों की पीड़ा के स्वर, कवि के आत्म के स्वर से एकमेक हो जाएं।

चूंकि मेरा इरादा कविता के ऐसे किसी कठिन पाठ का नहीं है, जहां मैं पंक्ति दर पंक्ति पढ़ते आगे बढ़ूं, इसलिए गुड़ल सारांश की तरह यह कहना चाहता हूं कि सिर्फ इस कविता को नहीं, बल्कि किसी भी कविता को, कविता में 'क्या' है या 'यह' है कि तरह नहीं पाया जा सकता, बल्कि कैसे है, किस रूप में है, क्या यह रूप, निरा रूप है, या उसमें अशेष रूपकत्व की संभावनाएं हैं- जैसे सवालों से पाया जाता है। शायद मुक्तिबोध की कविताओं की यह एक थोड़ी विलक्षण रोचकता है, कि निष्कर्षात्मक विचार के बावजूद, यह कल्पना की गति, बिंबों की भास्वरता शब्दों के रूपकत्व और संवेदना की सांद्रता की जटिल संरचना में व्यक्त होती है। संभवतः अपनी कविता के इन्हीं गुणों के कारण वे बाद की पीढ़ी में, मार्क्सवादियों और मार्क्सवाद विरोधियों दोनों के बीच समादृत रहे हैं। आज भी लगभग विरोधी विचारधारा के लेखक समान भाव से उनकी कविताओं को प्रासंगिक और अपने लिए निजी तौर पर प्रेरक कविताओं की तरह ग्रहण करते हैं।

दूसरी कविता कुंवर नारायण की है। पहले ही स्वीकार कर लूं कि कुंवरजी की बहुत सारी

कविताएं मैंने नहीं पढ़ी हैं। बहुत पहले मैंने *आत्मजयी* पढ़ी थी। अभी मेरे पास उनकी दो कुछ पुरानी कविता पुस्तकें ही हैं। *कोई दूसरा नहीं* और *इन दिनों* की ये कविताएं भी मैंने हाल में ही पढ़ी हैं। पत्र-पत्रिकाओं में कुछ कविताओं की झीनी स्मृति भी मन में है। यहां जो कविता पंक्तियां उद्धृत कर रहा हूं वे, 'अगर इंसान ही हूं' शीर्षक कविता से ली गई हैं-

तो फिर आप ही बताइए
अगर मेंढक नहीं हूं
तो कैसे रह रहा हूं कुएं में?
अगर चूहा नहीं हूं
तो यह बिल किसका है?
अगर कुत्ते से बेहतर हूं
तो यह दुम किसकी हिल रही?
अगर चमगादड़ नहीं हूं
तो उल्टा कौन लटका है सदियों से
अँधेरे खंडहरों में?

यों तो कुंवर नारायण की इस कविता को पढ़ते हुए, संग संग कुछ और कविताओं की भी याद करते हुए, थोड़ा बहुत नई कविता के श्रीकांत, रघुवीर सहाय और कुंवर नारायण के दौर पर सोचते हुए, मुक्तिबोध की स्मृति की कोई तर्कसंगत प्रासंगिकता नहीं है, पर ये पंक्तियां पढ़ते हुए मुझे मुक्तिबोध की कुछ कविताओं की याद आई थी। अपनी स-तर्कता में मैं जानता हूं कि उस दौर की अधिकांश सार्थक कविताओं में, मुक्तिबोध की विचार-दृष्टि और उनकी काव्य-कल्पना का वैसा प्रभाव नहीं है, जैसा कि बाद के कुछ कवियों की अवधारणाओं और सोच विचार में। अज्ञेय का भी कोई गहरा और नजर में आने वाला प्रभाव वहां नहीं दिखता, पर ऐसा भी नहीं लगता कि बाद के दौर के कवियों ने मुक्तिबोध और अज्ञेय के विरोध में ही अपनी सर्जनात्मकता की दिशा तलाश की हो। यों भी आलोचना की एक इकहरी सी दिशा तो विरोध या समर्थन से मिल सकती है, पर सर्जना की दिशा तो पूर्व परंपराओं के अंतरात्मिक मूल्यांकन से ही मिलती है, खास कर शब्द में सर्जना की दिशाएं खोजते सर्जक के लिए तो 'समय' का एक आत्मविस्तारक अवबोध आवश्यक है। पर अंततः यहां पर जिक्र सिर्फ इस बात का कर रहा हूं कि कुंवर नारायण की इस कविता को पढ़ते हुए मुक्तिबोध की याद शायद 'खंडहर में उल्टे लटके चमगादड़' के बिंब के चलते आई थी। मुक्तिबोध की कविता, 'मेरे सहचर मेरे मित्र' नामक कविता में अपने समय की थोड़ी सहज सरल आलोचना करते, थोड़ा आदर्शोन्मुख ढंग से भावुक होते मुक्तिबोध लिखते हैं, 'मानव आदर्शों के गुंबद से आज यहां, उल्टे लटके चमगादड़ पापी भावों के।' यही नहीं 'दिमागी गुहा के ओरांग ऊटांग' का जिक्र भी वे आत्मालोचन के कुछ अधिक गहरे संदर्भ में करते हुए कहते हैं :

स्वयं की ग्रीवा पर
फेरता हूं हाथ
कि करता हूं महसूस
एकाएक गरदन पर उगी हुई

सघन अयाल और
शब्दों पर उगे हुए बाल
वाक्यों में ओरांग ऊटांग के
बढ़े नाखून।

जाहिर है कि इस अचानक स्मृति का कारण पशुत्व द्योतित करने वाले शब्द ही थे। मुक्तिबोध या कि कुंवर नारायण ने, अपने जीवन-जगत अनुभवों के संदर्भ में थोड़े भिन्न तरीके से, अपने अंदर के 'पशु' का जिक्र आत्मबखान की शैली में किया था, कथन की भंगिमा निश्चय ही शैल्पिक युक्ति की ओर ही इशारा करती है। लेकिन आखिर कुंवर नारायण ने क्या सचमुच ये पंक्तियां निरी आत्मभर्त्सना के स्वर में लिखी हैं? क्या इसका संदर्भ, या कि इसमें से फूटते इशारे, आत्मसीमित अनुभवों की ओर ले जाते हैं। कुंवर जी की इस कविता के बारे में यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि सामयिक जगत व्यवहार को, मानव-संबंधों की दुनिया में मौजूद आत्मबद्धता और आत्मकेंद्रित को, पहचानते हुए उन्होंने यह कविता लिखी है, और उनका 'मैं' एक तरह से उस पूरे उपभोक्ता-समुदाय के 'मैं' जैसा हो गया है, जो कि एक शरीर-सर्वस्व, जीवन को, 'खाओ-पियो और मौज करो' जीवन का चरम और लक्ष्य मानता है। वास्तव में तो बिरला ही कोई आदमी होगा, जो इस तरह के जीवन लक्ष्यों को ही जीवन मानता हो, लेकिन असीम उत्पादन और असीम उपभोग की इस सभ्यता ने, इस गलाकाट प्रतियोगिता ने एक विशाल वर्ग के जीवन को इन्हीं उद्देश्यों में सीमित कर दिया है।

लेकिन मेंढक, चूहे, कुत्ते और चमगादड़ की मौजूदगी पाठक को सहज भाव से यह अवकाश देती है कि वह इन बिंबों की व्यंजकता को, और उन्हीं में अंतःसलिल नैतिकता की अंतर्ध्वनि को, चाहे तो स्वयं अपने अनुभव के संदर्भ में पढ़े या फिर आज के संसार में मेंढक चूहे दुम हिलाते कुत्ते, और अँधेरे खंडहरों में उल्टे लटके, मुनष्यों की याद करते हुए।

किसी भी युग की कविता में 'वस्तुवर्णन' आत्मानुभूति का ही एक अंश बनकर आता है, या कि आ सकता है, अगर वह निरा वर्णनात्मक काव्य है, तब भी वस्तु संसार के अधिग्रहण की प्रक्रिया में ही एक तरह की आत्मिक हिस्सेदारी एक तरह का शब्द चयन, सक्रिय रहता ही है। कुंवर नारायण की इस प्रस्तुति में भी, मध्यवर्ग के दुम हिलाते घरघुसरे जीवन का एक अपेक्षाकृत बौद्धिक आत्मसातीकरण नजर आता है, उस तरह की बेचैन तकलीफ सी लगती भावना नहीं, जो मुक्तिबोध, तर्क-प्राण बौद्धिकों की अंदरूनी हिंसा को महसूस करते हुए लिखते हैं। कुंवर नारायण के यहां इसलिए ही आत्मलोचना से कहीं ज्यादा, इस तरह के देह-सर्वस्व आत्मरूढ़ लोगों की समीक्षा है। बेशक किसी तरह के अभियोग की तरह नहीं, बल्कि स्वयं अपने जीवन के कभी कभार को महसूस करते हुए अपनी हिस्सेदारी की, स्वीकारोक्ति के स्वर के साथ।

दरअसल कुंवर नारायण की यह कविता पढ़ते हुए मुझे उनकी एक और बहुत पुरानी कविता की याद भी आई थी, जिसमें उन्होंने आजाद भारत के शिष्ट मध्यवर्ग की देह-सर्वस्वता पर, उनके आत्मग्रस्त जीवन पर संयमित व्यंग्यात्मकता के साथ लिखा था। कविता की हूबहू पंक्तियां तो याद नहीं, पर शायद वहां 'आमाशय गर्भाशय' के आशयों में सिमटे जीवन की संयमित आलोचना थी। वास्तव में, 'आत्म' में मौजूद वस्तुजगत को आत्म की आलोचना के रास्ते, कविता में आयत्त करने की एक सुदीर्घ परंपरा हिंदी में मौजूद है। हिंदी की सार्थक आधुनिक कविता में उस परंपरा की

निरंतरता आज भी परिलक्षित की जा सकती है। 'बुरा जो देखन मैं चला, जागै अरु रोवै'- कहने वाले कबीर, चार चनों को चार पुरुषार्थों की तरह देखने वाले, और अब लौं नसानी अब न नसैहों कहने वाले तुलसी, तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल कहने वाले सूरदास से, आत्मदर्शन और आत्मालोचन की जो परंपरा चली आ रही है वह एक नई सभ्यता की टकराहट के साथ ही, कुछ नए रूपाकार जरूर लेती रही है, किंतु इन नए रूपों में भी अस्तित्व के गहरे अधूरेपन ओर उसे उत्तीर्ण करने का अदम्य संकल्प, काव्यानुभूति में विन्यस्त दिखाई देता है। मसलन इसी कविता की अंतिम पंक्तियों में दीमक और मच्छर के हवाले के साथ, जब कुंवर नारायण अगर इनसान ही हूं, कहते हुए अपमानित जीवन की पीड़ा को लिखते हैं, तो लगता है कि आज के भारत में रहने की वेदना के रास्ते ही उन्होंने यह अन्योक्तिमूलक भाषिक रूपाकार गढ़ा होगा।

कुंवर नारायण की कविताओं में आत्मदर्शन और आत्मालोचन में, महज सांसारिक अस्तित्व और भौतिक अपूर्णताओं की मध्यवर्गीय शिकायतों से जन्मी आलोचना ही नहीं है। कविता में विचार की जगह वो कविता की भाषा में खोजने की निरंतर चेष्टा करते कुंवर, के यहां संरचना और शिल्प की सुघड़ विविधता है। मनुष्य होने के केंद्रीय एहसास को मूल्यचेतना के स्तर पर जानने के लिए गले तक धरती में दफन, अचलता की स्थिति में भी कविता अनुभव की भाषा का रूपाकार रचती हुई कहती है :

अगर ओठ हूं
तो रख सकता हूं मुझाति ओठों पर भी
क्रूरताओं को लज्जित करती
एक बच्चे की विश्वासी हँसी का बयान
अगर आंखें हूं
तो तिल भर जगह में भी
वह संपूर्ण विस्तार हूं
जिसमें जगमगा सकती हैं असंख्य सृष्टियां
गले तक धरती में गड़े हुए भी
जितनी देर बचा रह पाता है सिर
उतने ही समय को अगर
दे सकूं एक वैकल्पिक शरीर
तो दुनिया से सैकड़ों गुना बड़ा हो सकता है
एक आदमकद विचार

जब हम कुछ न कर पाने की अपनी परिस्थिति के विशिष्ट संदर्भ में अपनी हताशाओं के गढ़े में घिरे होते हैं, तब भी कर्मोन्मुख करने के संकल्प की ऊर्जा, हमारे अंतर्मन में मौजूद रहती ही है, इस सामान्य से 'सच' को, शायद सभी लोगों के भीतर मौजूद सच को, कविता अपनी सुदीर्घ परंपरा में कई-कई रूपों में रचती रही है, लेकिन, उसके इस व्याख्यात्मक गद्यानुवाद से शायद उसकी ऊर्जा का वैसा प्रभाव नहीं होता, जैसा प्रभाव स्वयं कविता पाठक के मन पर छोड़ती है। शायद इसलिए महज आत्म या वस्तु का विन्यास नहीं, भाषा का विन्यास कविता की रचना में अहम भूमिका अदा करता है, और तब चूहा या चमगादड़ होने की नियति या परिस्थिति की पीड़ा के साथ-साथ, बच्चे

की विश्वासी हँसी दिखाते ओठ, जगमगाती सृष्टियां दिखाती आंखें और जमीन में गले तक गड़े रहने के बावजूद, आदमकद विचार रचते सिर, को ओठ, आंख और सिर की तरह ही नहीं, बल्कि अपने सार्थक सक्रिय होने की एक ऊर्जा की तरह लेते हैं। वस्तुतः ऐसी कविताओं के पाठ से ही हमारी सर्जनात्मकता उद्बुद्ध होती है। कविता, सर्जनात्मकता के विशाल और विविध रंगी सांस्कृतिक संदर्भ से भाषा के जरिए ही अंतर्ग्रथित है, और उसी संस्कृति में 'आत्म' के सर्जनात्मक अनुभव को जोड़ने की कोशिश कर रही है। इसीलिए भाषा का मामला आत्मानुभूति और भाषिक संस्कृति दोनों का ही एक पेचीदा मामला बन जाता है। कुंवर नारायण की कविताओं को पढ़ते हुए यह महसूस होता है कि भाषा को बरतने के मामले में वे जितने चौकस हैं, उतनी ही सतर्कता उनके यहां अपनी रचनानुभूति को संयमित रखने के मामले में भी देखने को मिलती है। उनके यहां इसीलिए ही किसी भी तरह के 'भाव' की उच्छलता देखने को नहीं मिलती। बेशक कविता की रचना के लिए जरूरी नवाचार की निरंतर खोज के कई उदाहरण उनके यहां हैं, लेकिन शैल्पिक संरचनात्मक विविधता के बावजूद, उनके यहां चमत्कारी 'डिफेमेिलियराइजेशन' नहीं है। आत्मानुभूति को एक साथ ही आस्तित्विक और सामाजिक सामयिक स्तर पर खोजने की कोशिश में भी उन्होंने जो कविताएं लिखी हैं, वहां भी जटिलता, आत्मसजग पाठक के अंतर्मन तक भिद सी जाती हुई भी उसे उलझाती नहीं, बल्कि उसके थोड़े और गहरे आत्मचिंतन के रास्ते, थोड़ी और गहरी सर्जनात्मकता की दिशाएं सुझाती है।

ऐसे सूक्ष्म आत्मचिंतन के उदाहरण उनके यहां 'शुद्ध' वस्तु-वर्णन तक में देखने को मिल जाते हैं, जहां वे 'विषय' को 'वस्तु' में, और वस्तु को 'आत्म' में रूपायित करने की अनिवार्य प्रक्रिया से गुजरते हैं। शायद कुंवर नारायण की चिंतनशीलता ही उनकी कविता को आत्मानुभूति के अनेक रूपों में रचती है। उदाहरण के लिए उनकी कविता 'आधी रात' ली जा सकती है, जहां वे अपने ही भीतर के द्विभाजन को एक फैंटेसी की आख्यात्मक भाषा में लिखते हुए लगभग रोजमर्रे के एक सामान्य अनुभव को मनुष्य के अस्तित्व के एक बड़े सवाल की तरह सामने ले आते हैं। मजे की बात यह है कि इस पूरी कविता की गंभीरता, भाषा के सहज खिलंदड़ेपन, एक विडंबना की तरह ही नहीं, एक ऐसे आत्मदर्शन की तरह भी आती है, जहां हम उसे किसी या किन्हीं स्थिर प्रयोजनों या आशयों की तरह, या निर्दिष्ट अर्थ सुझाने वाली किसी अन्योक्तिमूलक कल्पकथा की तरह ही नहीं पढ़ते, बल्कि उन सच्चाईयों की तरह भी पढ़ते हैं, जिनमें जीते हुए हम महसूस करते हैं कि हम हत्यारे हैं और हमारी ही हत्या की गई है। बेशक इसकी संरचना में बौद्धिक चिंतनशील व्यक्ति की कल्पना ही अधिक सक्रिय है, लेकिन इस व्यंजकता की वजह से, एक पाठक इसे सामयिक सभ्यता के मानवीय संबंधों की सांप्रतिक लाभ लोभवादी दुनिया में, साधारण आदमी के अंदर मौजूद भयानक सच की तहर भी देख सकता है, कि हत्यारों और हत्या के शिकार दोनों व्यक्तियों से उसका अपना चेहरा भी कितना मिलता जुलता है। लेकिन अंदरूनी सचों के ऐसे बखान के अलावा कुंवर नारायण आत्मानुभूति को रचने की इसी प्रक्रिया में, भाषा और भाषा के अभेद को जानते हुए ऐसी पंक्तियां भी लिखते हैं, जो आत्मोपलब्धि के गंभीर स्वर में हम तक आती है। मेरा संकेत उनकी कविता 'कुछ दिन अन्य देश काल में' की ओर है।

तीसरे कवि हैं चंद्रकांत देवताले और कविता है 'अपने को देखना' :

मैं अपने को खाते हुए देखना चाहता हूँ
 किस जानवर या परिंदे की तरह खाता हूँ मैं
 मिट्टू जैसे हरी मिर्च कुतरता है
 या बंदर गड़ाता है भुट्टे पर दांत
 x x x
 मैं अपने को जाते हुए देखना चाहता हूँ
 जैसे कोई सुई की आंख से देखे कबूतर की अंतिम उड़ान
 और कहे- 'अब नहीं है, अदृश्य हो गया कबूतर
 पर हां, दिखाई दे रही उसकी उड़ान'
 मैं अपनी इस बची उड़ान की छाया को देखते हुए
 अपने को देखना चाहता हूँ।

मैंने इस कविता की शुरु की और आखिर की पंक्तियां भर उद्धृत की हैं। पर मैं देख रहा हूँ पूरी कविता को। बीच-बीच में अपने आप को। शायद यह कविता मैंने उद्धृत ही इसलिए की है कि मैं देखना चाहता था। कविता दिखा रही थी या नहीं कहना मुश्किल है। वह क्या कहती है के 'तर्कजाल' में फंसने का मतलब है कि देखने को त्यागकर वही करना जो मैं कुंवर नारायण की कविता पढ़ते हुए कर रहा था। मेरा ख्याल है उन कविताओं को भी थोड़ा धीरज से देखते हुए पढ़ना था। याने कागज पर छपे शब्दों को भर नहीं, उन सबको भी, जो यों तो वहां नहीं है, पर इन्हीं शब्दों के कारण शायद उस अनुपस्थित को भी लगभग शब्द की तरह देखना संभव हो जाता है। इस तरह देखने की कोई निश्चित या निर्धारित तयशुदा शुरुआत नहीं होती। पर मेरा यह अनुभव है कि अर्थ निकाल कर या पाकर, मन शांत नहीं हो जाता। खासकर जब वह ऐसी कविता पढ़ रहा हो, जहां अर्थ दृश्य में दृश्य सोच में, सोच स्मृति में, स्मृति कल्पना में, कल्पना कल्पक में, और कल्पक दृश्य में इस तरह बदल रहे हों, या कि मिल जा रहे हों, जैसा इस कविता में है। यों भी कोई भी कविता पढ़कर, जितना हम उसके नुकीले अर्थ या एकमात्र संकेतिक भावार्थ या बहुलार्थी रूपकत्व के बारे में सोचते हैं, तो महज उस कविता से नहीं, अपने आप से भी बात कर रहे होते हैं, अपनी स्मृति कल्पना सोच विचार की मिली जुली मानसिक क्रिया से गुजरते हुए देख रहे होते हैं, उन शब्दों को जो अब कविता के ही नहीं, हमारी अपनी काव्यानुभूति के शब्द भी हो गए हैं। हम महसूस करते हैं कि कवि की सर्जनात्मकता में अंतर्निहित संबंधों की दुनिया से, हमारा भी एक संबंध बन गया है। इस संबंध के रास्ते ही, हम कविता के बहुत करीब होने को पहचानते हैं। बाज वक्त ऐसा भी होता है कि हम इस पहचान के रास्ते से इतनी दूर भटक जाते हैं, कि कविता महज एक टेक ऑफ की जगह की तरह हो जाती है, और ऐसा भी होता है कि कविता पढ़ते ही, न तो हम अपने भीतर जा पाते हैं, और न कविता के। मेरा ख्याल है कि बहुत सी कविताएं पढ़कर ऐसा लगता है कि इस तरह की बहुत सी कविताएं पढ़ी हैं।

चंद्रकांत की इस कविता को जब मैं देखने की तरह पढ़ने लगा, तो खाने-सोने गिरने लड़ने डूबने और आखिरी उड़ान की तरह उड़ने के अलावा, उन जीव-जंतुओं या दृश्यों के बारे में भी सोचना शुरु हो गया और दिमागी सोच पर अड़ंगा डालने वाला भी पैदा हो गया, जो बुदबुदाने लगा कि इस

कविता में ऐसा क्या है जिस पर इतने सोचने की जरूरत है? पर अपने को खाने या सोने की तरह देखने के दौरान, मिट्टू, बंदर, सांड मछली को इस तरह की क्रिया में शामिल होते देख लगा कि सचमुच रोजमर्रा की कई क्रियाओं के दौरान, हम इतने अजीब से दिखते हैं, और इतने बदलते रूपों में दिखते हैं, कि लगता है महज अपने को इस नितांत जैविक रूप में देखते रहना ही, जाने कितने अजीबोगरीब संसार में रहना है। और सचाई तो यह है कि करोड़ों का वास्तविक जीवन तो खाने सोने की चिंताओं से भरा जीवन ही है। पर इस कविता में यहां तक आते समय यह नहीं लगता था कि अपने को तरह-तरह के कामों में देखने की इस चाहत के पीछे, होने की सच्चाइयों के समूचेपन को, पूरे को थामने की एक कल्पना, भी सक्रिय है, लेकिन शायद है यह कि असंभव कल्पना और इसलिए अपने को देखना हर कहीं हर जगह हर समय जारी रहता है। शायद यही आत्मेतर को आत्म में समा लेने की कोशिश है। शायद 'शब्द' में आत्म को रच देने, उसे आत्मानुभूति बना लेने की इस अनंत यात्रा में कवि तब भी शामिल रहता है, जब वह किसी एक दृश्य को एकटक देख रहा होता है। शायद यह हो चुके को होने की तरह देखने अनुभव करने, रचने का बुनियादी व्याकरण है, बल्कि कविता की समूची भाषा है, जिसकी आंख से कवि देखता है संसार को और पाता है :

शाही प्रकोष्ठ में इसी तरह हुई होगी
 ट्रकों में उनकी लदान
 चीख का एक भी कतरा नहीं तैरा होगा हवा में
 बेआवाज धुएं में तब्दील हो गई होंगी हड्डियां
 और मैं धूप के बाहर
 आर्तनाद की गुफा में चला गया
 समय के बाहर
 बर्फ के टुकड़ों की तरह जमती आग में।

यह 'ट्रक में बकरों की लदान' नामक कविता की आखिरी पंक्तियां हैं। यहां भी कवि ट्रक में लादे जा रहे बकरों को देखते हुए अपने को ही देख रहा है। कुछ भी न कर पाने की इस बेचैनी, इस तकलीफ की लय के भीतर से निकल रहे हैं उसके शब्द। उसकी काव्यानुभूति उसे देखने और महसूस करने की अनुभूति के दौरान स-तर्क या चौकस नहीं है, वह उन बकरों की ही तरह देख रहा है अपने भीतर के बेचैन करते हुए उस दृश्य, उन्हीं की तरह अपनी जातीय आवाज के सबसे गिड़गिड़ाहट भरे मुकाम पर किंकर्तव्यविमूढ़। कुछ कर सकने की सोच सकने में भी लाचार, निश्चय ही कुछ नहीं, बहुत कुछ कर रहा है, जबकि वह जिबह करने के लिए ले जाए जा रहे बकरों की ट्रक में लदान के 'दृश्य' को, 'खबर' को 'घटना' को, काव्यानुभूति में बदलने, यानी अपनी आत्मानुभूति का ऐसा हिस्सा बनाने की कोशिश कर रहा है एक जीवित भाषा में जिसमें कई-कई लोग कई-कई सदियों से लिखते पढ़ते रहे हैं अपनी असंख्य कविताएं। दूसरे शब्दों में यह दृश्य को, अपने को और भाषा को देखने की एक तिहरी प्रक्रिया है, जिसे हम उस रूप में देखते हैं, जो शब्दों के इस विशिष्ट संयोजन में, हमारी अपनी सर्जनात्मक को उद्बुद्ध करती है। लेकिन क्या हमारे देखने में, केवल यह विचार-कथा भर दिखती है कि शाही प्रकोष्ठ के हुक्मनामों से इनसानों को इसी तरह ट्रक में लदाया गया था? क्या यह जीव-हिंसा या पशु-हिंसा के विरुद्ध व्यक्त किया गया विचार

भर है? वास्तव में यह वह सब कुछ है जो सर्जनात्मकता की बुनियादी नैतिकता को उद्बुद्ध करती है, और यह नैतिकता निश्चय ही हिंसा के विरोध में है, पर कवि की विकलता से प्रसूत यह नैतिकता क्या, अपने आप में किसी ऐसे सिद्धांत की तरह हम तक आती है कि मनुष्यों के बीच की हिंसा ही विचारणीय है? ऐसे बहुत सारे सवाल भी कविता को पढ़ते हुए मन में आते हैं, आ सकते हैं। लेकिन जो बात कवि के शब्दों को कविता में बदलती है, वह शायद कवि के आत्म की विकल भावना है। वे मूलतः आवेग की लय के कवि हैं, जिसमें नहाकर उनके शब्द, आत्मरूप होकर हमें झकझोरते से लगते हैं। इसी भावना पर आधारित और सर्जनात्मकता में ही अंतर्निहित नैतिकता ने उनकी कविता में उनकी पक्षधरता को भास्वर किया है। बेशक गैरबराबरी की अंतरात्मिक समझ और संवेदनशीलता, शोषण, दमन और अत्याचार की सामयिक राजनीति में उनकी दो टूक पक्षधरता और समूह समुदाय समाज के जीवन के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध रहते हुए वे इसी भावनात्मकता में घुली विचारशीलता के साथ अपनी अंतरंग दुनिया को अपनी प्रेम कविताओं में उभारते हैं। 'हमारा स्वाद ही दूसरा है', 'थोड़े से बच्चे और बाकी बच्चे' में एक तरह से, तो 'आता रहूंगा तुम्हारे लिए' और 'नवंबर में तैरती आंखें' जैसी कई कविताओं की समूची संरचना में हम इसी आवेग की लय को सक्रिय देखते हैं, और पाते हैं कि इस तरह की कविताएं, महज पक्षधरता के विचार से नहीं बन सकती थीं। कविता में विचारशीलता की और पक्षधरता की भाषा किसी सार की तरह नहीं बसी रहती, और कोई सिर्फ सार लिखने के लिए कविता नहीं लिखता।

चंद्रकांत की कविताओं से गुजरकर अशोक वाजपेयी की कविता में आना एक बिलकुल ही अलग और बड़ी हद तक अद्वितीय संसार में आना है। खासकर कविता की संरचनात्मकता में गतिमान शब्दों के संयोजन के लिहाज से और कुछ हद तक कविता की सुदीर्घ परंपरा के विशिष्ट हिंदी संदर्भ से जुड़ाव के मामले में अशोक वाजपेयी समकालीन कविता के प्रतिपक्ष की तरह लगते हैं और शायद परिपूरक की तरह भी। बेहतर है कि सीधे उनकी कविता पढ़कर देखें :

*इतिहास सच और समय से परे और उनके द्वारा अलक्षित
चोरी का जीवन, फिर भी जीवन है
जिजीविषा से भरा-पूरा
सिवाय इसके कि चींटी कभी नहीं गिड़गिड़ाती
या उसे कोई देखता नहीं, दर्ज नहीं करता
या कि अपने में शामिल नहीं करता।*

मैंने यह कविता कई बार पढ़ी है। मुझे इसकी कसावट, इसका संरचनात्मक सौष्ठव और इसकी ईषत् सूक्तिपरकता पहले आकर्षण की तरह खींचती रही है। अशोक वाजपेयी की अधिकांश दूसरी कविताओं में भी यह गुण है। एक तरह का संतुलन और उसी संतुलन की हदों में, एक आत्मीय खुलापन। कविता बनाने, उसे कहन में ढालने, शब्दों के निपट आर्थी विन्यास से थोड़ा छेड़छाड़ करते हुए, उन्हें अपने मन के अमूर्त समय में लाकर परखने-निरखने की सहज साधारण सतर्कता और फिर उसी तरह की स्वतःस्फूर्तता, जिससे कि उसकी भाव-गति की रोशनी, काव्य-प्रयोजन की हल्की हवा, शब्दों और कविता के लिए, पाठक तक, आजाद होकर जाने का रास्ता बनाती रहे, इसी कविता में

नहीं उनकी अनेक कविताओं में देखने को मिल सकती है।

इस दफे यह कविता पढ़ते हुए, पहली ही पंक्ति पर मैं अटक गया हूँ। इतिहास और चींटी दोनों शब्द, मेरी सोच में, महज शब्द, या किसी प्रतीक या किसी अवधारणा की तरह नहीं आ रहे। मुझे लगता है कि इसे इसके रैखिक संकेत में पढ़ना, या यह मानना कि यह क्षुद्र अलक्षित होने की पीड़ा और फिर उससे आजादी की कोशिश में ही लिखी गई है, महज एक प्रयोजन-प्रेरित पाठ की तरह हो जाएगा। इतिहास और चींटी के इस संबंध की, उस तरह से देखने की कोशिश, जैसे कवि देख रहा है, या जो कवि का आशय है, भी एक तरह से सार ग्रहण करने जैसी बात ही है। पर चींटियों का इतिहास में न होना एक साधारण आदमी के रोजमर्रे की भाषा और जीवन का सच भी है। वह उसकी अपनी निजी स्मृति में ही नहीं, उस सामूहिक अवचेतन भी दर्ज है, जो उसकी अपनी मूल्यचेतना और यथार्थबोध दोनों को ही उद्बुद्ध करने की संभावनाओं से भरा है। लेकिन शायद यह 'सच' नहीं है, जो चींटी को या कवि को, वह होने नहीं देता जो वह है, और जिसे इस कविता में कवि ने थोड़े विशेषीकृत और थोड़े निष्कर्षात्मक ढंग से भी कहने की कोशिश की है। पर पहली पंक्ति पढ़कर ही मैंने सोचा था कि बात तो सच है कि चींटियों का जिक्र इतिहास में तो कहीं नहीं पर वे भूगोल के आर-पार फैली हुई हैं। शायद चींटियों के संदर्भ में, भूगोल, इतिहास से कहीं ज्यादा उदार है जहां उनके लिए अभी भी जगह है।

पर मैं एक दूसरी बात भी सोच रहा था जो अनायास ही याद आ गई थी। यह कि चींटी इतिहास में नहीं होती, न उसकी परवा करती है, लेकिन पुराण में तो होती है, और कविता में भी। आज भी लोक-चित्त में पुराण और कविता के रास्ते आई चींटी की स्मृति और उससे जुड़ी मूल्य चेतना मौजूद है। सच तो यह है कि यह कविता मैंने जब पहली बार पढ़ी थी, तो मुझे 'कीरी कुंजर दोग' की याद ही आई थी। और मैं साईं के संसार में जीवित और जीवंत, कितनी सारी उपस्थितियों की बेतरतीब सोच में, इस तरह उन्हें देखने लगा था, जैसे उनका होना ही, उनका परम अर्थ है और शायद मेरा भी।

अभी जब सोच रहा हूँ तो लग रहा है, जैसे कुछ दुहराव के साथ, और उसी दुहराव में कुछ नए घाव, नए भाव के साथ, अशोक कविता की आंख से, संसार की इन कितनी सारी उपस्थितियों को देखते रहे हैं, और रिश्तों के उस संसार को बूझने जानने की कोशिश करते रहे हैं, जो शब्दों के आपस में जुड़ने से बनता है। लेकिन क्या यह सच, इतिहास या लोगों के विरुद्ध, चींटी या कवि के प्रतिरोध की भाषा है? क्या, 'कीड़े और देवता' पर लिखी कविता में भी वे कीड़े को देवता के प्रतिपक्ष की तरह रखना चाहते हैं? क्या यह कविता इतिहासबोध से रिक्त है? क्या यह वास्तविक दुनिया की उपेक्षा है? क्या यह कविता अपने बहुलार्थी रूपकत्व में, इस समय में होने की पीड़ा से रिक्त, महज अपने होने को, गिड़गिड़ाहट रहित होकर बचाए रखने के एकार्थी संदेश को ही धारे है? क्या इसमें, आत्म में प्रतिबिंबित या रूपायित वस्तु, वास्तविक संसार के संघर्ष से दूर महज कवि-कल्पना की क्रीड़ा है?

मुझे लगता है कि इतिहास सच, समय, लोग और चींटी की यह संरचना, इतिहास-चेतस होकर ही रची गई है। कविता की भाषिक बनावट से तत्काल सूचित होने वाले अर्थ से ही यह स्पष्ट होता है, कि दुनिया के इतिहास में, खासकर समकालीन दुनिया के इतिहास में, कवि और कविता की जगह, चींटी की जगह जैसी ही है। लेकिन कवि का कथन, आत्मवचनात्मक सत्य की तरह नहीं, बल्कि दुःख की तरह हम तक आता है और हम महसूस करते हैं कि भावाविष्टता की दशा का उच्छल

और अतिमुखर दुःख न होने के बावजूद, अनायास ही हमारे अनुभव के मर्म की भाषा में हमसे कुछ कह रहा है। लेकिन चूंकि कवि, इस दुःख या असंतोष या आलोचना की भाषा में कुछ ऐसा भी कहने की कोशिश भी कर रहा है, जहां इतिहास ही नहीं, सच पर भी सवालिया निशान है, समय और लोगों पर भी इसीलिए सोचना इस कतई इकहरे संकेत पर ही नहीं अटक जाता। तब शायद हम महसूस करते हैं, कि दुःख या सच या इतिहास या चींटी या कवि नहीं, यह कविता है, जो हमसे अपेक्षा करती है कि इसे किसी तयशुदा प्रसंग या संदर्भ में ही अटक न जाएं, बल्कि मुक्त नानार्थता, और संरचना की सुघड़ एम्बीग्वीटी के थोड़ा और करीब आएँ हम और पढ़ें ताकि गहरे उतर सकें।

इस सरल सहज कविता को बार-बार पढ़ते हुए मुझे यह अनुभव हो रहा था कि अलक्षित ही अपने संसार में होने की पीड़ा या महज स्थिति या नियति को लेकर, अशोक ने एकाधिक कविताएँ लिखी हैं, जो अपने निपट सारार्थ या अमूर्त प्रभाव में इस तरह का एहसास कतई नहीं जगातीं कि उन्हें नियति के सहज स्वीकार से अलग, सांसारिक उपेक्षा के किसी दुख की तरह देखा जा सके। बेशक एक जिद की तरह उनकी कविता में यह अनुभव तो रचा-बसा है ही कि भाषा में नहीं होना संभव ही नहीं, पर इस धारणा के प्रति भी उनकी कविता अपने सांप्रतिक संदेहों से घिरी हुई लगती है। जाहिर है कि आस्था और संदेह की इस निरंतरता में, वे प्राचीन और समकालीन कविता को ही नहीं, बल्कि होने, या न होने के रहस्य को, निजी तकलीफ या आनंद की किसी सीमित भाषा से आगे जाकर महसूस करते लगते हैं। मसलन 'देवता और कीड़े' में, अलसित ही रहने का जो संकेत है या उनकी दूसरी कविताओं में जो आत्म की अभिव्यक्ति की तरह विन्यस्त है, उसमें भाव के स्वर पर एक तरह का वैराग्य और लय के स्तर पर एक प्रशांत गंभीरता है, जो संभवतः उनके काव्य-उद्यम की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। उदाहरण के लिए उनकी कविता 'अलक्षित' भी ली जा सकती है, जो पंचतत्वों की लीला के रूपक को, दो संक्षिप्त खंडों के असंभव मितकथन में लिखती हुई, शब्द-क्रीड़ा की पूरी ताजगी के साथ, भावोन्मेष की संभावना को बचाए रखती है, पर जहां आत्मानुभूति के स्तर पर होने की इहलौकिक साधारणता के ऐसे बिंब भी हैं, जो होने की समकालीनता और तात्विक आदिमता को सहज भाव से एक (ही) धागे में पिरोते से लगते हैं।

दरअसल अशोक वाजपेयी की इस कविता में ही नहीं बल्कि उनकी अधिकांश कविताओं में, सच और समय के वस्तुगत रूपाकारों को, अशेष बहुलार्थी रूपकत्व में, 'आत्म' के अविभाज्य अंश की तरह पाने की या कहने की एक असंभव सी लगती कोशिश है। इसलिए ही, समय, सच, इतिहास, लोग, चींटी और कवि के बीच का संबंध, कविता के विन्यास में किसी तरह की 'हाइरार्की' का बोध नहीं जगाता। बेशक इतिहास की गति और चींटी की जिजीविषा से रचे जा रहे समय के दूसरे सचों की उपेक्षा उनके यहां कहीं नहीं है। वे बहुत गहरे में महसूस करते हैं कि इतिहास की ताकत से रचे गए इस समय में, चींटी तो अपनी जिजीविषा के चलते, अपने पर इतिहास की धूल नहीं चढ़ने देती, लेकिन रूपक के बाहर, एक व्यक्ति की तरह जीते कवि को इस धूल धक्कड़ से ही नहीं, उस खून-खराबे से भी मुक्ति नहीं, जो सत्य, इतिहास, समय और सभ्यता के झंडाबरदारों के चलते हमारे आत्म का एक त्रासद हिस्सा बन चुका है।

मैं एक दूसरी कविता लेता हूँ :

फिर भी क्यों लगता है मुझे कि मैं जिम्मेदार हूँ

कि मैं होता उस रात, तो अपने पड़ोसियों का हांका होने पर
भयातुर देखता रहता
उन्हें ले जाए जाते
ईश्वर से, जिस पर मेरा कोई भरोसा नहीं, करता
एक डरपोक प्रार्थना
और अपनी भाषा को धो-पोछकर साफ कर लेता
कीचड़ खून और डर से
दिन में घरघुसे लिखता
धूप की, उज्ज्वल दिन की निर्मल कविता

मैं नहीं था,
पर होता तो चुप होता
इसीलिए मैं बचे हुए को, बीते हुए की तरह देखना चाहता हूँ
मैं अपनी प्रार्थना में दबी चीख सुनना चाहता हूँ।

यह 'आश्विज-1' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं। इस पर लिखने की सोचते हुए, सबसे पहले सोच में जो बात आती है, वह इतिहास-बोध के पास-पड़ोस की सूझ-सीमित बात ही है, क्योंकि इसका ऐतिहासिक सामाजिक राजनैतिक आशय थोड़ा मुखर है, पर इतना नहीं कि वह कविता को बिलकुल इन्हीं शब्दों में सीमित कर दे। मैं यह कविता अभी पढ़ा रहा हूँ, तो मुझे लगता है कि अगर हम इसके शीर्षक को भूल जाएं तो भी यह कविता हमारे भीतर एक गहरी नैतिक कचोट पैदा करती है और हम पाते हैं कि हम निरी आत्मभर्त्सना, आत्मदया या आत्मालोचना की भाषा में ही नहीं सोच रहे हैं। जोर 'ही' पर है।

यह कविता *इबारत से गिरी मात्राएं* नामक संकलन से ली गई है। इसी शीर्षक से शायद तीन कविताएँ हैं और तीनों की बुनियादी विशेषता यही है, कि ये प्रसंग विशेष की तात्कालिक प्रतिक्रिया में ही नहीं, बल्कि कवि-दृष्टि और कवि-कर्म में ही अंतर्निहित नैतिक संवेदना की वजह से लिखी गई हैं। इसीलिए यह कविता, व्यंजकता के बहुविध प्रभावों पर सोचने के लिए उद्बुद्ध करती है। यह, कविता के शब्द की, नागरिक के सोच-विचार की, कवि की संवेदना की एक ऐसी कविता है, जो शब्द-कर्म में अंतःसलिल भाव-स्थितियों को, पाठकों तक उनकी अनुभूत्यात्मक और वैचारिक मुक्तता में पहुंचाती है। निश्चय ही इसमें आत्म-शोध और बोध की एक जाहिर नैतिक चेष्टा है, पर शब्द संयम कुछ इस तरह का है कि बिलकुल अलग और विरोधी लगते भावों को, पाठानुभव के धागे में पिरो सकता है। शायद इसीलिए कविता, महज सामाजिक ऐतिहासिक चेतना, या आत्मसंधान और आत्मालोचन की कविता भर नहीं है। हर अच्छी कविता की तरह, हर पाठक को, अपनी स्मृति, अपने विचार, अपने ताजादम अनुभवों के संसार में रहने और सोचने विचारने का अवसर देती है यह कविता, पर है यह, हमारे अपने समय की त्रासद सचाई के दर्द को दर्ज करने की कविता।

जरा शुरू के शब्दों को ही याद करें, 'मैं बचे हुए को बीते हुए की तरह देखना चाहता हूँ' क्यों?

क्या इसलिए कि 'मैं अपनी प्रार्थना में दबी चीख सुनना चाहता हूँ?' मुझे लगता है कि शुरूआत और अंत की इन पंक्तियों से तत्काल गूंजती, और थोड़ी सुघड़ सी लगती असंगति के आलंकारिक प्रयोग से, बहुत आगे चली जाती है कविता, जब हम इसे पूरे में पढ़ें। और सिर्फ इसे ही नहीं, उन बहुत सारी कविताओं को, जहां, प्रार्थना, चीख, इतिहास जैसे शब्दों को, बहुलार्थी व्यंजकता की कवि-दृष्टि से, और अंतर्मन की व्यथा वेदना से कुछ इस तरह रचा गया है, जहां मानव नियति, मानव-स्वभाव, और मानव-इतिहास कुछ इस तरह घुले-मिले हैं, कि उन्हें तर्क सर्वस्व विश्लेषण से ही पाया नहीं जा सकता। संश्लेषण की, कल्पनाशक्ति अंतर्पाठीयता की भाषा में, उन्हें पढ़ना शायद ज्यादा 'रिवीलिंग' हो सकता है।

अभी इस पर सोचते हुए एक दूसरी कविता की याद भी अनायास ही आ रही है। वह कविता 'आश्विट्ज' क्रम की कविता नहीं है, न ही वहां सांभ्यतिक स्तर पर स्वीकृत और व्यवहृत आधुनिक राज्य की अमानवीय तानाशाही का कोई दूसरा संदर्भ है, जो कि 'आश्विट्ज सिरीज' में लगभग मुखर ढंग से सामने आता है; खासकर उन लोगों के मन में, जो संरचना में या अपने मन में नहीं, बल्कि कविता के चमकीले सार में या पूर्वनिर्धारित किसी इकहरे विचार में, कविता पढ़ने की आदत के शिकार हैं, जबकि अशोक की अधिकांश कविताओं को उनकी शांत भाव-गति, और कभी-कभार की क्षुब्ध बेचैनी में पढ़ने का मेरा अपना अनुभव बिलकुल अलग है, लेकिन मैं पहले उस कविता की बात करूं क्योंकि भाव-विचार-प्रवाह में मेरा व्याकरण गड़बड़ाने लगा है, जबकि अशोक ऐसे संयमी और सतर्क कवि हैं, जिनके यहां तीव्रतम भाव-विचार-प्रवाह में भी व्याकरण, खासकर कविता के स्वभाव प्रभाव सीमा और असीमता का व्याकरण, कहीं गड़बड़ाता नहीं दिखता।

तो जो कविता याद आ रही है, वह है, 'बीतते को देखना'। इस शीर्षक से ही हम अनायास 'बचे हुए को बीते हुए की तरह देखना' की याद करते हैं। दोनों ही कविताएं 2001 में लिखी गई थीं। शायद दोनों में एक तरह का संबंध है भी, पर दोनों एक ही शब्दावली के प्रयोग के बावजूद, एक दूसरे से अलग हैं। यह अलगपन विषय की भिन्नता ही सूचित नहीं करता कि 'आश्विट्ज' में हिटलर की तानाशाही और गणहत्या के स्मारक से हुई आंतरिक पीड़ा में वे, 'बचे हुए' को भी 'बीते हुए' की तरह देखने की बात कर रहे हैं और यहां इस कविता में, वे बीतते हुए को देखते रहने की इच्छा के साथ, 'बचाने' की सोच में भाव-बिंबों की ऐसी शृंखला प्रस्तुत करते हैं, जो मानो अंत के निकट की एक जरूरी प्रार्थना की तरह आती है। पहले 'प्रार्थना में दबी चीख' तो बाद में, अंत की नियति के स्वीकार के बाजू में ही, झिलमिल करती रचने की और बचाने की उम्मीद की वर्णमाला। यों उन्होंने 'आश्विट्ज शृंखला' में ही उम्मीद की नई वर्णमाला लिखने की कोशिश में गांधी के साथ-साथ ऐसे अनाम लोगों की याद की है, जहां दंगे की आग में सब कुछ खो देने के बाद भी एक औरत, एक लहलुहान बूढ़ी को अपना घर खोजने में मदद कर रही है। मामला सिर्फ इस या उस भावुक स्मृति का नहीं है। मामला कविता का है। मानवीय संबंधों के लोक-व्यवहार में, कविता की उपस्थिति या इस उपस्थिति की जरूरत, बुनियादी तौर पर सृजनात्मकता के जरिए संबंधात्मकता को उद्बुद्ध करने के लिए ही है। इसी सृजनात्मकता के सूक्ष्म अनुभूत्यात्मक बोध के चलते कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जिसमें कवि और पाठक दोनों का योगदान है। यह सृजनात्मकता केवल आलोचनात्मक ही नहीं होती, पर आलोचना से परहेज भी नहीं करती। अशोक की कविता की

मनोरचना को पढ़ते हुए, हम यह तो महसूस करते हैं कि ऐतिहासिक समय के घमासान का असर उनके दिल-दिमाग पर बराबर होता रहा है, लेकिन कविता लिखते हुए, इस 'सामयिक प्रभाव' को स्फीत 'सबवर्तित्व' भाषा में कहने का स्वभाव उनका नहीं है। शायद यह उनके भाव-जगत और उनके कवि स्वभाव की सीमा है। शायद वे कविता के फौरी प्रभाव, और उसकी लोक-व्यवहारी फंक्शनलिटी के प्रति हमेशा सतर्क रहने वाले कवि हैं। वे अपने आत्मालोचन के दौरान अनुभव की भाषा में, सामाजिक-संस्कृति में पनप रहे अमानवीकरण के प्रतिरोध में, कवि और व्यक्ति की निजी पीड़ा और जिम्मेदारी को लिखते हुए, प्रार्थना में दबी चीख सुनने की बात तो करते हैं लेकिन वे यह भी जानते हैं कि चीख-पुकार, लोक-जीवन के कभी-कभार की भाषा है। लोक-जीवन के सांस्कृतिक रूपकाकार तो प्रेम की भाषा ही देखते और दिखाते हैं। लोक-जीवन से व्यक्तिशः दूर रहने के वरण और नियति के बावजूद, शब्द की सृजनात्मकता के गहरे आंतरिकीकरण के रास्ते, वे महज शब्द को बचाए रखने की कोशिश ही नहीं करते, बल्कि लोक से जुड़ने की कोशिश भी करते हैं। यों भी शब्द-कर्म लोक से जुड़ाव का सबसे पुरातन, और शायद सबसे अर्वाचीन रास्ता है।

इस आलेख के आखिरी हिस्से में मैं विष्णु नागर की कविताओं को पढ़ने जानने की कोशिश करना चाहता हूँ। सिर्फ चाहता नहीं, पढ़ ही रहा हूँ, और इनमें से बहुत सी कविताएँ मैंने पहले भी पढ़ी हैं। हर कवि की तरह उनके कहने का ढंग ढब या अंदाज, बिलकुल ही अलग है, और शायद यह इस कदर रोचक है, कि पढ़ने के बाद कुछ पल तो उसकी रोचकता का अनुभव ही अंदर थिरकता रहता है पर और कुछ पल बाद ऐसा लगता है कि इतनी सहजता से, एकदम ही समझ में घुस जाने वाली कविता, क्या उतनी ही है कि उसकी रोचकता के विविध नमूनों में दिमाग भटकता रहे। वस्तुगत विसंगतियों को अपने गहरे वर्ग बोध में, और सिर्फ बोध में नहीं रोजमरों के अनुभवों के बीच, अपनी तकलीफ को कहीं गहरे दबाकर, इस तरह पहचानना कि जैसे वह 'मैं' शैली के बावजूद, एक पूरे वर्ग के रोजमर्रा के जीवन की ऐसी विचित्र और विलक्षण लगने वाली कविता बन जाए कि वहाँ कहीं भी वर्ग से बाहर, और इस बिलकुल ऐतिहासिक समय की समकालीनता से बाहर, उन्हें 'व्यक्ति' और निरपेक्ष तौर 'व्यक्ति' के विशिष्ट अनुभवों के रूप में देखना, या उसमें अंतर्निहित कवि की प्रतिबद्धता को ही व्यक्तिबद्धता के दायरे में सीमित करना, असंभव सा हो जाए, विष्णु नागर की कविता की एक चारित्रिक विशेषता है जो पाठक को अपने निजी और वर्गीय अनुभवों के संसार में सहजता से ले जाती है, पर समीक्षक के लिए कई मुश्किलें भी पैदा करती है। शायद इसीलिए कविता के तात्कालिक असर के चलते कई बार, उन्हें विनोद व्यंग्य, विडंबना के कवि तरह देखने की एक रूढ़ि सी बन जाती है या बन सकती है। मध्यवर्ग खासकर निम्न मध्यवर्ग के समग्र जीवन की विविध परिस्थितियों और भाव-स्थितियों को, जाहिर राजनैतिक प्रतिबद्धता और पक्षधरता की दृष्टि से देखने और रचने वाले कवि विष्णु नागर, अपनी कविता के व्यक्तित्व से यह भी प्रमाणित करते लगते हैं कि वर्गबोध, राजनैतिक पक्षधरता तथा विषयों के यथार्थ केंद्रित वर्णन की बुनियादी समानता के बावजूद, वे अपने समकालीनों से एक बिलकुल ही अलग पहचान रखते हैं। यह भी लगता है कि उनके रचनानुभव के विन्यास में एक गहरी निजी आत्मानुभूति की आंच भी है। यह भी कि समकालीन-यथार्थ के जाहिर विषयों से निरंतर टकराहट के बावजूद या उसी को अपने काव्य का

मुख्य स्वर बना देने जैसे अघोषित प्रयोजन के बावजूद उनकी कविता होने की ऐसी सच्चाईयों के रूबरू भी होती रहती है, जो वर्गीय स्वभाव की ही नहीं, बल्कि मानवीय स्वभाव की सचाईयां हैं। मसलन प्रकृति के देवरूपीकरण या उसके अलंकरण के बजाय, अपने अनुभव की शहरी सीमाओं में ही, वे उसके रूपाकारों को, कुछ इस तरह से अपनी रचनात्मकता का हिस्सा बनाते लगते हैं, कि नहीं लगता कि वे महज राजनैतिक सामाजिक युगीन विचार के चलते ऐसा कर पा रहे हैं। दरअसल विष्णु नागर के कवि-व्यक्तित्व में भाषा के साथ खिलंदड़ेपन के जाहिर व्यवहार के अंदर, एक तरह से अपने संसार को, और उसी संसार में अपने होने को, जानने-समझने और यथाशक्ति उसके 'खराब' को बदलने की कोशिश भी सक्रिय है। वे सत्य या दिशा पा गए व्यक्ति की तरह नहीं लिखते। उनके यहां प्रेम, करुणा, बिरादरीपन, की उच्छल भावुकता पोषित अतिरंजित मुखरता कहीं देखने को नहीं मिलती। अपने दुःख और अपनी खुशी, समाज के दुःख और समाज की खुशियों का बखान कविता में करते समय, वे इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं, कि कहीं कविता उनकी आत्मछवि का अतिरंजित कथन भर होकर न रह जाए। जाहिर है कि विष्णु के भीतर अगर संसार को, समय को, अपने को, जानने की एक निरंतर जारी जिज्ञासा है, और इसी जिज्ञासा के चलते अनथक रूप से की जाने वाली अंतर्यात्राएं हैं, तो इस बात की पूरी चौकसी भी है, कि काम वे कविता लिखने का ही कर रहे हैं, और समय समाज संस्कृति के प्रति अपनी सारी वैचारिक और सर्जनात्मक जिम्मेदारी को वे सामूहिकता के किसी स्थाई प्रतिष्ठित स्वर या भाव में नहीं, बल्कि एक विशिष्ट व्यक्ति के अनुभव की तरह, हिंदी भाषा में लिख रहे हैं। बेशक कविता लिखने की शुरुआत से लेकर आज तक उन्होंने यह कोशिश जरूर की है कि उनकी कविता, अच्छी बुरी जैसी भी हो, पर दूसरों की नकल भर होकर न रह जाए। मुझे लगता है कि इसमें वे पूरी तरह सफल हैं। वे निश्चय ही रोजमर्रा के साधारण जीवन के एक असाधारण कवि हैं। यह असाधारणता आतंकित नहीं करती, रिझाती भी नहीं, बल्कि आत्मीय अंतरंग में रच बस कर उदबुद्ध करती है कि अपने होने को अपने पास-पड़ोस के होने से जोड़कर थोड़ा और करीब से, थोड़े और गौर से देखें। सो अब यही कोशिश करता हूँ :

मैं आदमी हूँ
इसलिए मेरी इच्छाएं भी हैं
फिर भी मैं अपनी हर इच्छा पूरी करना नहीं चाहता
जैसे चिड़िया होने की इच्छा
क्योंकि चिड़िया की मौत में
हमने देखी होती है अपनी मौत।

'चिड़िया होने की इच्छा' शीर्षक की यह कविता मैंने जब पहली बार पढ़ी थी, तो मुझे उनके पहले काव्य संकलन की याद आई थी, जिसका नाम ही था 'मैं फिर कहता हूँ चिड़िया'। शायद बहुत पहले से ही चिड़िया को ही नहीं, आस-पास के माहौल को, खुद की हालत को, देखने और सोचने और थोड़े अलग ढंग से कहने की इच्छा विष्णु नागर की रचनात्मकता के मूल में है। कविता का नया रूपाकार गढ़ने, और उसे सहज सरल भी बनाए रखने की इच्छा या रचनाकांक्षा भी उनकी रही है। वयस्क दिनों में वामपंथी विचारधारा और दृष्टि के प्रति भी उनका लगाव बढ़ा है। कविता में उसका प्रभाव, पूंजीवाद या अमेरिका से जुड़ी रचनाओं में देखा जा सकता है। वहां भी वह एक तरह

के वक्र कथन के विन्यास में, पहचान में आने वाली चीजों से बनी भाषा में मौजूद असंगति विसंगति को देखते दिखाते कविता लिखते हैं। कविता के बारे में उनकी धारण भी, उनकी कविताओं की तरह दो टूक ही है।

अब इसी कविता को लें, चिड़िया होने उड़ने की इच्छा मनुष्य होने के कारण हैं। लेकिन जब यह कविता विकसती है, तो सोच की जिज्ञासा चिड़िया की इच्छा की ओर चली जाती है, और फिर उसकी मौत पर, और फिर लौटती है कभी-कभार चिड़िया होने की इच्छा पूरी नहीं करने के निर्णयात्मक स्वर पर और फिर उसकी मौत में अपनी मौत देखने की बात पर। लेकिन आदमी होने की इच्छा के दौरान, चिड़िया होने की इच्छा की टकराहट क्या इतना भर दिखाती है कि उड़ान की ऐसी असंभव इच्छा मौत की ओर ले जाती है। मुझे लगता है कि विष्णु नागर की अधिकांश कविताओं में उतना भर कहने या दिखाने की बात नहीं है, जितना खटाक से दिख जाता है या समझ में आ जाता है। चाहे सुघड़ मितकथन में लिखी गई उनकी छोटी कविताएं हों, या ब्यौरों से भरी ईषत लंबी, दोनों तरह की कविताओं में वे बड़े ही संयम के साथ, अनकहे की व्यंजना को कुछ इस तरह रचते हैं, कि उन्हें किसी सुनिश्चित या एकल अर्थ में पढ़ना, आधे-अधूरे पाठ की तरह लगता है। शायद अपनी हर कविता में वह यह कोशिश करते भी दिखते हैं कि हम अपने साधारण रोजमर्रे को गौर से देखें तो हम ऐसे 'सचों' का सामना करेंगे, जो सांभ्यतिक स्तर की मार्मिक सचाईयां हैं, और अपनी व्यंजकता से हमारी आलोचना जिज्ञासा कल्पना, स्मृति में इस तरह का विचलन पैदा करती हैं, कि उन विशिष्ट शब्दों के परे जाकर भी हम अपने समय संसार को ही नहीं, खुद अपने को एक नई दृष्टि से देखने लगते हैं।

यह कविता पढ़ते हुए मुझे 'आधी रात की चहचहाहट' नाम की कविता भी याद आई थी। आधी रात को किसी पक्षी के चहचहाने की कल्पना में, अपनी चिर-परिचित कौतुक और खिलंदड़ेपन की शैली के साथ वे बड़े ही कैजुअल ढंग से जाते हैं पर इसकी संरचना में मार्मिकता की एक लय भी है, और इस चहचहाने के संदर्भ में कवि कल्पना, जिन जिज्ञासाओं के खुलेपन में भटकती है उस भटकाव में शायद अकेलेपन की व्यथा की अजब सी पुकार के साथ, जिजीविषा की गति में अंतर्निहित एक मौन भी है, जिसे सुख या दुःख के किसी निर्दिष्ट बिंब की तरह देखा जाना अपर्याप्त लगता है। पर रात को पक्षी के चहचहाने में अर्थ और सार्थकता की खोज करती जिज्ञासा, बड़े संयम के साथ कवि-कल्पना से रचित कविता का समापन करती हुई कहती है :

और मतलब नहीं भी हो

तो क्या इसमें कोई मतलब समझने की कोशिश करना

बेकार है?

क्या इससे बेचैन नहीं होना चाहिए?

चाहे यह बेचैनी कितनी बेमतलब या फौरी क्यों न हो?

जाहिर है कि एक कवि की तरह विष्णु नागर महान और क्षुद्र किसी स्थिर पदानुक्रम में, जीवन की विशालता में मौजूद अपने अनुभवों को नहीं लिखते। वे साधारण और सतही लगने वाले ब्यौरों को भी अगर एक गंभीर काव्याशय से मंडित कर पाते हैं, तो संभवतः इस कारण कि वे कवि की तरह जानते हैं, कि कविता किसी एक सामान्यीकृत सिद्धांत में अंतर्मुक्त नहीं की जा सकती क्योंकि कविता में सिर्फ वही मौजूद नहीं, जो लिखा गया है और दिख रहा है, बल्कि ऐसी बहुत सी चीजें

मौजूद हैं, जो दिख नहीं रहीं और इसलिए वे यह भी जानते मानते हैं कि :

*बहुत कुछ अनसुना अनजाना रह जाता है हमसे
जिसकी हम परवाह नहीं करते
जबकि वह गूँजता रहता है हमारे चारों ओर
जितनी उसकी गूँज बढ़ती जाती है, उतना हमारा बहरापन।*

सिर्फ विष्णु नागर की नहीं, बल्कि हिंदी की ढेर सारी समकालीन कविताएं इसी अनसुने को सुनने की कोशिश करती हैं, पर संभवतः यह भी जानती हैं, कि यह समाज के बहरेपन के तात्कालिक इलाज ही नहीं, बल्कि उसके विविध रूपों की पहचान की कोशिश है, और शायद इस बात की भी, कि उसके लोग उसकी इस कोशिश में साझा कर सकें।



कवि की आकांक्षा और कविता की आकांक्षा में फांक

कुमार अंबुज

मुझे यह उम्मीद या भ्रम है कि प्रायः हम सब इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि कविता, किसी भी समाज में एक अलग-थलग होकर की जाने वाली, स्वतंत्र, वायवीय और स्वायत्त कार्यवाही नहीं है। साथ ही, यह समझने में कोई परेशानी नहीं होनी चाहिए कि साहित्य, खास तौर पर कविता अपने समाज का वर्णन, प्रतिबिंब या आख्यान भर नहीं है, वह विशेष सर्जनात्मक अर्थों में अपने समाज का प्रत्याख्यान है, स्वप्न है, प्रतिसंसार है। संभव बेहतर मनुष्य और बेहतर दुनिया का प्रस्ताव है और इसी मायने में वह सर्जना है, स्मृति है, कल्पना है, उड़ान है, प्रतिरोध है, चाहत है। इसके अपने तर्क हैं जो कला के तर्क हैं और जीवन के भी। अंतरिक्ष में विचरण करते हुए, कल्पनालोक में विचारमग्न होते हुए भी वह अभौतिक नहीं है।

वह एक सजग और तार्किक रूप से अंततः कलात्मक परिणति है, गहन वैचारिक और संवेदनशील समुच्चय है। वह एक ऐसा यूटोपिया है जो मनुष्यता द्वारा वरेण्य है और जिसे संभव करना, सदैव कविता की हद में है, स्वभाव में है। यदि कविता अपने कुल प्रयास में, समूचे रूप में यह सब नहीं है और केवल रंजन का विषय है या भाषा का कौशल मात्र, तो उसकी उपस्थिति संदेहास्पद है। कविता को लेकर बार-बार इन सवालों से टकराने की जरूरत है।

फिलहाल हिंदी कविता की वर्तमान अवस्था पर निगाह डालने से पता चलता है कि उपरोक्त में से, एक-दो पोषक तत्वों की कमी उसके स्वास्थ्य में दिखने लगी है। खासतौर पर कविता की संरचना में से प्रतिसंसार की कल्पना, बेहतर दुनिया का प्रस्ताव और वैचारिक पक्षधरता के खनिज कम होते जा रहे हैं। जाहिर है कि उसकी समझ की प्रखरता में कमी आ रही है। भाषा और बिंबों को विचार का वाहक बनाए जाने की जगह, उनका उपयोग किसी ओट की तरह किया जा रहा है। महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील कविता भी कभी कलाविहीन नहीं रही है, बल्कि उसने कला के नाम से किए जानेवाले कलावादी व्यवहार की हमेशा पोल खोली है। उसने दर्शाया है कि एक अच्छी कविता, एक अच्छी कला का उदाहरण भी होती है और वैकल्पिक समाज तथा दुनिया की महत्वाकांक्षा भी। वह महत्त्वपूर्ण इसलिए होती है कि उसमें वैचारिक उत्प्रेरण, व्यग्रता और संवेदनशीलता के अवयव अपने आवेग में समुपस्थित हो जाते हैं। वह भाषा में खेल करते हुए भी अपनी स्वप्नशीलता को विस्मृत नहीं करती है। प्रेम, अवसाद या अकेलेपन को भी वह अपने समाज से प्रतिकृत करती है। कविता की यह दृष्टि उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि या शक्ति कही जा सकती है। उसके लिए निजी भी एक व्यापक सार्वजनिक, सामाजिक संदर्भ है। मुक्तिबोध की कविता इसका सर्वाधिक दृष्टव्य और आज तक प्रासंगिक उदाहरण है।

समाज, वैयक्तिक और राजनीति के प्रश्न, उसके लिए आपस में गुंथे होते हैं। यथा- गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, शोषण, अन्याय, दासता जैसे अकादमिक सवाल हों, मनुष्य के अपने व्यक्तिगत छोटे-बड़े दुःख, संत्रास, यातना, मृत्यु अथवा उत्साह, उत्सव, प्रसन्नता, भावुकता के प्रसंग हों अथवा स्त्री, दलित, विकास, नागरिकता, लोकतांत्रिकता, स्वतंत्रता, उत्तर आधुनिकता के विमर्शात्मक विषय हों, वह अपनी व्यापक और लौकिक दृष्टि के साथ ही अपने होने को संभव करती रही है। उसने कभी मनुष्य की मुश्किलों को, अस्तित्व के संघर्ष को और अपने होने को नियतिवाद में, अलौकिकता अथवा अकर्मक उम्मीद में या भाषा के पेंचो-खम और महज मानवतावाद वगैरह की आड़ में नहीं छिपाया। यहीं उसकी वह समझ उभरती है कि यह दुनिया, यह प्रस्तुत समाज एक ऐतिहासिक परिघटना है, जो धीरे-धीरे घटित हुआ है। उसने अपनी इस व्याख्या को पुष्ट किया है कि कविता सहित तमाम कलाएं, मनुष्य की कल्पनाशीलता और आकांक्षा की पर्यायवाची हैं लेकिन वे 'ध्यान-योग' जैसी अकेले में की जानेवाली साधनाएं नहीं हैं। प्रत्येक कला समाज के बीचों-बीच बैठकर की जानेवाली कार्यवाही है और उसके स्रोत भी गहरे तौर पर सामाजिक हैं, मनुष्यधर्मी हैं। इस दृष्टि से देखें तो पिछली आधी सदी से अधिक समय की समकालीन हिंदी कविता का बहुलांश वैज्ञानिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता रहा है और इससे उत्पन्न सामाजिक-राजनैतिक चेतना का भी, जिसे किसी एकाध राजनैतिक दल की समझ में न्यून या सीमित नहीं किया जा सकता।

इधर हिंदी कविता में इसी दृष्टि, समझ और चेतना में आई कमी पर विचार करना उचित होगा। क्या यह सर्वग्रासी पूंजीवाद के प्रभाव का परिणाम है कि उसने अपने 'चुपचाप और मनुष्यविरोधी संस्कृति के तरीकों से', प्रतिरोध कर सकनेवाली तमाम कलाओं की जगह मनोरंजनधर्मी कलाओं को रख दिया है। हम यह भी जानते हैं कि कविता प्रतिरोध का सांस्कृतिक औजार है लेकिन इधर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो अब वह न केवल हाशिए पर है बल्कि हाशिए पर बने रहने का उत्सव भी मना रही है और अब तो उसकी सक्षमता पर ही प्रश्न है। उसकी वह निर्बल चीख, वह करुण पुकार और वह प्रतिरोधात्मक इनकार और वह कामना जो मनुष्य के पक्ष में द्युति की तरह चमकती रही, वही जैसे अब किसी असहायता में बदलती दिखती है। इन सारे सरोकारों से दूर होते जाना भी तो असहाय होते जाने की दिशा में गमन ही है। कई बार सूचना मिलती है कि कवि विचार संपन्न है, वैश्विक है लेकिन उसकी कविता इस बात की पुष्टि नहीं करती। इसका उलट तो अब एक सामान्य निरीक्षण है।

कारण यह भी हो सकता है कि कविता की पृष्ठभूमि में, उसके अपने समाज में वैकल्पिक राजनीति एवं चेतना का क्षरण हुआ है और इस तरह कविता भी वाचालता के तथा विचारशून्य होने के लक्षण दिखा रही है। उसका सौंदर्य प्रायः शिल्प एवं भाषा के सौष्ठव तक सीमित होता जा रहा है। समतावादी स्वप्न के प्रति विश्वास में आई कमी और विश्व स्तर पर वैकल्पिक राजनीति की विफलता ने जैसे उसे अक्षम नहीं तो, अकेला जरूर कर दिया है। यहां पुनः यह स्मरण किया जा सकता है कि कोई भी कला समाज निरपेक्ष नहीं होती और समाज के सामूहिक स्वप्न उसे शक्ति देते हैं। तब आज कविता से यह उम्मीद किया जाना ज्यादाती नहीं है कि जब सब तरफ से निराशाजनक समाचार हों, प्रतिरोध के गढ़ टूट रहे हों, विचारधारा में पलीता लगाया जा रहा हो तो कविता मनुष्य की मुक्ति के सपने को अपने भीतर आश्रय दे, विमर्श की जगह दे और जीवन की

ऐतिहासिकता में से, निरंतरता में से उन प्रसंगों को समुचित स्थान प्रदान करे जो 'एक नए और मनुष्य पक्षधर समाज के विकल्प' को धूमिल होने से रोक सकें। हालांकि यह प्रश्न तो रहेगा ही कि समाज में बहुसंख्यक लोग लोलुप, भ्रष्ट, कायर, अवसरवादी और यथास्थितिवादी बनें रहेंगे तो केवल कविता कैसे निर्णायक इतिहास रच देगी या विचार को सकर्मक रूप से बचा लेगी? राजनीतिक दलों और अन्य सम्यक संस्थाओं से भी सक्रियता अपेक्षित है।

यह भी विचारणीय होना चाहिए कि हमारे कवियों का जीवन आखिर कैसा है? मुक्तिबोध ने कवियों के जिस आयुष्यक्रम को लेकर चिंता व्यक्त की थी, यानी जीवन की सुविधाओं का शनैः शनैः संचय और विस्तार, वह इधर और पुख्ता होता चला गया है। कुछ कवियों के लिए तो वह ध्येय है। संक्षेप में कहा जाए तो मध्यवर्गीय लोलुपता और मौकापरस्ती के उल्लेखनीय उदाहरण हमारे समय के कवियों में उपस्थित हैं। साथ ही, वे अपने जीवन में प्रखर अध्येता और काव्यकला के समर्थक नहीं रह गए हैं। और हम देख सकते हैं कि इस सबके लिए वे अब आलोचना के नहीं, सम्मान का विषय होते जा रहे हैं। यहां कविता की आकांक्षा और कवि की आकांक्षा में गहरी फांक दिखाई दे सकती है।

इन सब वजहों से यह तो होना ही है कि दलित-लेखन, जाति विशेषों के प्रसंग में किए जाने वाला मुद्दा भर रह गया है, वह वर्ग को या वर्ग की समस्याओं को रेखांकित नहीं कर रहा है। वर्ग-चेतना निर्मिति से उसका कोई संबंध है या नहीं, इस पर ध्यान लगभग अनुपस्थित है। इसी तरह से कविता में स्त्री-विमर्श महज देह का विमर्श होता जा रहा है। यहां पारिवारिक, आर्थिक और वर्गीय दृष्टि से विमर्श एक किनारे हो गया है। बच्चों की मुश्किलों पर, अन्याय, शोषण, नागरिक- समाज की कठिनाइयों पर, भावुक, संवेदनशील दृश्यों की भरमार कविता में है लेकिन उनके कारकों पर, पृष्ठभूमि पर, बदलाव की जरूरत पर विचार लगभग गायब होता जा रहा है। श्रेष्ठ कविता निबंध नहीं है लेकिन संवेदनशीलता और कलात्मकता के साथ-साथ वह एक सजग और वैचारिक मानस अवश्य है।

आज जब हिंदी समाज में, कवि की आवाज, उस तरह विद्यमान नहीं है कि अधिसंख्य जनता उसे ध्यानपूर्वक सुन सके तथा उसकी उपस्थिति उपेक्षणीय कोने में संकुचित होती चली जा रही है, तब कवि की निष्ठा, पक्षधरता और दृष्टि-संपन्नता की बात करना, शायद अधिक जरूरी और प्रासंगिक है। यहीं इस विश्वास की परीक्षा भी होना है कि समाज में, सिकुड़ी हुई जगह से भी केंद्रक पर निगाह रखी जा सकती है, उसे हिलाया-डुलाया जा सकता है। और उस समाज को बदलने का सपना देखा जा सकता है जो अपने प्रस्तुत रूप में पूंजी-केंद्रित ही नहीं पूंजी-पिपासु भी है और इस तरह अमानवीय, अन्यायी और निष्ठुर है। वह सुंदर संसार का सिर्फ सपना ही नहीं देखती है बल्कि जानती है कि इसे कैसे फलीभूत किया जा सकता है और इसके रास्ते में कौन-सी चीजें, कौन-सी स्थितियां और शक्तियां आड़े आती हैं।

और यह भी कि आखिर उसका पक्ष क्या है।



‘आत्मा में चमकीली प्यास भर गई है’ : अँधेरे में हँसते हुए हिंदी के कुछ कवि

तेजी ग़ोवर

1

यह एक गुण है, वस्तु का नहीं, ध्यान की एक प्रक्रिया का, किरण का, ध्वनि का, उन शब्दों का जो उच्चारित नहीं हो पाते; बुदबुदाते हुए वे शब्द, ग्राह्य होने के पहले, अपने को समेटते हैं, फिर वे तैयार करते हैं अपना होना !'

यह हिंदी के एक गुह्य और अवैध कवि की आवाज है। वह अब युवा कवि भी नहीं रहा, जैसा कि इस कविता को लिखते समय वह था। हिंदी में उसे जान पाना शायद कठिन रहा आया हो, लेकिन यह मात्र एक संयोग है कि जिस लंबी गद्य कविता में ये पंक्तियां उद्धृत हैं, प्रायः उसी के बूते पर स्वीडन में खांटी नवाचारी कविता के पाठक इस कवि के नाम से वाकिफ हैं। वे प्रतीक्षा करते हैं, अकसर पूछते हैं इस कवि के बारे में, उम्मीद करते हैं कि कभी उसकी छह-आठ ही और कविताएं सही, अंग्रेजी के माध्यम से उन तक पहुंचेंगी जिनका तर्जुमा वे स्वीडी में कवि के साथ बैठकर कर लेंगे। यह ठीक वैसा ही है, जैसे अंग्रेजी के एक गुह्य (और अवैध) कवि^१ की सात कविताएं पहली बार *पूर्वग्रह* में प्रकाशित हुई थीं, जो इस कवि की किसी भी भाषा में छपी हुई पहली कविताएं थी। अंग्रेजी में उन्होंने खुद को छपवाने की उत्सुकता कभी नहीं दिखाई, क्योंकि ये कविताएं वे केवल मित्रों की सोहबत में पढ़कर सुनाते थे। इतना पर्याप्त था उनके लिए। हिंदी अनुवाद में *पूर्वग्रह* में छपी उनकी सात कविताएं (समझ लीजिए कि) हिंदी के कुछेक संगुप्त कवियों के जीवन में एक बड़ी घटना थी; या कम-से-कम ऐसी प्रतीति मुझे उस वक्त हुई थी जब एकाधिक कवियों ने मुझसे संपर्क कर इस कवि विशेष के बारे में जानना चाहा। वह कम्बख्त मी-- के नाम से लिखता था, और अपने नाम को उसने अपने कवि-नाम के नीचे अच्छे से ढांप दिया था। (अब उस छुई-मुई को 'वे' कौन कहे!)

यह कवि अपने कविताओं के हिंदी अनुवाद के एक जुनूनी पाठक से मिल भी लिया, लेकिन बिना उसे बताए कि वह साक्षात मी-- ही है। पाठक महोदय पूछते रहे, 'मैं इस शहर में आकर भी मी -- से नहीं मिल सकता?' दोनों कुछ दिन साथ-साथ घूमे भी लेकिन कवि ने अपने दुनियावी नाम के सिवा अपना कोई परिचय नहीं दिया।

यह भी संयोग ही होगा कि मी-- की पहली प्रकाशित पुस्तक नॉर्वेजी भाषा में होने जा रही

है? उसकी कविता के असह्य रोमांच को झेलते हुए उसे रिसालों तक में छपवाने में कवि के मित्र(ों) को कभी कोई सफलता नहीं मिली। जैसे पहले उद्धरण वाले कवि को गाहे-बगाहे थोड़ी-बहुत मिल गई थी। और यह तो कतई संयोग नहीं होगा कि इन दो कवियों के लेखन में एक समानता है जिसकी वजह से उनका छपना, या उनका स्वीकृत होना भी कठिन रहा होगा : दोनों कवियों की जो निजी आवाज है, उससे मेल खाती आवाजें उन भाषाओं की कविता में नहीं हैं जिनमें वे लिख रहे हैं। ये दोनों कवि नवाचारी होने की जिद पाल कर नहीं लिख रहे, वे वही लिख रहे हैं जो उनसे बन पड़ता है, और जो उन्हें लिखते रहने की बाध्यता महसूस होती है -- बाध्यता जो लिखने का, लिख पाने का अपार सुख भी है। वही बाध्यता जो बयानी गाय की होती है अपने बछड़े को चाटने की। वही सुख।

एक विशिष्ट आवाज। जो कभी-कभी वह लिख जाती है जिसे कवि खुद भी समझ नहीं पाता, जब वह कवि कविता से बाहर निकल अपनी कविता को पढ़ने की कोशिश करता है। यह आवाज अपने वाक्यों के विन्यास को उलट भर देने से काम नहीं चला लेती। इस आवाज को हर शब्द को सपना कर कविता में लाना पड़ता है। वह किसी शब्द विशेष के रोजमर्रा उपयोग में भी उसे स्वप्न से सींच देती है (शमशेर और मुक्तिबोध का शब्द 'प्यास')। कवि को स्वप्नजीवी होने के लिए आकाश-गंगा से शब्द तोड़कर ले आने की जरूरत हमेशा नहीं रहती। और उसकी स्वप्न-सामर्थ्य पर कोई नियम-कानून लागू नहीं होता। इस अर्थ में भी इस वक्त लिख रहे हिंदी के संगुप्त या गुह्य कवि नाजायज हैं, अवैध हैं। न उन्हें कानून की जरूरत है, न कानून को उनकी।

रक्त की बूंद जिसे खुद आत्मा ने पैदा किया है।³

एक बड़े से कीड़े में बदल गया हुआ काफ़का का पात्र ग्रेगर साम्सा जब अपने परिवार से बात करने की कोशिश करता है तो यह संभव है कि उसका पहला वाक्य कुछ-कुछ ऐसा रहा हो। और जहां तक हमारा सवाल है, हम ले-देकर उसी परिवार के लोग साबित हो जाते हैं जो कुछ भी समझ नहीं पाते, जब वह हमसे बात करने की कोशिश करता है - हमारा अपना ही भाई, हमारा बेटा।... तब भी हम चाहते हैं कि अपने 'कीड़े भाई' से रहित हमारा घर-बार हमें वापिस मिल जाए। उसके मरे हुए शरीर को अपने घर से बहारकर हम अपने घर को पुनः साफ-सुथरा कर लेना चाहते हैं।⁴

(क्या दृश्य पर छाई हुई हिंदी कविता अपना घर साफ-सुथरा कर लेने की कोशिश में लगी है? क्या वे कवि जिनकी आवाज सुर में तो है लेकिन किसी सामूहिक किस्म की छाई हुई आवाज के साथ संगत में कतई नहीं हैं, किसी काम के नहीं हैं? उनके लिए जगह बनाना इस कदर कठिन क्यों है? उनका होना भर ही कई पहुंचे हुए गुणीजनों को इतना नागवार क्यों है? यह बात वर्तमान परिदृश्य पर ही लागू होती है या हमेशा से ऐसा ही रहा आया है? जिस संयोग से मुक्तिबोध मरणोपरांत हम सबों के लिए बच रहे, वह संयोग हिंदी में संभव है, अब भी?)

कोष्ठक में पूछे गए प्रश्न बेमानी भी हो सकते हैं। मानीखेज भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि आप कहां से खड़े होकर इस मंजर को निरख रहे हैं, आपकी आत्मछवि क्या है और आपके

दोस्त-दुश्मन, हमप्याला, हमअस्र आपको क्या शक्ल-अक्ल दे रहे हैं, कैसे नापजोख रहे हैं। अभी कल ही की बात थी कि आप स्वयं भी अँधेरे में हँसते-फिरते थे, और आज भी अँधेरे में हँसते-फिरते महसूस करते हैं खुद को। कमजोर क्षणों में आपके मुँह से निकल जाता है आपकी कविता कहां-कहां, किस-किस पाठक, श्रोता या किसी अन्य कवि से इस तरह जाकर सट-सी गई कि हमआगोशी महसूस हुई आपको, और आपके भीतर सोए हुए कवि की आंख एक बार फिर नशे में खुल गई। कोई कहे तो कहे कि आप आत्ममुग्ध हुए जाते हैं, लेकिन इस जागृति ने आपको अँधेरे में हँसते इतने कवियों के दर्शन करा दिए कि सृष्टि से सटी हुई अनंत सृष्टियों, पूर्णतः अज्ञात और असंख्य सृष्टियों की उन्मत्त प्रतीति हो गई। इसी प्रतीति से एक उन्मत्त अभिलेखागार की शुरुआत होती है, जो माटी के एक आले से बड़ा होता गया है और अब एक काले संदूक में बदल गया है। काले संदूक में ऐसी पांडुलिपियां धरी हैं कि अगर वे खुले में आ जाएं तो समकालीन भारतीय कविता में एक जलजले की शक्ल अखितयार कर सकती हैं, ऐसा जलजला जो केवल कविता में संभव होता है। भले ही बहुतेरों को यह जलजला महसूस न हो।

जिसका उद्धारण सबसे प्रथम दिया गया है, वह आपकी ही कविताओं को कभी टाइप किया करता था, और मार्गीत ड्यूरास के एक उपन्यास के हिंदी अनुवाद को। उस टाइपिंग के दौरान ही वह आपकी डरी हुई आंखों के सामने ड्यूरास के मृत्युरोग से प्राण खींचकर, सांस रोके काव्य-सुख के मुँह में एक ग्रास (कवि) बना प्रविष्ट हो गया, और इतने वर्ष बीतने के बाद भी उस मुख ने उसे उगल नहीं दिया है। यानी घास न डालने से कवि की कोई क्षति नहीं हुई; इतनी घनघोर ऊर्जा केवल एक-दो प्रेमियों के कान लगाकर सुनते रहने से ही वर्षों-वर्षों तक तिलिस्मी (मुक्तिबोधिय) और प्रज्वलित अंधकार में कूकती रही -- और यदि कोई जानना चाहे कि इस कवि ने किन्हीं मजबूरियों के चलते अनजाने में कैसा जीवन चुन लिया तो अभी-अभी अमरीका से मिले ईमेल से कियास लगाएं:

जैसा शायद मैंने आपको बताया था कि मेरी वॉलमार्ट में कैशियर की जॉब लग गई है, 91 दिन के बाद रेग्युलर हो जाऊंगा। अभी 11-1200 डॉलर महीने के मिल पा रहे हैं। महीने में 15-17 दिन काम करता हूँ। ड्राइविंग लाइसेंस मिल जाने पर वॉशिंग्टन में टैक्सी भी चलाऊंगा।... कुछ अच्छा जम जाए फिर बताने में अच्छा लगेगा। बाकी सब ठीक है, आप चिंता नहीं करना, तेजीजी। जिसने हमको बनाया है, मैंने सब उसी पर छोड़ दिया है... कल ही वॉलमार्ट के ब्रेक-रूम में लंच के समय कविता लिखी थी। बहुत ऊर्जा मिल जाती है कविता लिख जाने के बाद; टाइप करूंगा तब भेज दूंगा...

जिस जिल्लत का सामने करते यह अँधेरे का कवि सपरिवार परदेस पहुंच गया, और जिसे अपनी अनगढ़ता, गैर-दुनियावीपन और अंग्रेजी न जानने के कारण उम्र के अच्छे-खासे प्रौढ़ मुकाम पर नाकाबिले-बयान मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा है, वह वॉलमार्ट में क्षण चुराकर कविता लिख ले जा रहा है। उसको देश से विदा करते समय एक आशंका यह भी थी कि कहीं यह निरा कवि का कवि वहां पहुंचकर वॉलमार्ट के कोरे झांसे में न आ जाए। 'कम कीमतों की बड़ी लागत' वाले वॉलमार्ट को 2008 में पगार नियमों का उल्लंघन करने के लिए 35 करोड़ 20 लाख डॉलर का हर्जाना भरना पड़ा था (न्यूनतम वेतन, अधिकतम घंटे) -- जो अभी तक ऐसे मुआमलों का निपटारा करने

के लिए खर्च की गई सबसे बड़ी राशि है। और यह पहली बार हुआ है कि अब वॉल्मार्ट का पर्दाफाश करने हिंदी का एक अवैध कवि एक बड़ी कीमत अदा करने जा रहा है ताकि बिक्री होने वाली चीजों के दाम कम रहें। (इस बात को छोड़ भी दें कि यह पहली बार नहीं है कि वॉल्मार्ट का जिक्र हिंदी के फलक पर हुआ है।)

किसी अन्य प्रसंग में स्वीडी कवि आन येदरलुण्ड का हिंदी अनुवाद करते समय जो लेख उस संचयन (*फीका गुलाबी रंग*) के लिए लिखा गया था, उसमें जिस 'संगुप्त' हिंदी कवि का जिक्र आया था, उसका नाम उस लेख में जाहिर नहीं किया गया था। अँधेरे में लिख रहे कवियों का नाम लिख देना यूँ उचित भी नहीं है लेकिन वॉल्मार्ट में कार्यरत इसी कवि का उल्लेख इस निबंध में था; उद्धरण में आन येदरलुण्ड को लाना भी जरूरी है क्योंकि उनका 'फीका गुलाबी रंग' ऐसे गुमशुदा कवियों की शिनाख्त करने के लिए एक अच्छा उपकरण सिद्ध हुआ है :

“इससे पहले कि आप उसकी एक पंक्ति को उस भाषा में गूँथने की कोशिश करें, जो उसकी अपनी भाषा(ओं) से अविश्वसनीय रूप से दूर है, आन रस्मों की मांग करती है। इससे मुझे कोई मदद नहीं मिलेगी कि मैं भाषाओं की भिन्नता का अफसोस मनाऊँ, और ऐसे शब्द गिनाऊँ, जो मेरी भाषा में क्रिया की भूमिका में नहीं हैं और जो आन की विश्व-दृष्टि में कुंजी शब्द/क्रियाएं हैं। 'प्रतीक्षा' ऐसा एक शब्द है। लेकिन इस अभ्यास का कोई अंत नहीं है। मैं आपको बता सकती हूँ कि अंग्रेजी भाषा शब्द-बाहुल्य में हिंदी का मुकाबला नहीं कर सकती--आन को आगोश में लेने हिंदी में पर्यायवाची शब्द कहां-कहां से चले आएंगे। हिंदी भाषा एक 'भूखा बैजनी फूल है', जो सहोदर भाषाओं की पुतलियां चूस कर ले आएगी और आप उसकी गिनती भी नहीं कर पाएंगे। कुछ हिंदी पाठ ऐसे हैं जिनका संगीत टुकड़ों में टूटकर गिर जाने की लेखकीय क्षमता से फूटता है, 'फीका गुलाबी रंग' की तरह। यह एक किस्म का निर्गुणी लेखन है, कच्चे पदार्थ का वाष्पीकरण, भाषाओं के खंडहरों से रचा गया, और अक्सर ऐसी जवानों से निकला हुआ जिन्होंने शायद ही अंग्रेजी के कुछ शब्द बोले हों। लेकिन तब भी आप यह नहीं कह सकते- 'इस तरह का लेखन'। यह किसी तरह का लेखन नहीं है, ठेठ निजी आवाजें हैं, जो अपनी विशिष्टताओं द्वारा भाषा और कविता की बनी-बनाई सोच की धज्जियां उड़ाती हैं। किसी को अचंभा नहीं होना चाहिए कि आसपास की स्थितियों को देखती हुई ये आवाजें किसी से कहती भी नहीं कि वे कवि-आवाजें हैं, कि वे लिखती भी हैं। उन्हें कोई ढूँढ़ सके तो ढूँढ़ ले, वे इतनी छिपी हुई भी नहीं हैं। फ्रांस में क्या सोच चल रही है, इससे उन्हें कोई खास फर्क नहीं पड़ता। आप चाहें तो इन आवाजों में कई अंचलों के भक्ति-काव्य की ध्वनि को सुन सकते हैं। लेकिन कुम्हार के बच्चे के हाथों जैसे अचानक कोई विचित्र भाण्डा-बर्तन तैयार हो जाता है, वैसे ही इन आवाजों में बीता हुआ समय आपको सुनाई देता है, एकदम विलक्षण ध्वनि तरंगों में जिन्हें आज तक किसी ने नहीं सुना।

मैं रोने-रोने को हो रही हूँ। अलावा इसके कि आन की कविता ने मुझे एकदम चीरकर रख दिया, जब मेरे मित्र लार्श हर्मनसन ने मेरा परिचय उनकी कविताओं से कराया, मैं इस बात से बहुत द्रवित हो गई कि उन्हें अपने समाज में इस कदर अद्भुत जगह मिली हुई है, खासतौर से 'फीका गुलाबी' समझने वाले लोगों में। उनका एक पाठक उन्हें 'स्वीडी कविता की सामग्री' कहकर याद

करता है। सुप्रसिद्ध जर्मन अनुवादक पॉल बेर्फ से जब मैंने पूछा कि क्या उन्होंने आन का अनुवाद किया है, तो वे कहने लगे उनकी हिम्मत नहीं होती। मैंने कविता की बात करते किसी को शर्माते हुए नहीं देखा, लेकिन पॉल अपनी त्वचा के उभरे हुए रोएं बिठाने की कोशिश कर रहे थे, और उनका चेहरा अरुणाभ हो आया था। मेरी रुलाई इसलिए फूट रही है कि हिंदी में मैं कम से कम ऐसे कवि को जानती हूँ जिसे आसानी से (या बहुत कठिनाई से), हिंदी में आन सरीखी जगह हासिल हो सकती थी। (वह एक पुरुष कवि है।) इस पूरे परिदृश्य में कवि के नाते जो मेरी जगह है (?), और इस तथ्य से रूबरू कि कई ऐसे संगुप्त कवि हैं जो कभी प्रकाश में नहीं आते, आन की कविता के प्रति मेरा आकर्षण सहज और स्वाभाविक था। आन को यकीनन हमारे बीच होना चाहिए, ताकि हम देख सकें हम उनकी कविताओं के कितना करीब हैं। और ऐसा करने की प्रक्रिया में, हो सकता है कि मेरी भाषा में अन्य अज्ञात कवियों के लिए थोड़ी सी जगह निकल आए।”⁵

यह समय बहुत नहीं बीत रहा है, कुछ दोस्त अपनी ऊब के साथ बीतने का बहाना खोजते हटने का प्रयास करेंगे। मुझे इसी आकुलता से किसी प्रकार का भ्रम बनाए रखना जरूरी हो गया है।

उनके पास खोने के लिए बच जाता है, वे विलीन करने का प्रयास करेंगे। 'मैं' एक पेड़ है, और वह लगातार अपनी जड़ें जमाए रखने के लिए हवा में से कुछ खींच रहा है।

कुछ जानवरों का झुंड खिड़की के पास आकृति के रूप में टहल रहा है, सारी घास दुमंजिले तक आने के लिए उखड़-उखड़ कर चारागाह बनने का प्रयास करते हुए झांक रही है।

मेरी आंखें जहां उसे देखती हैं, वह शर्माती-सी दबकर स्प्रिंगनुमा होकर उछल रही है। यह एक खेल है, मेरे, घास और चरागाह बनने के बीच। (शैलेंद्र दुबे की गद्य कविता 'सुग्राह्यता' से)

बारीक पढ़ने की जरूरत नहीं है; सरसरी निगाह से भी देखें तो ये पंक्तियां कवि के आस्तित्विक तापमान को बखूबी दिखा पा रही हैं। 'किसी प्रकार का भ्रम'। कमलेश की कविता की समीक्षा करते वागीश शुक्ल *पंचतंत्र* की एक कहानी के हवाले से कवि-कर्म का मर्म एक ही झलक में दिखला जाते हैं।⁶ चतुर्भुज विष्णु का भेस धरे एक जुलाहा किसी राजकन्या पर आसक्त है। राजा उसे साक्षात् विष्णु जान राज्य पर धावा बोलने वाले शत्रु का सामना करने आगे कर देता है। परीक्षा की विकट घड़ियों में विष्णु विष्णुवेषधारी जुलाहे के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं और गरुड़ कृत्रिम गरुड़ में। इस तरह शत्रु को पछाड़ विष्णु अपनी प्रतिष्ठा बचाते हैं और वागीश शुक्ल कहते हैं कि “काव्योद्भव के जो भी हेतु हैं, शक्ति या निपुणता आदि, वे इसके (कवि) के पास कुछ नहीं होते लेकिन वह अपने स्वार्थ के चलते इन सबके अपने पास होने का बहाना करता है... अपनी प्रतिष्ठा बचाने इस नकली कवि में भी उस तमाशाई को प्रविष्ट होना पड़ता है क्योंकि कवि होने का महत्त्व है, लोग जिसे कवि समझते हैं उससे अ-काव्य और कु-काव्य रचवाने में उस पुराने, असली कवि की हेठी है। इस धरती पर अच्छी कविता इसीलिए संभव हो पाती है।’

शायद इसमें इतना जोड़ देना वर्तमान प्रसंग में सही होगा कि विष्णु का भेस धर बैठने की गुस्ताखी जो करेगा, इस लोभ से तो नहीं करेगा कि असली कवि उसकी मदद को आ ही जाएंगे। उसका निश्छलमना होना जरूरी है उन घड़ियों में, सायास उपक्रम भी किसी काम का नहीं। जिस

कवि को हम देख-निरख रहे हैं, उसकी कविताएं हिंदी के परिदृश्य में एक कवि के स्वाभिमानी एकांत की कविताएं हैं, ऐसे कवि की जिसे प्रकाशन की आकांक्षा करते रहने की बजाय आत्म-संशय और काव्य-प्रेमोन्माद में लगभग श्रोता-विहीन रियाज करना था। उस एक क्षण के बाद जब इस कवि-विशेष का जन्म लेना किसी को महसूस हुआ होगा, उस 'किसी' के अपार विस्मय के सम्मुख इस कवि के लिए सिवा इसके कोई रास्ता न बच पाया होगा कि उसे कवि का काठिन्य और कवि का जीवन चुन लेना था। वह भेस धर बैठा था और उसके अपने कहे में अब कुछ भी नहीं बच रहा था। वह खुद को भी किसी पैनी कगार पे खड़ा देख रहा है; अपनी बुदबुदाहट को खुद सुनने की कोशिश कर रहा है; 'मैं' को किसी शिल्प की तरह चौतरफ घूमकर देखता है : 'मैं' एक पेड़ है, और वह लगातार अपनी जड़ें जमाए रखने के लिए हवा में से कुछ खींच रहा है।'

मृत्युरोग ('काव्योद्भव के जो भी हेतु हैं') ने उसे अपनी गिरफ्त में लेकर उस सुख में उसे धकेल दिया है जिसकी प्रतीक्षा में वह बहुत लंबे समय तक व्यथा में रहा आया है। अपनी अप्रकाशित कविताओं के पहले संग्रह में वह लिखता है : 'ईश्वर एक ही जन्म में मनुष्य को सारे सुख दे-दे, इससे बढ़कर और प्रसन्नता क्या हो सकती है? मैं जब नहीं लिख पाता था तो अंतःकरण भीतर तक भीगकर रोने लगता था और मैं शून्य में देखकर सोचता था और कहता भी था कि समय आने पर ईश्वर की कृपा मुझ पर होगी।' मार्गीत ड्यूरास के उपन्यास को टाइप करते-करते ही वह एक ही दिन में चालीस कविताएं लिखकर ले आता है। प्रथम कविता प्रस्तुत है, जहां से यह झरना ऐसा फूट निकला है कि जमीन दिखाई नहीं देती, जो अपनी कशिश से प्रवाह को खींच रही है :

मेरी कल ही
बनाई हुई
अपनी ड्यूरास
मैं मर रहा हूं
तुम्हारे
इंद्रधनुषी रंगों की चमक से

मैं चल रहा हूं
अंतरिक्ष में
नहीं
शायद तुम में
तुम मुझमें
पूरी तरह
घर कर गई हो

मुझे बचाओ
मैं मर रहा हूं
ड्यूरास!'

वह पहचान रहा है कि जिसे उसने बीते रोज स्वयं गढ़ा था-- 'अपनी ड्यूरास', उसी के सदके वह आज मर रहा है, और जिससे वह अंततः याचना करता है कि वह उसे बचा ले। 'इन्द्रधनुषी रंगों की चमक' वह लेखन है जिसे उसने संभवतः पहली बार देखा है, पहली बार अनुभव किया है: ड्यूरास का लेखन और जिसके भीतर उसका खुद का लिखना एक भयावह आवेग से उसकी हस्ती मिटाने उसकी ओर दौड़ा चला आ रहा है। उसकी देहात्मा छिन्न होकर अंतरिक्ष में घूम जाने वाली है और जिस अंतरिक्ष में भी ले-देकर ड्यूरास के इस पाठ के सिवा और कुछ भी मौजूद नहीं है। उसके चकनाचूर वुजूद से एक हृदय-विदारक पुकार उठती है, जो उसी से मुखातिब है जिसने उसे इस दशा तक पहुंचाया है। लेकिन शायद नहीं : जिसे वागीश शुक्ल काव्योद्भव के हेतु बता रहे हैं, वे भी 'कला के तीन क्षणों' से गुजर रहे हैं। बचाने वाली हस्ती उस पाठ की है जो इस कवि ने खुद लिखा है और जिसे लिखकर ही वह उससे बच सकता है जिसे वह ड्यूरास कह रहा है, और जिससे वह बचना चाहता भी नहीं है। इसमें एक 'चौथा क्षण' उसका भी वजूद में आ जाता है जो खुद एक भंगुर कवि है, एकदम निष्कवच और वध्य, और जो इस दृश्य की भुतही घटनाओं को देख गया है, एक अन्य कवि का जन्म लेना अपनी नंगी आंखों से दिख गया है उसे, और उसे भी बचाने वाला अभी वुजूद में नहीं आया है। वह इस अन्य कवि का प्रथम पाठक बन बैठा है और वैसी ही निस्संगता उसे घेर लेती है जो उसे अपने क्षणों में घेरे हुए रहती है। वह बदहवास है : बाहर-अंदर हिंदी का जगत फैला हुआ है, जिसमें उसकी अपनी स्थिति भी विचित्र है, संदिग्ध है-- और इस जगत में वह किसे बताने जाएगा कि उसने क्या देख डाला है। जैसे उसने किसी पौधे या पक्षी की भाषा को एकबारगी सुन लिया हो और जिसका तर्जुमा न वह किसी और के लिए कर सकता है, न किसी को उस तर्जुमे की दरकार होगी, ऐसा महसूस होता है उसे।

तर्जुमा इसलिए भी कठिन होगा क्योंकि इस कवि-विशेष को 'स्ट्रैक्चर खड़ा करना नहीं आता', बकौल एक अजीब के। अगर यह बात सही है तो फिर यह कविता स्ट्रैक्चर के बिना ही अपने प्रवाह में बहा ले जाती है। कभी ऐसी घड़ियां भी नमूदार हो जाती हैं इस कविता के पाठ में कि 'अपने पण्य और पुण्य तजकर' ही आप अर्थच्छायाओं को ग्रहण कर सकते हैं। यूं तो कुछ भी तजने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कविता पढ़ते समय, पाठ अपने आप ही पाठक को अपने लायक बना लेता है, अगर वह पाठ है तो। स्वीडी कवि स्टीग लार्सन की तमाम कविताओं में ऐसी बक-बक, बक-बक सुन पड़ती है कि पाठक को वह कविता ही न लगे। लेकिन अचानक वह सारी वाचालता और बकवास निःशब्द और विराट किसी मौन में समाहित हो जाती है, अपने पीछे ऐसी अंतर्दृष्टि छोड़ती हुई, जो सिर्फ और सिर्फ कविता ही में मिल सकती है।

(‘मैं कविता के रूपाकार पर काम करती हूं-- मुझे नहीं पता मैं ऐसा क्यों करती हूं-- जब वह मिट रहा होता है।’⁸) यह अपनी ही प्रजाति का रूपाकार है, जो अपने पाठकों को अपने वध्य-स्थल दिखाकर भी आकर्षित कर लेता है।

वह रियाज करता है, शिद्दत से, लेकिन मानो वह मनुष्य कवि न होकर कुछ और हो जो हरियाली की ओट में बैठे किसी जीव की मानिन्द गा उठता है; आसपास मानस की जात कहीं नहीं है :

यह सारा रियाज
उस क्षण के लिए

जिसके हम पाहुन हैं

वह बहुत ही
कल्पित है
कहीं कोने में छिपा⁹

लक्ष्य करें कि यह प्रपंच हर समय या तो ‘... बहुत ही/ कल्पित है/ कहीं कोने में छिपा’ या समुच्चय है ‘उन शब्दों का जो उच्चारित नहीं हो पाते, बुदबुदाते हुए वे शब्द ग्राह्य होने के पहले, अपने को समेटते हैं, फिर वे तैयार करते हैं अपना होना।’ (‘सुग्राह्यता’) उन बेशुमार कविताओं को बांचते जाएं जो हमारे इस कवि ने पिछले उन्नीस बरस में लिखी हैं तो वे कविताएं होने के साथ-साथ उस रियाज का संकेत भी देती हैं, उसका साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं, जो वह अपने बसाए सान्द्र एकांत में करता आया है।

यह अनाड़ी प्रेम जो कवि अपनी बनाई हुई ड्यूरास/शक्ति/क्षिप्रा/काव्य शृंखलाओं या प्रकृति से करता है, यह प्रेम उसे ठीक उसी तरह मुतासिर करता है, जैसे मुक्तिबोध ‘संध्या के इस रंगीन यौवन से उन्मत्त’ होते हैं। ‘शाम, रंगीन शाम’ जो ‘मेरे भीतर समा गई है, बस गई है। वह एक जादुई रंगीन शक्ति है। मुझे उस सुकुमार ज्वाला-ग्राही जादुई शक्ति से -- यानी मुझसे मुझे डर लगता है।’¹⁰ उज्जियनी से ही वाबस्तगी रखने वाले इस मौजूदा कवि ने अपने पड़ोस को, अपनी कविता की आबो-हवा को विक्षेप की हद तक किन्हीं अतीन्द्रिय और भुतही उपस्थितियों से बसा लिया है। जिनसे डरकर वह अड्डहास करता है, ठोकर खाकर कहीं भी गिर पड़ता है, एक बाल पर पड़ती शुआ से सिहर उठता है। हो सकता है उससे लिखते न भी बनता हो, (अगर ‘हिंदी’ यही सुनना चाहे तो) वह लिखता न भी हो शायद, लेकिन ठीक वैसे ही जैसे :

तुम्हें बहुत-सी चीजें नहीं आतीं
फिर भी तुम करते हो
जैसे कि प्रेम
और लगातार खोते जाते हो।¹¹

दो

मुझको डर लगता है,
मैं भी तो सफलता के चंद्र की छाया में
घुग्घू या सियार या
भूत नहीं कहीं बन जाऊं।
उनको डर लगता है,
आशंका होती है
कि हम भी जब हुए भूत

घुग्घू या सियार बने
तो अभी तक यही व्यक्ति

जिन्दा क्यों? (मुक्तिबोध की कविता 'कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं' से)

यूं तो घुग्घू या सियार बन जाना उन कवियों की नियति से कहीं बेहतर है, जो किसी चीज की अदम्य कामना में अपनी उस विशिष्ट आवाज को उस कोरस में डुबोकर ही दम लेते हैं जो उनके चौरतफ छाया हुआ है। कोरस भाषा को आश्वस्ति की जद में ले आता है; अगर इसे लोरियों का अपमान न समझ लिया जाए, तो जीरो शिल्प में ढली कविताएं वे लोरियां हैं जो कवि को सुलाकर अत्यधिक जागरूक बना देती हैं -- उस चीज के प्रति जिसकी उसे लालसा है। शब्दों के संयोजन और विन्यास में जिन कविताओं में अपरिहार्यता नहीं है, जहां मात्राओं को घटा-बढ़ा देने से 'बात' में कोई फर्क नहीं आता, तो उन कविताओं का दृश्य पर छाए हुए होने का किसी को कुछ खास फर्क नहीं पड़ना चाहिए। लेकिन कयास लगाया जा सकता है कि वर्षों-वर्षों तक इतना मधु-संचयन कर चुकने के बाद भी जब कोई कवि अत्यन्त आत्मीय रसिकों की एक नन्हीं-सी चौकड़ी के बाहर शहद की एक भी बूंद को पहुंचने नहीं देता, तो क्या वजहें हो सकती हैं।

ऐसे किसी कवि के करीबी दोस्त जो खुद भी कवि हैं लेकिन परिदृश्य पर भक्क से अपनी पंखुड़ियां खोलकर नहीं बैठ जाते; लेकिन बुलाने पे पढ़ने चले जाते हैं, उनके पास जिन्हें दरकार है उनकी, एंठकर मना नहीं करते रह जाते -- ऐसे कवि अँधेरे में हँसते हुए कवियों को अपने साथ-साथ लेकर घूमते हैं, उनसे बजिद कविताएं सुनते हैं, आर्काइव बनाते हैं उनका, बहुत सहेजकर रखते हैं। वे गुमशुदा कवियों की जिद और अड़ियलपन से मनुहार कर कभी एकाध बार उनसे कुछेक कविताएं रिसालों आदि में छप जाने देने की अनुमति भी ले लेते हैं। लेकिन रिसाले कई बार लिफाफे तक नहीं खोलते और कई बार खोलकर भी समझ नहीं पाते कि वे ये कविताएं क्यों छापें। उन संपादकों का तुलनात्मक अध्ययन करें जो स्वीकृति देते हैं और जो नहीं देते, तो पाया जाएगा कि स्वीकृति देने वाले संपादक भी वही हैं जो स्वयं छप चुकने के बाद भी, बहुत पढ़े जाने के बाद भी संभवतः अँधेरे में हँसते हुए कवि या कथाकार या आलोचक हैं।

नब्बे की दहाई में जिन दिनों साक्षात्कार के एक विवेकवान संपादक थे,¹² कई ऐसी कृतियों के छप जाने का संयोग हुआ जो अन्यथा कहीं छप नहीं पातीं। अभिलेखागार में चुपचाप चिरकाल से धीर धरे बैठे दो गुमशुदा कवियों को इस लेखक-संपादक के आत्मीय संपादन में छपने पे एतराज न हुआ। इनमें से एक ऐसा कवि है जो जन-आंदोलनों के लिए जोश-भरे सुंदर गीत लिखने के साथ-साथ यह भी लिख जाता है कि कैसे एक 'काली गर्भवती हिरणी/चट्टान से पीठ खुजला रही है...।' वह ठेट बुंदेलखंडी मानस का आदमी है और हिंदी साहित्य का ही नहीं, लोक का अध्ययन और उसमें पैठ जाना भी वह उसी संजीदगी से करता है। कस्बाती मध्य प्रदेश के उन खूब यारबाश बुद्धिजीवियों में शरीक है यह शख्स जो हँसी-हँसी में ही हाले-दिल बयान कर जाते हैं, और जिनकी खुदारी की सीमा कोई नहीं बांध सकता। जीवन इस कदर कठिन कि कवि ही जिए तो जिए। पूरा कुनबा कड़कती बिजलियों के बीचों-बीच खड़ा हो जैसे... पूरी तरह वध्य और निष्कवच, और यकायक कोई लाइला खुद ही कूच कर जाता है कड़कते आकाश की ओर-- कौन प्रतीक्षा करे! बची-खुची पसलियां लिए भी इस कवि का समय पढ़ने-लिखने में ही बीत रहा है -- लेकिन कठिन

है। उनकी पत्नी कविता एक दिन घर आती हैं और ढेर-सी किताबें और पत्रिकाएं झोले में भर उनके लिए यहां के बाहुल्य से ले जाती हैं। उन्हें भी सख्त चोट आ गई थी एक हादसे में, घुटने भी बोल रहे थे उनके, लेकिन 'वे कितने खुश होंगे झोला भर सामग्री देख', कहती हुई वे हल्की बारिश में धीमे-धीमे चलतीं बस पकड़ मिसरोद लौट जाने के लिए निकल पड़ीं।

मिसरोद में क्या है, कैसे है, इसे न कोई कहे, न कोई सुने। बस इतना कि जीवन वहां भी है, जैसे देश में और जगह। अपना-अपना जीना देश में और जगह के जीवन को धुंध में लपेट देता है। अच्छे-से देखने भर से ही बिंध जाएगी धुंध। देखने वाली आंख को कष्ट होगा। लेकिन जहां मिसरोद है वहां से कविता उनकी कविताएं एक नाजुक से झोले में भरकर यहां लाई थीं क्योंकि अब आर्काइव किसी और जगह रखा है; और इस लेख के लिए फिलवक्त उपलब्ध नहीं है। मसलन, जिसकी बदौलत विश्वसनीयता से यह बतलाया जा सकता कि 1953 में मध्य प्रदेश के नरसिंहपुर जिले में जन्मा यह कवि पिछले चालीस साल से लिख रहा है, और अब तक पत्रिकाओं में कुल तीस कविताएं प्रकाशित हैं। बच्चों और महिलाओं के शिक्षा, सशक्तीकरण कार्यक्रमों के सिलसिले में कई राज्यों में उसका काम चर्चा में रहा है। आठवें दशक में ग्रामीण संस्था किशोर भारती में रहकर उन्होंने ग्रामीण और कस्बाती बच्चों के लेखन को संभव बनाते हुए, उसे चवन्नी की साप्ताहिक साइक्लोस्टाइल पत्रिका में संकलित कर शिक्षा के क्षेत्र में एक बड़ा योगदान दिया था। उन पत्रिकाओं में छपी रचनाएं आज के दिन किताबों की शक्ल में छप रही हैं लेकिन यह कवि खुद अपनी कविताओं की किताब आज तक नहीं छपवा पाया, न ही उसने ऐसी कोई कोशिश की इन कविताओं को सामने लाने की:

चिरपिरी नहीं निकलीं मिर्चें
कड़वी निकल आई ककड़ी
कीड़ा निकल आया आम में
कड़कड़ाकर बरस गई भागते-भागते
हाथ भर की बदली धूप में

भागकर एकदम से
ऐन उस घड़ी पर नहीं आ पाया
तुम्हारे पास में

इस सबमें मेरी क्या गलती है?¹³

जिस युवा कवि का कविता संग्रह चिह्न¹⁴ प्रकाशित है और जिसका हिंदी साहित्य के रुष्ट, गुमशुदा और विशिष्ट कवियों, लेखकों के साथ-साथ नामदार लेखकों से क्या-क्या लिखवा ले जाने का बेजोड़ रिकार्ड है, उसने भी शायद बहुवचन के किसी अंक में इस कवि का स्वागत किया था। ऐसे विशिष्ट संपादकों में 'जानकी पुल'¹⁵ का लेखक भी शामिल है, और आलोचना की पुस्तक कविता का व्योम, व्योम की कविता का भी।¹⁶

तीन

और अब अंत में 'माधव की गाय'¹⁷ नामक कविता का कवि। यह जनाब कौन हैं आखिर? कवि की हैसियत से उन्होंने खुद को ज्ञापित नहीं किया, लेकिन दूरदर्शन के एक जाने-माने न्यूज-रीडर वे रहे हैं; वॉयस ओवर के लिए उनकी आवाज के मुरीद बेशुमार लोग हैं; वे कविता पे विश्वभर में बनी फिल्मों को एकत्र कर उन फिल्मों के कई फेस्टिवल अलग-अलग शहरों में आयोजित कर चुके हैं; और काव्य-प्रेम में कंगाली की हद तक वे जाने को तत्पर रहते हैं और बिना किसी अनुदान के अपनी जेब से सब आयोजन भी किया करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से वे हिंदी के कवियों की आला-दर्जे की रिकॉर्डिंग्स भी कर रहे हैं जो कवि की आवाज को उसकी श्रेष्ठतम संभावना में पकड़ पाने में सक्षम हैं। इस कड़ी में हाल ही में कुंवर नारायण का एल्बम लेकर वे भारत भवन पहुंच गए थे और कुंवरजी पर केंद्रित प्रसंग में पूरा कविता पाठ इन्हीं की बंदोबस्त संभव हो पाया था। जिस तकनीक का वे इस्तेमाल करते हैं, वह एकदम नफीस है और इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त, हालांकि वित्तीय पक्ष इतना भारी है कि वे खुद लगभग हर बार ऐसा कुछ करने के बाद सड़क पर ही आ गए मालूम पड़ते हैं। कवि अपूर्व नारायण से उनकी मैत्री चल निकली है और वे अपने पिता कुंवर नारायण को इस कवि के कवि होने की भनक दे भी चुके हैं। हिंदी के दो-एक और जाने-माने कवियों को थोड़ा-बहुत मालूम है इस शख्स के पास कविता का कितना बेशकीमती खजिरा मौजूद है। एक बड़े-से लिफाफे में वे लिख-लिखकर चिंदियां फेंकते जाते हैं, और इस तरह करते-करते इस्लाह के बाद बहुत-सी कविताएं वजूद में आ चुकी हैं।

यह बातें फिर भी गौण हैं; मुख्य बात यह है कि जिस चीज के लिए यह बंदा जीवित है, वही वह सभी से छिपा ले जा रहा है। कियास लगाना कठिन है -- उसका हासिल क्या है? क्या किसी कवि के लिए यह मुमकिन भी है कि वह कवि न होने का भेस धरे घूमता फिरे? क्या कहें? तमाशाई इस बार मामूली कुर्तों में घूमता फिर रहा है? वह कवियों की सोहबत में पड़ भी जाता है लेकिन खुद को जाहिर किए बिना। मानस उसका जटिल है और कवि त्रिलोचन के प्रेम में मारा-मारा फिरता रहा है वह। उस वक्त तक अपने प्रिय कवि का साथ देता हुआ जब तक चिता में पूरी तरह खाक नहीं हो गई वह हँसती-गाती देह। कुछ था जो खाक नहीं हो पा रहा था, बच रहा था अग्नि से। फिर श्मशान में अकेला खड़ा रह गया यह कवि फफक पड़ा था, अग्नि की जरा-सी मदद की थी उसने हाथ बढ़ाकर। त्रिलोचन नहीं जानते थे वह खुद भी कवि है। रुग्णावस्था में पड़े वे इस अतिथि से पूछते थे- 'तुम क्यों आते हो मिलने मुझसे?'

कल्पना अवश्य कर देखनी चाहिए कि इस कवि की एकाध कविता त्रिलोचन सुन जाते तो कैसा होता।

'माधव की गाय' की कुछ पंक्तियां बांचने पर एहसास होता है कि शायद दृश्य से एक आत्मीय फासला बनाकर ही यह सब देखना संभव हुआ है :

भीतर माधव बिराजे हैं
अब अकेले में भी
वैसे ही

बाहर उनकी गाय ।
घास खाती है
प्रांगण के उस छोर सीढ़ियां चढ़
भीतर आई टूटे द्वार से

ईंटों के ढेर में उग आई जाने कब
यह घास । शायद किसी ने देखी भी हो
अब यह गाय खत्म कर देगी
तुरंत पलक झपकते

पास ही 13वीं शताब्दी का हयग्रीव अवतार
सुगढ़, आक्रामक घूरता है
एकटक

16वीं शताब्दी में गिरा भूकंप में मंदिर की
छत से । रख दिया गया है यहां प्रांगण के द्वार पर...

‘ईंटों के ढेर में उग आई जाने कब/यह घास’ कैसे माधव की गाय द्वारा खत्म कर दी जाएगी । इसके तुरंत बाद हयग्रीव अवतार की आक्रामक घूर, उसकी, जो कभी भूकंप में मंदिर की छत से आन गिरा था और अब प्रांगण का द्वार ही जिसकी जगह है । हर बिंब जैसे कवि के द्वारा इरादतन लिए गए फासले की ही कहानी कह रहा हो । कवि की विनम्रता जरूरी नहीं, न ही चुप्पी । वह अपना सधा हुआ ‘सुगढ़’ शिल्प बाकायदा प्रदर्शित कर रहा है; गद्य का सौंदर्य लिए हुए यह आवाज बुलंद है, मिटी-मिटी या डरी-सहमी कतई नहीं । इस आवाज का किया हुआ रियाज मालूम पड़ता है, इन कविताओं या इस कविता को पढ़ते हुए आपको एक ध्वनि का आभास होता है-- वह नाद जो खामोशी को मुसलसल मुखरित करता जाता है । काई लगे पत्थर के पीछे बैठा एक पुरुष झींगुर । और शायद उस परिदृश्य की ओर एक देसी ‘आक्रामक’ घूर भी जिसमें प्रवृष्टि होने की, पूरी तैयारी के बाद भी यह कवि राजी नहीं है । जबकि उसे यह इल्म भी है कि ‘नीचे/झींगुरों से बजती घाटी में कुछ/और आवाजें भी हैं...’

पत्थरों, बकरियों, गायों, झींगुरों की इस लंबी नाट्य प्रस्तुति का आनंद लेती यह लयबद्ध उपस्थिति दर्ज करती है कि ‘नव-दंपत्ति, मेड़ पर सिर भिड़ाती बकरियों-सा/जा चुका...’ । उसकी दृष्टि गुंबद तले रखी दो प्रतिमाओं के हिलने की कल्पना करती है, जिनकी शक्ल विदेशी राजकुमारों से मिलती है, प्रतिमाएं जो कबीले के प्रतापी राजकुमारों या कि उनके इष्ट देवों की हैं । प्रतिमाएं हैं, हिलती हैं, और कवि कियास लगाता है कि वे शायद अंधेरी गुफा में माधव से कुछ देर मिलने आ जाएं-- इस बीच गाय चर कर लौट गई है, ‘घाटी में बागी भी कुछ घिरते होंगे किसी घर में ।’

अंत में तेरहवीं शताब्दी के दौरान मंदिर की छत से गिरे हयग्रीव अवतार की ही तरह, जो सब कुछ निरखता पूरा दिन मूर्तियों वाले गुंबद के नीचे सीढ़ियों पर बैठा रहा है, वह अब संशय करता है कि उसे ‘सांझ से घिर’ जाना है या चुपचाप इस प्रांगण को खाली कर देना चाहिए उसे ।

एक बार फिर, अपने उठने की सोच, उसका ध्यान पुनः इस ओर जाता है- 'माधव चली गई है तुम्हारी गाय।' स्वयं को 'इसे गिरे हुए प्राचीन अवतार' से जोड़कर देखता हुआ पात्र अब सांझ में उठकर संभवतः चला जाने वाला है, अब जबकि घास खत्म कर माधव की गाय भी इस एकांत से प्रस्थान कर चुकी है।

इस पाठ में कविता, नाटक और उपन्यास तीनों की सुघड़ प्रतीति होती है- इस आख्यान में किरदार बाकायदा आ-जा रहे हैं अपनी भूमिकाएं निभाते हुए, जबकि इस कविता की दृष्टि प्रायः औपन्यासिक ही है। कुछ है जो ठिठक गया है प्रांगण के द्वार पर तैनात हयग्रीव की तरह; कुछ और है जो बज रहा है झींगुरों के राग और बकरियों की घंटियों के शिजंन की मानिंद, लेकिन जो शब्दों में नहीं उकेरा गया है। दृष्टि के औपन्यासिक हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि खाली जगहों से अर्थ उफनते नहीं चले आएंगे। इतना कुछ दिखला जाती हुई कविता भी अंततः घास से रीते हुए किसी निगूढ़ प्रांत में एक अकेले और उदास (निराश नहीं) कवि का आभास हमें दे जाती है; वह जिसने अपनी आवाज को खुद को सुना-सुनाकर ही गढ़ा है, साध लिया है उसे। अगर कोई बड़ी सांस्कृतिक हस्ती यह निष्कर्ष निकाल चुकी है कि मुक्तिबोध के कोई वंशज अभी हिंदी कविता में नहीं हैं, तो उन्हें अंधेरे में बजते हुए झींगुर के स्वरो-व्यंजनों का श्रवण करने एक बार फिर उसी दुलार से छिपते फिर रहे कवियों से कुछ पढ़कर सुनाने का आग्रह करना होगा।

'माधव की गाय' नब्बे की दहाई में साक्षात्कार में छप चुकी है। हाल ही की कविता के इतिहास में ऐसी किसी कविता का छप भर जाना भी एक विरल संयोग है, और तब भी उस वक्त पच्चीस-छब्बीस साल के इस कवि का उस साल के दौरान छपी कविताओं में 'माधव की गाय' के साथ चुपके से चले आना किसी समिति को महसूस तक नहीं हो पाया। न ही यह कि 'माधव चली गई है तुम्हारी गाय', बिना किसी को ठीक से दिखे हुए। यह एक कविता है, उस वजनी दीवान में से चुनकर ली गई जो बहुत कम लोगों के हाथ में अवलोकनार्थ सौंपा गया है।

मुक्तिबोध की एकाधिक काव्य-पंक्तियां इन 'गुह्य' और 'अवैध' कवियों के वजूद पर एक टीका की तरह पढ़ी जा सकती है :

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है

...

(मेरे रक्त भरे महाकाव्यों के पन्ने उड़ते हैं
तुम्हारे-हमारे इस सारे झमेले में) (मैं तुम लोगों से दूर हूँ)

(पुनश्च : इस लेख में हिंदी के तीन कवियों का जिक्र हुआ है, यह मानकर कि हमारी भाषा में ऐसे कई कवि मौजूद हैं जो खुद को, किन्हीं वजहों से, प्रकट नहीं कर रहे हैं। जरूरी नहीं कि ऐसे कवि युवा ही हों; हर पीढ़ी में ऐसे कवि मौजूद हैं जिन्हें छपना-छपवाना, मेलों-ठेलों में आना-जाना गवारा नहीं है। ऐसे कवियों में से उन कवियों का उल्लेख यहां नहीं हुआ है जिन्होंने अपना एकाध संग्रह छपवाकर अपने मित्रों को थोड़ा-बहुत प्रसन्न कर दिया है -- भले ही वह स्वभावतः इसी श्रेणी के कवि हैं।)

नोट्स

1. शैलेन्द्र दुबे (जन्म 1965, उज्जैन) की जिस कविता 'सुग्राह्यता' से यह उद्धरण है, वह ऑनलाइन पत्रिका प्रतिलिपि पर छप चुकी है। इसी कविता से कुछ और उद्धरण भी लेख में है। शैलेन्द्र की अन्य उद्धृत कविताएं भी उनके पहले अप्रकाशित संग्रह *हमने खुशी के दिन तय किए* से हैं।
कालक्रमानुसार आठ या नौ संग्रह और तैयार किए जा रहे हैं। अभी हाल ही तक वे कालिदास अकादेमी, उज्जैन में कार्यरत थे।
2. मीरनशाह के नाम से लिखने वाले इस कवि का जन्म 1968 में हुआ था। मूल फ्रेंच से उन्होंने कई कवियों के अनुवाद भी अंग्रेजी में किए हैं। मुख्यतः पॉल एलुआर की कविता पर उन्होंने वर्षों तक काम किया है। जापानी किसान मासानबु फुकुओका से प्रेरणा पाकर वे पिछले कई साल से प्राकृतिक खेती से जुड़े क्रियाकलापों से वाबस्तगी रखे हुए हैं। *कक्ख तों क्रांति* शीर्षक से उन्होंने फुकुओका की युगान्तकारी पुस्तक *द वन स्ट्रॉ रेवोल्यूशन* का पंजाबी में अनुवाद भी किया है। इन दिनों जिला रोपड़ (पंजाब) के गांव पड़छ में रहकर वे प्राकृतिक पद्धति से मित्रों के लिए फल-सब्जियां वगैरह उगाने के काम में लगे हैं। इसी वर्ष में कभी उनकी कविताओं के नॉर्वेजी में अनुवाद पुस्तकाकार छपेंगे। यह उनकी पहली प्रकाशित पुस्तक होगी। (अनूदित पुस्तकों को छोड़कर)
3. स्वीडी कवि आन येदरलुण्ड की एक पंक्ति तेजी ग्रोवर के अनुवाद में। *फीका गुलाबी रंग* शीर्षक से आन येदरलुण्ड की कविताओं का हिंदी अनुवाद सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर से छपा है।
- 4-5 *फीका गुलाबी रंग* के अंत में तेजी ग्रोवर के निबंध 'फीका गुलाबी रंग' से।
6. 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र', वागीश शुक्ल, *समास-8*, पृ.-302.
7. शैलेन्द्र दुबे के प्रथम अप्रकाशित कविता संग्रह से।
8. देखें नोट-3.
9. देखें नोट-7.
10. *मुक्तिबोध रचनावली*, खण्ड-4, पृ.-77.
11. देखें नोट-7.
12. कवि-कथाकार ध्रुव शुक्ल.
13. वीरेन्द्र दुबे (पिपरिया, जिला-होशंगाबाद)। इन दिनों भोपाल के पास मिसरोद में। उनकी एक और कविता देखिए :
बेटे तितली को
डिबिया में भरकर
मत रख
उसे बगिया की
फटकियां खोलने दे,
उसे क्यारियों में

जो-जो
पूछताछ करनी है
कर लेने दे,

अपनी बारी पर
तू कौन
चुप रहने वाला है

14. पीयूष दइया
15. प्रभात रंजन
16. मदन सोनी
17. जितेंद्र रामप्रकाश, जिनकी यह कविता ध्रुव शुक्ल के संपादन में *साक्षात्कार* में छपी थी।



कविता की भाषा और भाषा का समाज

प्रयाग शुक्ल

(एक)

किसी भी काल में कवियों द्वारा कविता प्रायः उनकी मातृभाषा में ही लिखी जाती रही है। यही क्रम आज भी अटूट बना हुआ है। और यह भी अटूट है कि जिस भाषा में कविता लिखी जाती है- किसी भी काल में, उसका पहला पाठक/श्रोता उस भाषा का समाज ही होता है। मसलन आज हिंदी में या बांग्ला, मराठी, तमिल, तेलुगु में लिख रहा किसी भी पीढ़ी का कवि, सबसे पहले तो अपनी भाषा के समाज को ही संबोधित होता है। वहीं से उसकी कविता को कुछ 'प्रत्युत्तर' प्राप्त होता है, स्वीकृति-अस्वीकृति की ध्वनियां-प्रतिध्वनियां सुनाई पड़ती हैं। प्रशंसा-अनुशंसा की भी, आदर-समादर की भी। अनुवाद में उसकी कविता किसी अन्य भाषा में पहुंचे, इसकी बारी बाद में आती है।

देखें तो इस सामान्य तथ्य के गहरे निहितार्थ हैं, और कई जाने-अजाने पक्ष भी हैं। पहली जांच तो इसी की करें कि कोई कवि अपनी कविता जिस भाषा में, जिन शब्दों और मुहावरों के साथ, लिख रहा होता है, क्या उस काल का समाज भी उन्हीं शब्दों-मुहावरों का प्रयोग अपने दैनंदिन जीवन में कर रहा होता है? उत्तर स्पष्ट रूप से 'नहीं' होगा क्योंकि अपने दैनंदिन जीवन का कार्य-व्यापार कोई भी समाज, अपनी भाषा में प्राप्त, प्रायः एक तिहाई शब्दों से या उससे भी कम-थोड़े से शब्दों से ही चलाता है। उन्हीं शब्दों से जो सामान्य रूप से समाज में बोले-समझे जाते हैं। हां, यह हो सकता कि वह अपनी भाषा के, कविता में व्यवहृत उन शब्दों को भी समझ ले, जो वह 'बोलता' आम तौर पर भले न हो, पर, उनका अर्थ उसके लिए बिलकुल अजनबी न हो, और वह अपने द्वारा 'अनबोले' शब्दों को भी ग्रहण कर, कविता को सराह ले। मसलन जब अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' लिख रहे थे, 'दिवस का अवसान समीप था/ गगन भी था कुछ लोहित हो चला/ तरु-शिखा पर थी अब राजती/ कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा' या 'निराला' लिख रहे थे : 'दिवसावसान का समय- मेघमय आसमान से उतर रही है/ वह संध्या-सुंदरी परी-सी/ धीरे, धीरे, / तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास',या सुमित्रानंदन पंत लिख रहे थे : 'नीरव संध्या में प्रशांत/ डूबा है सारा ग्राम प्रांत / पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर, / ज्यों वीणा के तारों पर स्वर!'... तो इन पंक्तियों में प्रयुक्त कई शब्दों को तब का समाज भी रोजमर्रा जीवन में तो इस्तेमाल नहीं करता था, पर, उस समय के भाषा-समाज को, काव्य प्रेमी पाठक/श्रोता समाज को, अध्यापकीय समाज को, इन्हें ग्रहण करने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी, और कई शब्दों के मर्म को- कविता में व्यवहृत मर्म को- वह थोड़े से प्रयत्न से, 'काव्य-चर्चा' में संलग्न होकर, समझ-सराह सकता था। और कवियों के मन में भी यह आश्वासन मौजूद रहता था कि समाज के काव्यप्रेमी वर्ग से, आलोचकों-समीक्षकों से,

अध्यापकों से, यहां तक कि कविता और साहित्य के छात्र-छात्राओं से, कविता के सामान्य पाठक से भी, उनका एक रिश्ता देर-सवेर या तत्काल बनकर रहेगा। छायावाद की काव्य भाषा को भी अपने समय में, समाज से जिस हद तक स्वीकृति मिली, वह इसी का प्रमाण है। पर, क्रमशः समाज की भाषा में होने वाले परिवर्तनों के साथ आज हम यह देख रहे हैं कि इस तरह की भाषा में- छायावादी भाषा में- न तो कविता लिखी जा रही है, न ही स्वयं समाज में वह सहज ग्राह्य है। और न ही उस 'भाषा' में कविता लिखने की कोई जरूरत है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो 'छायावाद' की धरोहर हमारे पास है, वह स्वयं कवियों, काव्य-प्रेमी समाज, और सामान्य पाठकों के लिए व्यर्थ हो गई है- इसका सीधा-सा अर्थ है कि छायावाद की कविता या उस काल की कविता को अपने लिए आज ग्रहणशील बनाने के लिए, हमें कुछ अतिरिक्त प्रयत्न करना होगा, अपनी ही भाषा हिंदी के उस 'काल' में उतरना होगा, जब ऐसी भाषा में कविता रची जा रही थी, और हिंदी के ही उन कवियों द्वारा रची जा रही थी, जिनके बिना हिंदी कविता के प्रेमी को, अपना काव्य प्रेम अंततः अधूरा ही लगेगा।

तो कवियों को भी यह भान तो रहता है कि जिस समय वे लिख रहे हैं, उस समय का भाषा-समाज, भाषा को किस रूप में बोल-बरत रहा है, और उनकी काव्य-भाषा उसके अनुसार भी कुछ तो बदलती ही है; पर, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कविता हमेशा बोलचाल की भाषा में ही लिखी जाती है : और कोई कवि, अपनी कविता में अपनी भाषा के उन शब्दों को आने से / या उन्हें लाने से मना कर देता है, जो तत्कालीन समाज में ज्यादा प्रचलित नहीं होते। 'अज्ञेय' इस बात का एक बड़ा उदाहरण हैं कि उन्होंने बोल-चाल वाली भाषा का भी खूब उपयोग किया, लोक मुहावरों को भी बरता, लोक में प्रचलित शब्दों को भी संज्ञान में लिया, लोकधुनों को भी, और क्लासिकी काव्य गरिमा भी अपनी कविता को दी। आखिरकार 'असाध्य वीणा' कविता के बहुतेरे प्रकृति वर्णन बहुतों को ग्राह्य हुए, उनके सौंदर्य ने भी बहुतों को छुआ, और उसकी भाषा ने भी यह प्रमाणित किया कि समाज की भाषा भी भले ही बदली हो या बदलती गई हो- पर, 'कमल कुमुद पत्रों पर चोर पैर द्रुत धावित जल-पंछी की चाप' का विकल्प भला क्या हो सकता है।

(दो)

यों तो कविता की भाषा, और उस भाषा के पाठक समाज के अंतरसंबंधों की कई तहें हैं, कई स्तर हैं; पर, रेखांकित करने वाली बात यह है कि इस अंतरसंबंध का अगर एक मानी यह है कि कवि अपनी भाषा के समाज को संज्ञान में लेता है- और उससे यह अपेक्षा की भी जाती है- तो उससे कुछ अधिक जिम्मेवारी उस भाषा के समाज पर भी आ पड़ती है कि वह जब कविता की ओर उन्मुख हो तो यह मानकर नहीं कि उसे सब कुछ बना-बनाया और परोसा हुआ मिल जाएगा, तुरंत भोजन की तरह, बल्कि काव्य के आस्वाद के लिए वह भी कुछ तैयारी करे। और हम जानते हैं कि कविता का वास्तविक आस्वाद लेने के लिए कुछ पाठक-श्रोता ऐसी तैयारी करते भी हैं। वे कई कवियों की कविताएं पढ़ते हैं। कविता की आलोचना-समीक्षा पढ़ते हैं। कवियों के जीवन-तथ्यों का अता-पता भी लेते हैं। सिर्फ समकालीन कविता नहीं पढ़ते। जिस भाषा की कविता वे पढ़ते हैं, उसकी सभी काल-अवधियों की ओर जाते हैं। कल्पना कीजिए कि जो पाठक सूर-तुलसी-कबीर से लेकर 'अज्ञेय', शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध और केदारनाथ अग्रवाल की कविता से भी परिचित होगा-

वह कविता की कितनी बड़ी रेंज से गुजरते हुए कुंवरनारायण, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह पर ही न ठहरकर विनोद कुमार शुक्ल, कमलेश, रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे, ऋतुराज और ज्योत्सना मिलन की कविता तक भी आ जाएगा, वह इनके बाद की पीढ़ियों से भी कुछ रिश्ता तो बना ही लेगा। हिंदी भाषी समाज में अभी भी कुछ लोग ऐसे मौजूद हैं जो कविता को कंठस्थ भी करते हैं- उसके सांगीतिक आस्वाद के लिए, और जरूरत पड़ने पर, या इच्छा होने पर, उन कवियों की कुछ पंक्तियां या कविताएं आपको सुना भी सकते हैं, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। समाज में मौजूद ऐसे लोग, फिर वे चाहे स्वयं कवि-लेखक-आलोचक-समीक्षक-अध्यापक-पत्रकार हों या किसी अन्य अनुशासन से जुड़े हुए हों, काव्य-चर्चा का ऐसा वातावरण भी कुछ तो बनाते ही (रहे) हैं, जिससे प्रभावित-लाभान्वित होकर अन्य लोग भी काव्य के आस्वादन के लिए अपने को तैयार करते हैं और इस तैयारी की प्रक्रिया में कविताओं के मर्म-अर्थ-बोध की ग्रहणशीलता को बढ़ा लेते हैं। जिस तरह किसी महत्त्वपूर्ण कवि के लिए यह जरूरी होता है कि उसके पास अपनी भाषा के शब्दों का एक बड़ा भंडार हो, स्वयं सामाजिक जीवन से अर्जित किया हुआ, और शब्दकोशों से लेकर साहित्यिक संदर्भों और काव्य-साहित्य आदि से प्राप्त किया हुआ, वैसे ही एक पाठक-श्रोता के लिए भी यह जरूरी ही माना जाएगा कि वह शब्दों की दुनिया से एक सम्यक परिचय रखता हो, उन्हें अपने लिए लगातार 'उगाहता' रहता हो, जिससे वह समकाल की ही नहीं, पूर्ववर्ती कालों की कविता को कुछ तो सराह ही सके।

(तीन)

आज वैसी काव्य-चर्चा समाज में सुलभ नहीं है, जैसी हमने अपने किशोर दिनों में पचास के दशक में हिंदी भाषी समाज में देखी थी। हम कोलकाता से जब गर्मी और दशहरा की छुट्टियों में अपने गांव तिवारीपुर, पोस्ट हुसेनगंज, जिला फतेहपुर में आते थे तो गांव के काव्य-प्रेमी समाज में मैथिलीशरण गुप्त या महादेवी वर्मा की पंक्तियां भी तैरती थीं, आल्हा की भी, रामायण का पाठ तो प्रायः कहीं न कहीं होता ही था। बिहारी-देव भी सुन पड़ते थे। स्मृति इसकी भी है कि गीतकार रमानाथ अवस्थी के पिता जगमोहन नाथ अवस्थी जैसे आशुकवि भी वहां थे- पास के गांव लालीपुर में। वह मेरे बाबा के मित्र थे और वे जब हमारे यहां आते तो हम भाई-बहनों के नाम पर तत्काल कोई कविता बनाकर सुना देते थे। उनका कविता 'बनाना' हमें एक चमत्कार-सा लगता था। लगता था हम भी इस तरह कविता लिख सकें तो कितना अच्छा हो। अंत्याक्षरी तो होती ही थी जिसमें हिंदी की ही कविताओं का प्रयोग मान्य था।

और कोलकाता के अपने किशोर दिनों में भी मैंने पाया था कि छठवीं कक्षा का मेरा एक सहपाठी महादेवी वर्मा का संग्रह *नीहार* लेकर आया है। उस संग्रह को समझ-सराह सकने की उम्र न मेरी थी, न उसकी, पर, हमने उसे पढ़ा था- और हमें हमारी अपनी ही भाषा हिंदी, कुछ अधिक मधुर लगने लगी थी। यह भी पता ही था कि हमारे परिजन, और उत्तर प्रदेश के बैसबाड़ी अंचल से गए हुए लोग, मिलकर कवि-सम्मेलनों का आयोजन करते थे। सभी प्रवासी व्यवसायी थे या किसी दफ्तर-दुकान में काम करने वाले, पर, सबकी रुचि किसी न किसी रूप में कविता में थी। आस-पड़ोस में पुस्तकालय थे, जहां साहित्य, कविता समेत, अच्छी मात्रा में सुलभ रहता था। इनमें से एक, ब्रह्मसमाज पुस्तकालय की मुझे अच्छी तरह याद है, जो कोलकाता के सुरेंद्रनाथ बनर्जी रोड के हमारे

घर से कुल पांच-सात मिनट की दूरी पर था। आज स्थिति काफी कुछ बदल चुकी है पर, मैं जल्दी से इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचना चाहूंगा कि अब कविता और साहित्य प्रेमी नहीं रहे, हिंदी भाषी समाज में। इसका एक कारण तो यही है कि महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, केरल की तरह इन प्रदेशों के भाषा-भाषी, अपनी रुचियों में हमें सहज ही पहचान में आ जाते हैं, पर, हिंदी-प्रदेश कई हैं, और अहिंदी भाषी प्रदेशों में भी हिंदी बोलने-पढ़ने वालों की संख्या भी काफी है- तो इस बिखरी-पसरी स्थिति के कारण हम साधारणतः यह अनुमान नहीं लगा पाएंगे, न ही इसका लेखा-जोखा कर पाएंगे कि किस प्रदेश के, किस अंचल में साहित्य और कविता की स्थिति कैसी है। हां, एक औसत निकालकर ही यह कह सकते हैं कि हिंदी कविता और हिंदी भाषी समाज की दूरी बढ़ी है। जब भी किसी समाज में किसी क्षेत्र में, सामाजिकों की दूरी साहित्य और कलाओं से बढ़ती है तो उसे पाटने के प्रयत्न भी करने पड़ते हैं। कविता के लिए ऐसे कोई विशेष प्रयत्न किए जा रहे हैं, इसके प्रमाण नहीं मिलते, पर वे किए जाएं तो श्रेयस्कर होगा।

(चार)

कविता का आस्वाद लेने के लिए, सिर्फ कविता ही पढ़ी-सुनी जाए, ऐसा नहीं है। सच पूछिए तो जिन्होंने अपनी भाषा में अच्छा गद्य-साहित्य नहीं पढ़ा वे कविता को ठीक से समझ-सराह न सकेंगे। एक तो गद्य-साहित्य- फिर वह चाहे कथा का हो या कथेतर, कविता में प्रायः प्रयुक्त होने वाले शब्दों से कहीं ज्यादा शब्दों का प्रयोग करता है, और इस नाते उसके पाठक के पास शब्द-भंडार स्वतः कुछ ज्यादा होता है। उसकी भाषा-नींव कुछ अधिक मजबूत होती है। दूसरे, गद्य से प्राप्त होने वाले आस्वाद से कविता का आस्वाद 'क्यों' और 'कैसे' भिन्न होता है, इसे वह अच्छी तरह समझ पाता है। जिसने हजारी प्रसाद द्विवेदी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, महादेवी, 'अज्ञेय', 'रेणु', निर्मल वर्मा का गद्य पढ़ा है, उसकी निकटता यों भी कविता से कुछ अधिक होने की स्थिति का कुछ तो अंदाजा हम लगा ही सकते हैं।

पर, मान लेते हैं कि समाज में हर व्यक्ति के पास इतनी फुरसत नहीं होती है कि वह अपनी भाषा के साहित्य की हर विधा से परिचित हो ले- कोई केवल कविता का पाठक होकर रह सकता है। पर, एक भाषा-संस्कार तो उसे अपने भीतर पनपाना ही होगा।

और यह भाषा-संस्कार होता कैसे है? जाहिर है कि अपनी भाषा की ध्वनियों, शब्दों के सांगीतिक रूप, और उनकी बुनावट-बनावट से परिचित होकर ही। यह भाषा की मिठास को पहचानने से भी होता है। शब्दों के शुद्ध उच्चारण से भी इसका संबंध है। चीजों को कंठस्थ करने से भी। पिछले दो-एक वर्षों में मैंने इस बात को और अधिक अच्छी तरह पहचाना है कि जो चीजें हम हृदयंगम करते हैं, कंठस्थ करते हैं, कविता में, वे हमारे भीतर अपनी संरचना को और अधिक अच्छी तरह बसा लेती हैं। उनकी इमेज हमारे भीतर कुछ अधिक स्पष्ट होकर उभरती रहती हैं। अगर शमशेर बहादुर सिंह की यह कविता पंक्ति- 'प्रातः नभः था बहुत नीला शंख जैसे' आप गाहे-बगाहे मन ही मन या बोलकर दुहराते रहें, तो इसमें जो इमेज निहित है वह अपने अर्थ-आशय में, अपने चित्र-रूप में आपसे कुछ नया-ताजा कहती हुई मालूम पड़ेगी। इस प्रसंग में तीन कविताओं का उल्लेख करने की इच्छा इस वक्त हो रही है: एक तो 'अज्ञेय' की 'दूर्वांचल' कविता है, दूसरी 'प्रसाद' की है, 'उस दिन जब इस जीवन पथ में', और तीसरी महादेवी वर्मा की है, 'जाने किस जीवन की सुधि ले लहराती आती

मधु बयार'। तीनों भिन्न प्रकृति की हैं, जाहिर है कि भिन्न स्वरों की, पर, तीनों हमारी भाषा हिंदी की हैं, उसके अप्रतिम शब्द-सौंदर्य की, मिठास की भी। यह बात अलग है कि आज की नई पीढ़ियों को इनमें से कई शब्दों के शब्दार्थ कोश में ढूढ़ने पड़ सकते हैं, पूछने पड़ सकते हैं, पर भला इसमें क्या शक कि अपनी और कविता के बीच की कुछ व्यावहारिक दूरियां पाटकर हम कविताओं में उतरेंगे तो उनकी लहरें हमें घेर लेंगी। हम तरंगित होंगे और इस हद तक तरंगित होंगे कि कविताओं के किसी शब्दार्थ में ही टिके न रहेंगे, उनके द्वारा संप्रेषित, सांगीतिक अनुभवों, और जीवनानुभवों के किसी बोध से घिर जाएंगे। जाहिर है कि यह 'बोध' हमें किसी 'अर्थ' से भी बड़ा लगने लगेगा क्योंकि उसमें, हमें एक नहीं, कई अर्थ समाहित लगने लगे'।

(पांच)

एक और चीज की ओर इशारा करना चाहता हूं: कविता या समकालीन कविता के हाशिए पर चले जाने की गलत या सही शिकायत की जाती है, पर, इसमें भला क्या शक कि हिंदी भाषा समाज, और अन्य भाषाओं के अपने-अपने समाज भी, प्रायः कविता प्रेमी ही रहे हैं, और शब्दों के संगीत से वे एक खास तरह का अपनापन अनुभव करते रहे हैं, और आज भी करते हैं। लोकगीत हों, भजन-कीर्तन हों, कुछ पुरानी कृतियों से पाठ हो, लोकसंगीत हो, शास्त्रीय संगीत हो, सुगम संगीत हो या फिल्मी संगीत-भला ये सब किस भाषा समाज के अंग नहीं रहे हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे दिक्विजयी कवि के बारे में इंदिरा देवी चौधुराणी ने लिखा है : *गीत पंचशती* की अपनी भूमिका में, 'भारत वर्ष भर में जहां जिस कोटि का भी सुर उन्होंने सुना या पाया उसमें उपयुक्त शब्द योजना की अथवा उसके आधार पर गीत रचे- अनेक नए तालों और मिस्र सुरों का प्रवर्तन किया।' हम देख सकते हैं कि इन सुरों में लोक सुर भी हैं, बाउल गीतों की गूंज-अनुगूंज है। इन सुरों में कुछ मंद स्वर हैं, कुछ में शब्दों के ज्वार वहन करने की क्षमता है। कुछ में अत्यंत कोमलता है। मधु है। कुछ में किसी अंधड़ का सा वेग है। उनके यहां परमसत्ता भी प्रकृति उपकरणों से ही प्रकट होती है। उन्हीं के बीच अवतरित होती है। और अपनी छवि का एक आभास देकर फिर उन्हीं उपकरणों में विलीन हो जाती है। फिर से अपना छायाभास देने के लिए। इस प्रसंग में *गीतांजलि* की गीत संख्या-51 विशेष रूप से दृष्टव्य है। कहना यह चाहता हूं कि हर भाषा-समाज का एक भौगोलिक रूप भी होता है। बंगाल की प्रकृति के वर्षा-सुर, पेड़-पुष्प, नदी-ताल, खेत-खलिहान, अंधड़ और समुद्र, नदी ज्वार-सब रवींद्रनाथ की कविता में खूब मिलेंगे। इनके सुर, इनकी सुगंध, इनकी छवियां वहां अकूत हैं। तो कवि अपनी भाषा के समाज से तो शब्द-सुर ग्रहण करता ही है, वह अपनी भाषा के समाज के प्रकृति उपकरणों से बहुत कुछ उगाहता है, और उन्हें लेकर भी, अपने समाज से एक प्रगाढ़ संबंध बनाता है। समाज अपनी देखी-जानी-अनुभव की हुई छवियों को जब किसी कविता में प्रतिबिंबित पाता है, तो जाहिर है कि उस कविता की ग्रहणशीलता उसके लिए बढ़ जाती है। तुलसी के साथ भी क्या हम यही नहीं पाते, जिनकी कविता में आए पेड़-फूल-ऋतुएं-फसलें, पक्षी- सब उसी प्रदेश के हैं, जिसे अब हम उत्तर प्रदेश के नाम से जानते हैं? और क्या तुलसी को एकाधिक प्रेम भी इसी प्रदेश के भाषा-समाज से नहीं मिला है?

पर, इसी के साथ यह याद रखना जरूरी है कि स्वयं पृथ्वी-आकाश से कवि का एक संबंध होता है, जैसे कि एक किसान का होता ही है। यह संबंध भौगोलिक सीमाओं के पार, और परे का

होता है। अपनी पुस्तक *पृथिवी-पुत्र* में वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'राष्ट्र का स्वरूप' पर विचार करते हुए लिखा है : 'भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनंत काल से है। उसके भौतिक रूप, सौंदर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जागृत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथ्वी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथ्वी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय भावों का अंकुर पल्लवित होगा। इसलिए पृथ्वी के भौतिक स्वरूप की आद्योपांत जानकारी प्राप्त करना उसकी सुंदरता उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है। उदाहरण के लिए, पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाने वाले मेघ जो प्रतिवर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सींचते हैं, हमारे अध्ययन की परिधि के अंतर्गत आने चाहिए। उन मेघजलों से परिवर्धित प्रत्येक तृणलता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्तव्य है।'

अगर एक नागरिक के नाते यह हमारा कर्तव्य है तो एक नागरिक और कवि, दोनों के नाते, इन चीजों को संवेदनात्मक, भावनात्मक, आदि स्तरों पर ग्रहण करना एक कवि के लिए जरूरी हो जाता है। इसके लिए वह ज्ञान-विज्ञान की दुनिया में तो जाता ही है, शब्दों की दुनिया में भी जाता है, जो उसे अपनी भाषा से प्राप्त होते हैं - यहां तक कि अन्य भाषाओं से प्राप्त होते हैं और अगर वह उनका व्यवहार नहीं भी करता तो किन्हीं अन्य समाजों से प्राप्त, किन्हीं शब्दों की ध्वनियां, उनकी तरंगों, उसकी मानसिक भूमि को कुछ तो सींचती ही हैं।

इन अर्थों में भी कवि की भाषा, समाज की भाषा से कुछ भिन्न हो उठती है। कह सकते हैं कि अपनी भाषा से इतर भाषाओं के प्रति, उनकी कविता के प्रति, उसमें एक सहज जिज्ञासु भाव होता है, उनसे एक अंतरंगता-सी वह महसूस करता है। उनसे एक अंतरंगता प्रकारांतर से किसी समाज को, किसी भाषा समाज को, भी तरंगित करती है।

बहुतेरे कवि, अन्य भाषाओं की कविताओं का अनुवाद भी करते रहे हैं। इस क्रम में भी वह अपनी भाषा में, दूसरी भाषा के शब्दों को कभी-कभी ज्यों का त्यों, और कभी उनके भाव-अर्थ-आशयों को, अपने अनुवाद में ले आते हैं। एक अन्य भाषा की प्रकृति कुछ तो अनुवाद में रूपांतरित होती ही है। कुल मिलाकर यह कि कवि के, और उसकी कविता के स्रोत बहुतेरे होते हैं। कभी-कभी तो उन्हें आसानी से पहचाना भी नहीं जा सकता है।

(छह)

एक बार फिर पृथ्वी-प्रसंग की ओर लौटना चाहता हूं : इस सिलसिले में मुक्तिबोध की कुछ कविताओं की याद सहज ही आती है; और उस विस्तृत फलक की, जिसकी ओर उनकी कविता हमें सहज ही ले जाती है : यहां उनकी 'भविष्य धारा' कविता से एक अंश प्रासंगिक होगा :

अपने रंगों को खोजो,
हरिया-तूता, आक धतूरा काम आएंगे
चड़ानी परतों पर धूप-चिलचिलाहट
भी उपयोगी है
पत्थर के घर के घर में जो
बंदी हैं फिर नीले कण-कण

उन्हें निकालो
 बहुत काम के साबित होंगे
 उनमें अरे गजब की तेजी
 गरम रंग हैं!!
 पृथ्वी के भीतर के तंग पथों पर जाओ
 यूरेनियम-रेडियम प्रणाली
 काली और कोयले वाली खानें बहुत मिलेंगी
 रंग अनेकों देंगी तुमको...
 करो रंग उत्पादन मिश्रण!!
 तुम मिश्रण के रासायनिक सूत्र भी खोजो
 उत्पादन की पद्धति आवश्यक है
 धूल-ईट के सस्ते रंग भी बहुत काम के
 कलाकार से वैज्ञानिक फिर वैज्ञानिक से कलाकार
 तुम बनो यहां पर बार-बार
 इन्हीं विविध रंगों द्वारा ही
 मन के अपने अभ्यंतर के रूप कर सकोगे
 तुम अंकित ।

जाहिर है कि मुक्तिबोध की कविताएं कई ऐसे इलाकों में गईं, पृथ्वी की भीतरी-बाहरी पर्तों को भी उन्होंने खंगाला-टटोला, मनुष्य-मन और जीवन से उनको संबद्ध किया, और फिर विस्तृत-फलक की रचना की।

आज की कविता का बहुलांश उस तरह के विस्तृत फलक वाला तो नहीं है : संभवतः इसीलिए वह मनुष्य-मन के बहुतेरे कोनों को स्पर्श नहीं कर पा रहा। दैनंदिन जीवन के कुछ छोटे-बड़े प्रसंग, जिनमें सामाजिक-राजनीतिक प्रसंग भी शामिल हैं, उसमें उभरते हैं, कभी-कभी मर्मस्पर्शी भी बनते हैं; पर, कोई स्थाई प्रभाव छोड़ने में प्रायः समर्थ नहीं होते। यहां मैं किसी 'महाकाव्यात्मक' चेतना की बात नहीं कर रहा; सिर्फ उस चेतना की, और उसके अभाव की बात कर रहा हूं जो सदियों के आर-पार विचरण करती है : पृथ्वी-आकाश-सागर की गवाही लेती देती है, और इस लोक में मनुष्य के रूप में जीने-मरने के अनुभव को जाग्रत रखती है। कई-कई स्तरों पर।

(सात)

समाज जिस भाषा को बोलता-बरतता है, उसी शब्दावली में कुछ जोड़कर, एक नई भाषा रची जा सकती है, और धीरे-धीरे उसे 'स्वीकृति' भी दिलाई जा सकती है, इसे संभव किया है विनोद कुमार शुक्ल की कई कविता और कथाकृतियों ने। उन्होंने जो विधि अपनाई है, वह इस बात का प्रमाण है कि गद्य हो या पद्य, जो चीज एक समान्य पाठक को शुरू में अपरिचित-सी लगती है, वही अंततः एक आकर्षण, एक औत्सुक्य भाव भी पैदा करती है, और क्रमशः आत्मीय ढंग से पाठक को पकड़ ले सकती है। अच्छा और समर्थ रचनाकार जहां एक ओर इस तथ्य को संज्ञान में लेता है कि समाज आज किस भाषा को संप्रेष्य मानता है, वहीं वह यह भी तलाशता है कि इस स्थिति में संध कैसे

और कहां लगाई जा सकती है क्योंकि 'यथास्थिति' में संध लगाए बिना समाज या पाठक समाज को न तो कुछ 'नया' दिया और सिरजा जा सकता है, न ही भाषा में छिपी हुई संभावनाएं खोजी और पाई जा सकती है।

(आठ)

इतना कह चुकने के बाद, इस ओर संकेत करना भी जरूरी है कि यह संध, सिर्फ नए विन्यास से ही नहीं, सिर्फ किसी नई विधि से ही नहीं, बल्कि तीव्र भावनात्मक आवेग के माध्यम भी लगाई जा सकती है- शब्दों को एक नया संवेगात्मक सांगीतिक स्पर्श देकर। इसका एक बड़ा उदाहरण सुभद्राकुमारी चौहान की कविता है, 'झांसी की रानी' हो या 'जलियांवाला बाग में बसंत' या 'अजी बोल तो लिया करो तुम चाहे मुझसे प्यार न हो' जैसी कविता या 'यह कदंब का पेड़ अगर माँ होता यमुना तीरे' की मधुरता-हम पाते हैं कि लगभग एक बोलचाल की भाषा में, बतकही वाले अंदाज में भी, काव्यात्मक संवेदना और भाषा को कैसे एक नई धार दी जा सकती है। मुझे यह बात कुछ चमत्कारिक ही लगती है कि सुभद्रा जी उन कवियों में से हैं, जिनकी भाषा हर दौर में ताजा ही लगती रही है, वह 'आज की' भी लगती रही है। 'छायावादी' युग में लिखते हुए भी उनकी भाषा डेटेड नहीं लगती है, किसी कालावधि विशेष की नहीं लगती है। लगता है हिंदी चाहे जितनी बदल जाए, और चाहे जितनी तरह के परिवर्तनों की साक्षी बने, सुभद्राजी की कविता हर हाल में उन परिवर्तनों के साथ या उनके बीच कदमताल करती रह सकेगी।

(नौ)

यह भी कुछ ध्यान में रखने की बात है कि किसी भाषा का शब्द-भंडार, किसी किसी कालखंड में तो एक बड़ी मात्रा में खुला रहता है, पर कभी-कभी वह अच्छी खासी मात्रा में बंद पड़ा रहता है, ओझल रहता है, कम सुन और दीख पड़ता है, कम बरता जाता है, जैसा हम आज के दृश्य में देख रहे हैं, पर, वह बिल्कुल गायब नहीं हो जाता। वह रहता है पुराने ग्रंथों में, शब्दकोशों में, बुजुर्गों की स्मृति में, किन्हीं अन्य अनुशासनों में भी- ऐसे में उसे उगाहने की जरूरत पड़ती है। और यह उगाहना कई प्रकार से हो सकता है। इनमें से एक प्रकार तो अनुवाद का ही है। पिछले वर्षों में मैंने स्वयं *गीतांजलि* का और रवींद्रनाथ के दो सौ गीतों का अनुवाद किया है और गीतों की तत्सम बहुल शब्दावली को कहीं-कहीं प्रायः ज्यों का त्यों रखा है, अनुवाद में। पर, पाठक-समाज से मुझे यह शिकायत सुनने को नहीं मिली कि इस तत्सम बहुल भाषा के कारण उसे कोई कठिनाई हुई है। जब हम दूसरी भाषा से अनूदित कोई चीज पढ़ते हैं, तो मानों इसके लिए भी तैयार होते हैं कि हम एक दूसरी भाषा के संसार में, एक दूसरी संस्कृति और समाज में प्रवेश करने जा रहे हैं, और वहां हमें सब कुछ 'परिचित' लगने वाला नहीं मिलने वाला है। हम में कहीं यह आकांक्षा भी जागने लगती है कि हम 'प्रयत्नपूर्वक भी वह पाकर रहेंगे, जिसके लिए हमने अपने को तैयार किया है। जब बांग्ला के ही अप्रतिम कवि शंखघोष की कविताओं का मैंने अनुवाद किया था, और वह राजकमल प्रकाशन की प्रतिनिधि कविताओं वाली सिरिज में प्रकाशित हुआ था तो मैंने अनुवादक के कथन में यह नोट किया था : 'शंख घोष की कविताओं का अनुवाद करते हुए यह अनुभव फिर हुआ कि बांग्ला से हिंदी में कविताओं के अनुवाद में एक बड़ी कठिनाई तो यही कि छायावाद के बाद हिंदी कविता प्रायः तत्सम शब्दों के इस्तेमाल से परहेज करने लगी, जबकि आधुनिक बांग्ला कविता में ऐसा नहीं है।

शंख घोष कविताओं में 'जलांजलि', 'नील वन पटभूमि', 'पदध्वनि', 'धावमान जल' जैसे कितने ही शब्दों का इस्तेमाल सहजता से करते हैं। ऐसी स्थिति में यह दिक्कत सामने आती है कि आधुनिक बोध से संपन्न लेकिन तत्सम बहुल इस शब्दावली को हिंदी में- उसकी आज की कविता के मुहावरे में कैसे रखा जाए। क्योंकि अगर उस शब्दावली को जस-का-तस रख दिया जाए तो हिंदी में वह एक रूढ़ साहित्यिक भाषा लगने लगेगी और ठीक वही अर्थ नहीं देगी जो कि मूल में और अगर उस शब्दावली को छोड़ दिया जाए तो बांग्ला कविता की कई खूबियों से, उसके भाषा संस्कार से, उसके प्रवाह और लय से वंचित होना पड़ेगा।' इतना लिख चुकने के बाद यह जोड़ा था : 'मैंने बीच का रास्ता चुना है।'

रास्ता कोई भी चुनें, पर, भला इसमें क्या शक कि दूसरी भाषाओं से अनुवाद करते समय, हम उनके स्पर्श से, अपनी भाषा के शब्द-भंडार को मानों एक नई तरह से उगाहते हैं। हम अनुवाद में कई शब्द-स्रोतों की ओर जाते हैं, जिससे कि हमें कोई 'अचूक' शब्द मिल सके। इस पर निश्चय ही प्रसन्नता व्यक्त की जा सकती है कि हिंदी में पिछले वर्षों में बांग्ला, ओड़िया, मलयालम, गुजराती आदि से, तथा रूसी, पोलिश, स्पैनी, जापानी, हंगेरियाई, चेक आदि से सीधे ही विपुल अनुवाद कार्य हुआ है। इन अनुवादों से गुजरने पर यह अनुभव किया जा सकता है कि हमने अपनी ही भाषा के न जाने कितने शब्दों का पुनराविष्कार किया है, और उन्हें कितने आत्मीय रंगों में देखा-दिखाया है। भले ही, अपेक्षाकृत एक सीमित पाठक समाज ही इन अनुवादों की ओर गया है, पर, गया तो निश्चय ही है। कविता मात्र और समाज के बीच, इन अनुवादों ने भी एक पुल बनाया है। कुल मिलाकर यह कि बहुधा यह पहल किसी कवि को ही करनी पड़ती है कि वह अपनी कविता को, और इस तरह अपनी भाषा की कविता को, उन दिशाओं की ओर ले जाए, जहां वह पहले नहीं गई थी।

वह उन रुंधे और बंद द्वारों को खोले, जहां से कविता में एक नए प्रकार की संरचना अवतरित हो सके ऐसी संरचना जिसमें रूप-कथ्य-विधि के स्तर पर तो बहुत कुछ नया हो ही, भाषा को भी एक नई तरह से बरता गया हो और कभी-कभी तो कुछ नए शब्द भी बना लिए गए हों- मसलन 'प्रसाद' लिखते हैं न, 'यह सांध्य-मलय-आकुलित'। 'निराला' हों, अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर हों, नागार्जुन, त्रिलोचन हों, और वे अन्य कवि जिनका उल्लेख हम किसी न किसी प्रसंग में पहले कर आए हैं, आखिरकार यही तो करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कविता में किसी परिपाटी का अभ्यस्त समाज भी देर-सबेर, कवि की रची हुई नई रचना और भाषा-विधि को स्वीकार कर ही लेता है। इसका हिंदी भाषी समाज में सबसे बड़े उदाहरण तो 'निराला' ही हैं : मुक्तछंद का लयबद्ध मार्ग तो उन्होंने प्रशस्त किया ही, तत्सम बहुल शब्दावली के साथ ही बोलचाल की भाषा में, सामाजिकों को इस तरह संबोधित किया कि अंततः वे आत्मीय ढंग से उनकी ओर उन्मुख हुए। दिक्कत तब आती है, जब समाज समझेगा या नहीं समझेगा, का संकोची प्रश्न लिए हुए कवि, नई दिशाओं की ओर नहीं जाते हैं, या भाषा का एक उत्खनन, एक पुनराविष्कार नहीं करते हैं। वह ऐसा साहस करेंगे तो समाज भी उनके साहस में, अगर अपनी ही कुछ अंतरध्वनियों को सुन सका तो, उनकी ओर आना पसंद करेगा। वह सूक्ष्म किंतु साहसी प्रयोगों को भी सराह सकेगा। विनम्र और कोमल सुरों की साहसी ध्वनियों को भी सुन सकेगा। कोई भी कविता अपनी भाषा के समाज के बाहर न तो जन्म लेती है, न पनपती है। हां, किसी भी भाषा समाज को यह चेतावनी जरूर दी जा सकती है कि कविता और कलाओं

से दूर रहने वाला समाज, बहुत कुछ खो देता है। यहां प्रसंगवश यह भी याद कर लें कि कविता लिखी और सराही तो शब्द-भाषा में ही जा सकती है, पर, संगीत की भाषा हो या चित्र की, या नृत्य-नाट्य की या फिल्म की भाषा हो- ये सब भाषाएं भी कविता के लिखे जाने और सराहे जाने के लिए बहुत काम की हैं। मसलन फिल्म-भाषा से कुंवरनारायण और रघुवीर सहाय की कविता का एक लेन-देन है और कोई भी समाज इस तथ्य को जितना अधिक संज्ञान में लेगा, उतना अधिक वह स्वयं अपना हित करेगा। इस संदर्भ में बहुतेरे उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर, फिलहाल एक और उदाहरण के साथ अपनी बात समाप्त करूंगा।

जब से कविता की वाचिक परंपरा बाधित हुई है, और कविता मुद्रित-रूप में अधिक सामने आई है, तब से क्या पाठक के लिए यह भी अनिवार्य नहीं हो उठा कि वह एक चित्र की तरह भी कविता को देखे। कविता के लिखित मुद्रित रूप में, किस पंक्ति में कितने शब्द हैं, वे किस क्रम से रखे गए हैं, किसी पंक्ति में एक ही शब्द क्यों है, जब तक हम इसे गौर से नहीं देखेंगे-पहचानेंगे और उसे लगभग एक चित्र की तरह नहीं पढ़ेंगे, तब तक हम भला शमशेर की कविता 'धूप कोठरी के आईने में खड़ी' को कैसे सराह सकेंगे! तो समय के साथ कवि का भी संबंध भाषा से कई अर्थों में बदलता है, और इसी तरह से समाज को भी उन बदले हुए अर्थों पर ध्यान देना ही पड़ता है।



उर्वशी : नई सदी के आलोक में कुछ सवाल

सुनीता गुप्ता

उर्वशी का प्रकाशन सन 1961 में होता है। इसप्रकार उसके प्रकाशन के पचास वर्ष से अधिक हो रहे हैं। किसी भी कालखंड में अर्द्धशती एक महत्वपूर्ण स्पेस घेरती है- वह भी तब जब निरंतर विज्ञान व संचार के नए-नए उपकरणों के आविष्कार जीवन में क्रांति ला रहे हों, अंतरिक्ष व जीवन के नए-नए भेद खुल रहे हों, इतिहास की मृत्यु की घोषणाएं हो रही हों, पुराने महावृत्तांत विखंडित हो रहे हों और हाशिए के लोग केंद्र में अपनी जगह बनाने को प्रस्तुत हो रहे हों। उर्वशी की रचना की अर्द्धशती इतिहास के तीव्र घूर्णन की सदी भी है- यह एक सदी के अंत व नई सदी के प्रारंभ की भी साक्षी रही है। ऐसे में यह भला कैसे संभव है कि उर्वशी को देखने की दृष्टि वहीं-की-वहीं स्थिर रहे? वैसे भी उर्वशी महाकाव्य का आधार मिथक है और मिथक हर युग में नए संदर्भों को व्याख्यायित करते हैं। इसलिए उर्वशी भी नई व्याख्या की मांग करे और उसके संदर्भ नवीन प्रश्नों के रूप में आकार ग्रहण कर सम्मुख उपस्थित हो जाएं तो क्या आश्चर्य है।

उर्वशी एक ऐसी कृति है जो अपने प्रकाशन के साथ ही विवादों में घिरी रही। कल्पना पत्रिका का उर्वशी विवाद इसका प्रमाण रहा है। एक तरफ तो हजारी प्रसाद द्विवेदी, राम विलास शर्मा, डॉ. नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, हरिवंशराय बच्चन जैसे आलोचक हैं जिन्होंने इसे युग की श्रेष्ठतम उपलब्धि माना तो दूसरी तरफ भगवतीशरण उपाध्याय, मुक्तिबोध, रामस्वरूप चतुर्वेदी, शंभुनाथ जैसे विद्वान हैं जो इसकी प्रासंगिकता पर सवाल खड़े करते हैं। 'उर्वशी' ही नहीं, दिनकर की समस्त रचनात्मकता ही द्वंद्वों व विरोधाभासों से युक्त है। राष्ट्रीयता के ओज व पौरुष के साथ श्रृंगार का भव्य, रमणीय रूप और वैचारिक अंतर्द्वंद्व- ये सारे तत्त्व मिलकर दिनकर के कवि व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। एक तरफ कवि का 'हुंकार' है तो दूसरी तरफ उर्वशी की 'रसवंती' धारा- एक तरफ 'परशुराम की प्रतीक्षा' तो दूसरी तरफ 'कुरुक्षेत्र' का अंतर्द्वंद्व- एक तरफ युधिष्ठिर, तो दूसरी तरफ कर्ण, एक तरफ भीष्म तो दूसरी तरफ कृष्ण। इस प्रकार दिनकर का विराट व्यक्तित्व अपने में कई विरोधी युग्मों को समेटे हुए हैं। दिनकर की वैचारिकता उनमें सतत एक अंतर्द्वंद्व का सृजन करती है। इसलिए दिनकर को संघर्ष व द्वंद्व का कवि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। हृदय और बुद्धि, युद्ध और शांति, कर्म व वैराग्य, नश्वरता-अनश्वरता, धरती-स्वर्ग, देव-मनुज, काम-अध्यात्म - इन सबको लेकर एक अंतर्द्वंद्व की धारा दिनकर के व्यक्तित्व में सतत प्रवहमान रही है। प्रेम व राष्ट्रीयता के आवेगपूर्ण उद्गार के साथ चिंतन की विवेकपूर्ण दृष्टि दिनकर के कवि व्यक्तित्व का निर्माण करती है। किंतु एक स्तर जरूर है जहां दिनकर बिल्कुल निर्द्वंद्व हैं। आज के समय में परस्पर विपरीत ध्रुवों पर खड़े

स्त्री और पुरुष दिनकर के साहित्य में परस्पर पूरक के रूप में उपस्थित होते हैं। 'अर्द्धनारीश्वर' की कल्पना पर विश्वास रखने वाले दिनकर के काव्य में स्त्री-पुरुष किसी द्वंद का सृजन नहीं करते। सामंजस्य की यह अंध-स्वीकृति कई प्रकार के सवालों को जन्म देती है जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

दिनकर की काव्य-यात्रा *उर्वशी* पर पहुंचकर पूर्णता प्राप्त करती है। *उर्वशी* उनकी एक महत्वाकांक्षी परियोजना थी, जिसका स्पष्ट परिचय उसके ताम-झामपूर्ण प्रकाशन से मिलता है। *उर्वशी* की कथा के सूत्र कवि ने मिथक व पुराण से लिए हैं। पर यहां कथा उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी मिथक की दुधारी तलवार पर होते हुए उसे शाश्वत संदर्भों से जोड़ना। इस चिरंतनता के प्रयास में आधुनिकता व प्रासंगिकता कवि के हाथों से किस प्रकार खलित हो गई है- यह एक बड़ा सवाल बनकर उभरता है। इसके माध्यम से कवि काम व अध्यात्म संबंधी कुछ मनोवैज्ञानिक पक्षों को उभारने का प्रयास करता है। *कुरुक्षेत्र* में कर्म व जीवन के पक्ष में खड़ा कवि किस प्रकार *उर्वशी* की रमणीयता में खोकर जीवन से दूर हो जाता है, यह देखने की बात है। इन संदर्भों को उठाते हुए वह जिस कथा का आश्रय लेता है उसकी सार्थकता आज के संदर्भ में कुछ ऐसे प्रश्नों को जन्म देती है जिनसे गुजरे बिना *उर्वशी* का नया मूल्यांकन संभव ही नहीं है।

उर्वशी की महाकाव्यात्मकता व काव्यगत औदात्य निर्विवाद है। पर महाकाव्य जैसी कृति अपने समय की सभ्यता समीक्षा भी होती है। जिन प्रश्नों को यहां उठाया जाता है उसकी संचेतना सीधे उस युग की सामाजिक मनः स्थिति से जुड़ती है। दिनकर की काव्य चेतना का विकास छायावाद की पृष्ठभूमि में हुआ था और महाकाव्य लिखते हुए ठीक अपने पूर्ववर्ती महाकाव्य का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष असर न हो यह संभव ही न था। *उर्वशी* की समीक्षा से पूर्व *कामायनी* की ओर ध्यान जाना बिल्कुल स्वाभाविक है क्योंकि वह न केवल *उर्वशी* की पूर्ववर्ती है बल्कि जैसा कि स्वयं कवि की स्वीकृति है *उर्वशी कामायनी* की समस्या का एक मनोवैज्ञानिक विस्तार है। प्रसादजी की ही तरह दिनकर भी मिथक से अपने पात्रों को चुनते हैं और उसके माध्यम से मनुष्यता की एक सार्वजनिक कथा कहना चाहते हैं। *उर्वशी* की भूमिका में वे लिखते हैं- 'मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और *उर्वशी* सनातन नारी का।'

महाकाव्य की रचना-प्रक्रिया की अपनी जटिलताएं व चुनौतियां होती हैं। कोई भी महाकाव्यकार जब किसी प्रसंग को चुनता है तो उसके सामने समकालीन संदर्भों का एक ऐसा स्वरूप होता है जो युगीन सीमाओं का अतिक्रमण कर मानव-जीवन के किसी शाश्वत पहलू या सत्य का अन्वेषण कर सके। समकालीनता की यह सर्वकालिकता ही किसी कृति को महाकाव्यत्व प्रदान करती है। इस प्रयास में रचनाकार के सम्मुख एक आदर्श अनुप्राणित लक्ष्य होता है। महाकाव्य की समस्त संरचना इसी लक्ष्य तक प्रस्तुत होने के लिए होती है। किंतु ऐसा भी होता है कि रचना-प्रक्रिया की निमग्नता में कवि द्वारा लक्ष्य से इतर समसामयिक जीवन के अंतर्द्वंद्व निरायास ही शामिल हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी रचना-प्रक्रिया की दिशा किंचित ऋजु हो जाती है और कई बार वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होता प्रतीत होता है। सत्य तो यह है कि यही रचनाकार की काव्य-प्रतिभा की सबसे बड़ी उपलब्धि होती है जो महाकाव्य को कवि का वक्तव्य नहीं; अपने समय का साक्षी बना देता है। ऐसा *कामायनी* में भी हुआ है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण इडा का व्यक्तित्व है। प्रसाद इडा

की बुद्धिवादिता के प्रति एक विरोध भाव लेकर चलते हैं। पर अपनी बौद्धिक प्रखरता में वही इड़ा *कामायनी* की सबसे महत्वपूर्ण पात्र बन जाती है। कहना होगा कि कुछ ऐसा ही *उर्वशी* के साथ भी घटित हुआ है और वह समय के अंतर्द्वंद्व का परिचय-पात्र बन गई है।

महाकाव्य की रचना प्रक्रिया का आधार वह धीरोदात्त चरित्र (व्यक्तित्व) होता है जो कथा या घटनाओं को दिशा प्रदान करता है। अपनी चारित्रिक उदात्तता में वह चरित्र अपने युग की मान्य अवधारणाओं का प्रतिनिधित्व करता है और यही उसे महाकाव्य का नायकत्व भी प्रदान करता है। लोक-शील-शास्त्र से मान्यता प्राप्त यह चरित्र अपनी मान्यताओं का बंदी होकर कुछ बिंदुओं पर जड़ भी हो जाता है। और अनचाहे ही अपने समय की सीमाओं का वाहक भी बन जाता है। पृथ्वीराज हों या राजा रत्नसेन, राम या मनु या पुरुरवा- ये सारे चरित्र अपने युग की सीमाओं में कहीं-न-कहीं बंधे हुए हैं। राम का दलित व स्त्री के प्रति जड़ आदर्शत्व, या मनु में आधुनिक मध्यवर्ग के अहं व देव-सभ्यता के सामंती अवशेष, जैसा कि विद्वान इंगित करते हैं, की झलक यूं ही नहीं दिखलाई पड़ती है। *उर्वशी* का रचनाकार प्रबुद्ध, प्रगतिशील कवि है जो 'अर्द्धनारीश्वर' नामक निबंध में स्त्री के प्रति एक ऐसे वैज्ञानिक सोच का परिचय देता है जो समकालीन परिदृश्य से उसे आगे ले जाता है। पर *उर्वशी* में आकर वही स्त्री संबंधी पारंपरिक मान्यताओं का अंध पोषक बन जाता है। तो क्या यह उसके आदर्श पर समसामयिक यथार्थ की विजय नहीं है?

उर्वशी का रचनाकाल इतिहास का वह पड़ाव है जिसके एकतरफ छायावाद का मलबा है और दूसरी तरफ व्यक्ति केंद्रित होती जा रही आधुनिकता की इमारत। यह वह मोड़ है जिससे आगे स्वतंत्रता संघर्ष के स्वप्न व मूल्य चेतना का विखंडन प्रारंभ होता है और बीसवीं शताब्दी की मूल्य चेतना एक एक कर ध्वस्त होती जाती है। *कामायनी* की चर्चा यहां इसलिए भी जरूरी हो जाती है क्योंकि जिस सनातन पुरुष (व स्त्री) की कथा कवि कहता है उसका आदिपुरुष तो यह मनु ही है। इसलिए मनु के चरित्र की जटिलताएं कहीं न कहीं पुरुरवा के चरित्र से भी आकर जुड़ती हैं। *कामायनी* का प्रारंभ होता है देव सभ्यता के विनाश से और मनु में उसी देव-सभ्यता के सामंती अहं का अवशेष किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। देव-सभ्यता के विनाश का कारण कवि ने अतिशय भोगपरकता व 'सुख के संग्रह' को माना है। प्रसाद जी की ये पंक्तियां सूत्र-रूप में देव-सभ्यता का सारांश सामने लाती हैं -

*विकल वासना के प्रतिनिधि वे सब मुरझाए चले गए
आह जले अपनी ज्वाला से, फिर वे जल में गले, गए*

यहां उन अप्सराओं की भी चर्चा है जिसके आगोश में देवता अपना सब कुछ भूल जाते हैं और आगे चलकर सर्वस्व खो बैठते हैं। क्या ही आश्चर्य है कि मनु से होते हुए वे ही संस्कार एक बार फिर पुरुरवा में प्रबल हो जाते हैं। क्या यह पुरुरवा वह उत्तर-आधुनिक मनुष्य नहीं है जो बाजारवाद व उपभोक्तावाद की गोद में पड़कर निर्बाध आत्मकेंद्रित भोग में निमग्न है और जिसका भोगातिरेक नित नवीन आध्यात्मिक आवरण ग्रहण कर रहा हो? संघर्ष हमें कर्म की ओर ले जाता है पर उपलब्धियां जीवन में ठहराव लाती हैं और व्यक्ति को आत्मकेंद्रित व आत्मविमुग्ध बनाती हैं। ऐसा दिनकर के जीवन का भी सच है और हमारे राष्ट्रीय परिदृश्य का भी। साहसी व ओजपूर्ण पौरुष का प्रेम ही सीमाओं को तोड़कर अबाध गति से आगे बढ़ सकता है पर वही जब ऐश्वर्य केंद्रित और

विलासमय हो जाता है तो प्रेम कटघरे में खड़ा हो जाता है क्योंकि मूल्य निरपेक्ष प्रणय विलासिता है, जिस प्रकार मूल्यविहीन साहस दुःसाहस।

बीसवीं सदी के नवजागरण का पर्यवसान आधुनिकता में हुआ जो अपनी विशिष्ट वैज्ञानिक दृष्टि में प्रश्नाकुलता, तर्क व संशय में नवजागरण का ही विस्तार थी पर इसे इतिहास की त्रासदी ही कहा जाए कि जिस प्रकार मध्यकाल का जागरण रीतिकाल की गोद में अपने लक्ष्य को खो बैठा उसी प्रकार बीसवीं सदी में प्रारंभ मुक्ति परियोजना का पर्यावसान उत्तर-आधुनिकता में हुआ। तर्क, संशय व प्रश्न का स्थान आत्म-मुग्धता व भोगपरक उपभोगपरक दर्शन ने ले लिया। शंभुनाथ इसे 'ऐश्वर्यपूर्ण भोगविलास की सामंतीवादी भावना' मानते हुए लिखते हैं - 'यह काम की स्वच्छंदता और आध्यात्मिकता की गरिमा से मंडित एक बहाना भी हो सकता है और परमात्मा के साथ-साथ देहभोग की आदिम लालसा भी हो सकती है।' अपनी मुक्ति परियोजनाओं का उसकी अंतिम परिणति तक न पहुंच पाना हमारी संस्कृति की बहुत बड़ी त्रासदी रही।

कामायनी के मनु में इस उपभोक्तावाद की पगध्वनि प्रसादयुग में ही सुनाई पड़ने लगी थी। *कामायनी* में प्रसाद ने जिस देव-संस्कृति का वर्णन किया है, वर्तमान संदर्भ में उसके गहरे निहितार्थ हैं। मूल्यविहीन तकनीक विकास अंध-भोगवाद में परिणत हो गया है। इक्कीसवीं सदी विज्ञान के उच्चतम साधनों व सुख-सुविधाओं की सदी है। वैज्ञानिक प्रगति में अपरिमित सुख को तलाशते हुए हमारी तृष्णा बढ़ती जा रही है। सुख जीवन का चरम लक्ष्य बन गया है, जबकि यही 'सुख का संग्रह' देव-सभ्यता के विनाश का कारण बना। नवजागरण की ममता, विश्वबंधुत्व, न्याय, त्याग आदि उच्चतर मानवीय मूल्य इसी सुखवाद में परिणत हो गए हैं। मैनेजर पांडेय ने इसीलिए इतिहास की गति को विलक्षण कहा है जो कभी स्थिर नहीं होती और जब आगे की ओर जगह नहीं मिलती तो पीछे की ओर लौट पड़ती है। *कामायनी* सोचने को बाध्य करती है कि क्या जिस मानव को श्रद्धा इड़ा के पास छोड़ गई थी उसमें मनु के आनुवंशिक गुण फिर से उभरने लगे हैं? तो क्या सभ्यता की विकास-यात्रा अग्रगामी नहीं, चक्राकार होती है? हम फिर उस देव सभ्यता के इतिहास को दुहराने जा रहे हैं? 'सुख का संग्रह' व्यक्तिगत, सामाजिक व राजनीतिक ही नहीं पर्यावरणिक असंतुलन की ओर ले जा रहा है। प्रकृति निरंतर निर्मम होती जा रही है और इसके क्रूर अट्टहास की आवाजें कानों में सुनाई पड़ने लगी हैं। विश्व में स्थान-स्थान पर असमय प्रलयकारी वर्षा, निरंतर बढ़ता जलस्तर, समुद्र में अस्वाभाविक उछाल- क्या यह सब देव सभ्यता के प्रलय की याद नहीं दिला रहे?

पुरुरवा इसी उत्तर आधुनिक पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है और अनजाने ही क्षयशील पूंजीवाद की छाया में जन्मे अराजक व्यक्तिवाद की त्रासदी का प्रतीक बन जाता है जिसका कुछ अंश मनु में भी विद्यमान है। क्या ही आश्चर्य है कि *उर्वशी* में पुरुरवा में भी वे ही तत्त्व प्रभावी हो जाते हैं और ये ही वे तत्त्व हैं जो उपभोक्तावाद के मनुष्य की पहचान भी बनते हैं। पुरुरवा बिना (औशिनरी के प्रति) दायित्व बोध व अपराध बोध के गंधमादन पर्वत पर उर्वशी के साथ विलासिता में निमग्न है और अपने इस भोगवाद के औचित्य के लिए आध्यात्मिकता का आश्रय लेता है। तो क्या दिनकर ने उत्तर-आधुनिक युग की प्रवृत्ति पहले ही सूंघ ली थी? यह दिनकर का इतिहास बोध है, दर्शन या जीवन बोध? निर्बाध काम, अनंत भोग की वैराग्यपूर्ण परिणति के दर्शन रीतिकाल में भी होते हैं और इसका एक रूप का आज के समाज में नव-अध्यात्मवाद का अभ्युदय भी है। इस उपभोक्तावादी युग

के उत्तर आधुनिक मनुष्य के रूप में पुरुरवा के चरित्र को समझना एक रोचक अनुभव हो सकता है। इस प्रकार कवि अनायास ही अपने आने वाले समय की नब्ज पहचान लेता है। सच कहें तो यही महाकाव्य की सार्थकता प्रमाणित करता है।

पुरुरवा उर्वशी के काम आध्यात्म के दर्शन पर व्यापक मतभेद है। डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह पुरुरवा की आध्यात्मिकता का अत्यंत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए इस आध्यात्म को मनुष्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि मानते हुए लिखते हैं 'सेक्स जब आध्यात्मिक बनता है, तभी वह प्रेम होता है।' इसके विपरीत डॉ. शंभुनाथ हैं। वे पुरुरवा की आंतरिक प्रवृत्तियों के गहन अनुशीलन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि- 'यह मनुष्येतर अंध आस्था की मध्यकालीन परिणति है जिसे झेलने के लिए आज का मनुष्य तैयार नहीं है।'

'रे रोक युधिष्ठिर को न यहां/ जाने दो उनको स्वर्ग धीर/ पर फिरा हमें गांडीव गदा/ लौटा दे अर्जुन भीम वीर' तथा 'धर्मराज संन्यास खोजना, कायरता है मन की। है सच्चा पुरुषार्थ ग्रंथियाँ सुलझाना जीवन की' का संदेश देने वाला कवि उर्वशी में स्वयं जीवन से पलायन करता प्रतीत होता है। युधिष्ठिर जिस कर्म व संन्यास के द्वंद्व में पड़े हैं, पुरुरवा बिना अंतर्द्वंद्व में पड़े सहजता से निकल जाता है। इस एकान्तिक प्रेम का क्या कोई सामाजिक मूल्य है? चित्रलेखा के सामंत बीजगुप्त का औदात्य पुरुरवा से कहीं अधिक स्वाभाविक लगता है। उर्वशी आकाश से उतरकर धरती पर प्रेम के लिए आकुल है, पुरुरवा धरती से ऊपर उठकर आकाश को छूना चाहता है। यह विरोधाभास आखिर है क्या? वस्तुतः इसे स्त्री और पुरुष के अलग-अलग संदर्भों में समझने की आवश्यकता है। पुरुष प्रणय करता है और आगे बढ़ जाता है, उसकी दृष्टि उपलब्धि की ओर, आकाश की ओर होती है। पर स्त्री- उसे तो प्रणय को धारण करना होता है, वह तो मिट्टी को गढ़ती है। इसलिए वह धरती से दूर जा ही नहीं सकती। यह आध्यात्मिकता पुरुष की अतिशय विलासिता की अनिवार्य परिणति है। रीतिकालीन कवियों द्वारा वैराग्यपरक पदों की रचना अनायास ही नहीं है।

उर्वशी के काम-आध्यात्म की चाहे जितनी भव्य, महिमा मंडित पुरुषवादी व्याख्या की जाय, पर आज की स्त्री दृष्टि में इसके लिए कई-कई सवाल हैं। यह ठीक है कि औशिनरी की विवशता को उस युग के परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है, जब स्त्री के लिए पांव टिकाने की कोई जमीन उपलब्ध नहीं थी और वह परावलंबन की कैद से पूर्णतः निकल नहीं पाई थी। पति व घर पर आश्रित औशिनरी का आत्मबोध अश्रु प्रक्षालन से आगे नहीं बढ़ पाया है। औशिनरी के मुंह से 'रुदन छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का' यह कहलाने वाले दिनकर की स्त्री चेतना मैथिलीशरण गुप्त के 'आंचल में है दूध दृगों में पानी' से आगे नहीं बढ़ पाई है। आज की स्त्री दया व सहानुभूति नहीं, अधिकार व मुक्ति मांगती है। औशिनरी में आक्रोश का सर्वथा अभाव है। वह एक दीन-हीन नारी मूर्ति मात्र बनकर रह जाती है। यहां तक कि इतनी अधिक आत्महीनता से ग्रसित है कि स्वयं में ही दोष ढूंढती रह जाती है 'हाय सती! मैं ही कदर्थ, दोषी, अनुदार, कृपण हूं।' औशिनरी का एकांतिक समर्पण यशोधरा के समर्पण की याद दिला देता है। यशोधरा की ही तरह उसका उपालंब पति की कल्याण कामना मात्र बन कर रह जाता है - 'प्रियतम जहां भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।'

औशिनरी पुरुरवा के दांपत्य में आई दरार की ओर कवि इंगित भर करके रह जाता है जिसका अपेक्षित विस्तार दांपत्य संबंध के गूढ़ मनोविज्ञान को समझने में सहायक हो सकता था। आधुनिक

प्रज्ञावान पुरुष स्त्री की देह मात्र से संतुष्ट नहीं हो सकता- वह उसमें एक ऐसा व्यक्तित्व भी खोजता है जिसमें वह मानसिक तृप्ति पा सके। औशनरी की ग्लानि में ये ही संकेत उभरते हैं। कहने को तो वह कहती है -

मैं ही दे पाई न भावमय वह आहार पुरुष को
जिसकी उन्हें अपार क्षुधा, उसकी आवश्यकता थी

पर यह कौन कह सकता है कि औशनरी यदि उर्वशी बनने का प्रयास करती तो उसकी गति 'साहब बीबी, गुलाम', की नायिका की तरह नहीं होती? क्योंकि यही कवि कहता है -

सहधर्मिणी गेह में आती कुल-पोषण करने को
पति को नव नित्य नूतन मादकता से भरने को

उसके लिए कुल की रानी, और हृदय की रानी, के पद अलग-अलग हैं। औशनरी इस सत्य को जानती है। तभी तो कहती है-

गृहणी जाती हार दांव संपूर्ण समर्पण करके
जयिनी रहती बनी अप्सरा ललक पुरुष में भरके

उर्वशी का व्यक्तित्व कवि अधूरा ही चित्रित कर पाया है। कमनीय सौंदर्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति उर्वशी की शारीरिक देहयष्टि यदि पुरुष को आकृष्ट करती है और वह पत्नी से विमुख होता है तो इसे क्या कहा जाय। कवि ने एक स्थल पर संकेत अवश्य किया है जब वह लिखता है- 'नहीं मोहती हो केवल तन की प्रसन्न द्युति से ही/...और गूढ़ दर्शन-चिंतन से भरी उक्तियों से भी' पर यह व्यक्तित्व संपन्नता उर्वशी के सौंदर्य वर्णन में दबकर रह गई है।

उर्वशी का व्यक्तित्व, फिर भी, घटना-क्रम के बीच प्रखर रूप में उभरकर आया है। उर्वशी अप्सरा है पर वह देवलोक में व्यक्तित्वविहीन अप्सरा के पद से संतुष्ट नहीं है। उसे मात्र शृंगार व मनोरंजन का उपकरण बनना स्वीकार्य नहीं है। वह प्रेम करना चाहती है और वह भी अपने चयन से। उसका धरती पर आना और पुरुरवा को प्राप्त करना एक तरह से उसका विद्रोह ही है जिसकी कीमत उसे पुत्र वियोग के रूप में चुकानी पड़ती है। स्त्री को देह बनाकर उपभोग की वस्तु बनाए रखने के लिए मातृत्व से दूर रखने की साजिश समाज द्वारा कभी देव-कन्या, कभी अप्सरा अथवा अभिनेत्री (मॉडल) तो कभी एयर होस्टेज के रूप में आज तक किसी-न-किसी तरह होती रही है। इसलिए उर्वशी छिपकर अपना व्यक्तिगत जीवन जीने को विवश है और भेद खुलने पर सब कुछ छोड़कर देवलोक में लौट जाने को अभिशापित है। उर्वशी के व्यक्तित्व में आज की ग्लैमराइज्ड विमेन के द्वंद्व - मातृत्व व कैरियर, समर्पण व स्वचेतना- को देखा जा सकता है। उर्वशी के इस अंतर्द्वंद्व को कवि स्पष्ट नहीं कर पाया है, यद्यपि महाकाव्य का शीर्षक उर्वशी है।

महाकाव्य का शीर्षक उर्वशी महाकाव्य की स्त्री-पक्षधरता को घोषित करता है पर इसका सर्जक तो पुरुष है इसलिए उर्वशी में पितृसत्तात्मकता की गंध सहज व अनिवार्य रूप के शामिल है। स्त्री और पुरुष के लिए उसके मानदंड बिल्कुल अलग-अलग हैं। एक तरफ तो वह कहता है -

एक घाट पर किस राजा का रहता बंधा प्रणय है
बंधन माने वही जो नद, नाले सोते हैं
किंतु महानद तो स्वभाव से ही प्रचंड होते हैं

तो औशिनरी के लिए पति के कुल का भरण-पोषण ही कर्तव्य है-

किंतु नारियां क्रिया नहीं, प्रेरणा, प्रीति, करुणा हैं,

इसलिए 'दायित्व गहन, दुस्तर गृहस्थ नारी का'। उसे तो सदैव पति के लिए यह देखना है कि 'कहां लगी है प्यास, प्राण में कांटे कहीं चुभे हैं'

दिनकर की मान्यता है कि स्त्री का कर्तव्य प्रेरणा देकर पीछे हट जाने में है - 'त्यागमयी हम कभी नहीं रुकती हैं अधिक समय तक, इतिहास की आग बुझा कर भी उनके पृष्ठों में।' अपनी 'अबलता, आंसू और करुणा' से वह 'संपूर्ण सृष्टि के महामूल को 'छिगुनी पर' धारण किए हुए हैं और इसीलिए वे स्वीकार भी करते हैं कि 'इतिहास' इसीलिए किसी त्रिया की कथा अंकित नहीं करता है। पर इसके लिए उसे कोई शिकायत नहीं है- 'देवि! ग्लानि क्या, हम इतिहासों के यदि प्रथित नहीं हैं?' कवि इन शब्दों में स्त्री को अपनी पुरुषोचित चाटुकारिता में भुला लेता है- 'इसीलिए, इतिहास पहुंचता कभी निकट नारी के/हो रहा व अचल या कि फिर कविता बन जाता है।' इस प्रकार वह इतिहास पुरुष के और काव्य स्त्री के हिस्से कर देता है। किंतु इतिहास से अनुपस्थिति का कितना बड़ा अभिशाप स्त्री-जाति को भुगतना पड़ा है क्या पुरुष इतिहासकार के रूप में दिनकर समझ पाए हैं? और क्या आज की इतिहास बनाने को आतुर स्त्री इस छलावे में दिग्भ्रमित हो पाएगी?

यही नहीं वह तो मध्ययुग के तुलसी की तरह पति की एकनिष्ठता का निर्वाह भी नहीं कर पाता। 'उर्वशी' का प्रेम त्रिकोण द्वंद्व से रहित, बिल्कुल इकतरफा व अतार्किक है। निश्चय ही इसे उसके समय की सीमा नहीं माना जा सकता। इसके ठीक पूर्व में लिखित *कामायनी* है जहां कवि नारी के रूप में तो श्रद्धा का आदर्श लेकर चलता है पर अंतिम परिणति में वह इड़ा जैसी प्रखर नारी के व्यक्तित्व को नकार नहीं पाता है और मानव को उसके हाथों सौंप जाता है। उर्वशी के मातृत्व से वंचित आयु औशिनरी जैसी व्यक्तित्व विहीन स्त्री में आश्रय पाता है। कदाचित यही व्यक्तिविहीनता (जैसा कि कवि भूमिका में संकेत करता है) आगे चलकर आयु के पराभव का कारण बनती है।

उर्वशी पितृसत्तात्मक मनोवृत्ति के अनुकूल पुरुष के लिए साधन-उत्पादन मात्र बनकर रह जाती है। याद करें, अपनी समस्त वैचारिक व साहित्यिक उन्मुक्तता के बावजूद अज्ञेय के शेखर के लिए स्त्री (शशि) अपने स्व के संधान का माध्यम मात्र है और जैनेंद्र की सुनीता अपनी समस्त प्रखरता के बाद भी पुरुष (पति) के आदेश से अपने गोपन को उजागर करने को प्रस्तुत हो जाती है। यह पुरुष दृष्टि का परिचय देता है। शेखर की शशि हो या जैनेंद्र की सुनीता, *त्यागपत्र* की नायिका हो या *परती परिकथा* की ताजमनी- स्त्री के प्रति पुरुष की संवेदना सहानुभूति के स्तर से आगे नहीं बढ़ पाई है।

इस प्रकार उर्वशी की प्रासंगिकता संदेह के घेरे में आ जाती है। जिस स्त्री-पुरुष के शाश्वत संबंध को कवि संकेतित करना चाहता है, कथानक की संरचना इसके विपरीत जाती है और वह लक्ष्य से भटक जाता है। विवाहेतर संबंधों के आधार पर 'एक कहानी यह भी' (मन्नू भंडारी) व 'अन्या से अनन्या' (प्रभा खेतान) जैसे वृत्तांतों को जन्म देने वाले आज के समय में *उर्वशी* को इस रूप में स्वीकार कर पाना अत्यंत कठिन है। इसलिए सबसे बड़ा सवाल यह है कि यदि *उर्वशी* की रचना पचास वर्ष बाद हुई होती तो क्या इसका स्वरूप यही होता!



कविताएं

नंदकिशोर आचार्य

राजेश जोशी

तेजी ग्रोवर

अनामिका

उदयन वाजपेयी

कुमार अंबुज

गीत चतुर्वेदी

राकेश श्रीमाल

नंदकिशोर आचार्य कविता हो पाता कहां

कृतज्ञ हूं

नहीं, इसको गिला नहीं जानो
कृतज्ञ हूं सच तुम्हारा
में

डंसा जो नहीं होता
जिंदगी तुमने
में कविता हो पाता कहां

तुम भी भला क्या करती
तुम्हारे पास डंक हैं केवल
जहरीले
मेरे पास है
शब्दों का अमृत-कुंड!

झलक भर

अनुरणन है जिसका
सारा आकाश
उस प्रकार की झलक भर हूं
में

हां, तुम भी
एक सूनूपन को जब-तब
झलकाते हुए

शब्द की नियति

अनवरत खोज में है
शब्द
पा लेने अपना घर
इंतजार में होंगे कितने खत
उसके घर का पता पाने
अभी एक ठिकाने जो
मयस्सर हैं उसे-
कभी सराय, कभी धर्मशाला

अधिक से अधिक
किराए का मकान कोई
कुछ वक्त की खातिर
ऐसे ठिकानों का भला ठिकाना क्या
ठौर जो नहीं हो पाए

रहता आया वह हर कहीं
लेकिन घर पाया नहीं
कहीं रहते हुए भी भटकते रहना
खोज में ठौर की अपनी
शब्द की नियति यही है क्या
इसलिए कवि की भी?

गूंगापन

गाए जा रहा हूँ
गूंगापन अपना
सुन पा रहे तुम
लेकिन केवल बोल

कौन अब दर्द वह जाने
जिससे सुर जनता है
गूंगापन!

दिलासा

प्रतिध्वनि नहीं है यह
दिलासा है
जाया नहीं गयी है जो
पुकार मेरी
आस्मां ने अपने में
बसा लिया है उसे।

गहराई

कभी गहराता नहीं है
प्रकाश
तेज जितना होले चाहे

गहराई
अँधेरे के हिस्से आई

राजेश जोशी

शिमला डायरी : 2014 से कुछ कविताएं

(एक)

घर के इतने करीब से घाटी में सीटी बजाती हुई
हर रोज गुजरती है शिमला-कालका शिवालिक एक्सप्रेस
कि उसके पहियों की घड़घड़ के साथ थरथराता-सा लगता है
डेल विला का अपना घर
पहाड़ों के बीच प्रतिध्वनित होती लौटती है सीटी की आवाज
पुकारती हो जैसे कि चलो अगर चलना है अपने शहर...
हुलसकर दौड़ने को होता है मन
लेकिन दूसरे ही पल अपनी गैलरी में निकलकर
चिल्लाकर कहता हूं
तुम्हारा क्या भरोसा, तुम तो छोड़ कर चल दोगी आधे रास्ते पर
दूर जाती सीटी की आवाज शरारती प्रेमिका की तरह हँसती है
कहती है-
तय करो चाहे जितना
रास्ता तो हमेशा आधा ही तय होता है
कौन किसका साथ देता है पूरे रास्ते तक
यह क्या कम है कि आधे रास्ते तक तो मैं साथ दूंगी तुम्हारा ...

वाक्य को अधूरा-सा छोड़ती
पहाड़ों में गुम हो जाती है!

(दो)

बरसात टीन की छत पर बजाती है जल तरंग
नींद धीरे-धीरे सीढ़ियां उतरती है
तकिए के पीछे दुबका कोई सपना
शरारत करके घर लौटे बच्चे सा
दबे कदमों से धीरे-धीरे
आंखों में
प्रवेश करता है
जैसे उसे देख लिए जाने का डर हो!

(तीन)

यहां कभी भी आ जाती है बरसात
कभी भी सारे रास्तों पर छा जाती है धुंध
धुंध के बीच पता ही नहीं चलता
कि कहां समाप्त होता है पहाड़
और बादल कहां से शुरू होता है

धुंध में चलते हुए
कोई बहुत पुरानी फिल्म याद आती है

कोई याद आते-आते धुंध में खो जाती है !

(चार)

सोचता हूं कितनी सीढ़ियां हैं हर जगह
इस वायसरीगल लॉज¹ में

वाइसराय और लेडी डफरिन के शयन कक्ष की ओर जाती
लाल मखमली कार्पेट से टकी लकड़ी की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए
अक्सर लगता है कोई मेरा पीछा कर रहा है
मेरे कदमों की आवाज का पीछा करती
आती है किसी और के कदमों की आवाज
नहीं, कोई जासूसी या भूत की कहानी मैं नहीं सुनाऊंगा
हालांकि भूतों की कहानियों की कोई कमी नहीं है यहां

इन सीढ़ियों पर चढ़ते हुए अक्सर मुझे महसूस होता है
जैसे हमारा ही अतीत
अब तक पीछा कर रहा है
हमारे वर्तमान का।

¹. वायसरीगल लाज को अब राष्ट्रपति निवास कहा जाता है।

(पांच)

टीन की छत पर अचानक मची लंगूरों की धमाचौकड़ी से
एकाएक टूट जाता है सोचने का सिलसिला
हाथ से फिसल कर गिरता है कांच का गिलास
कोई सपना राई की तरह बिखर जाता है

छत से एक ही छलांग में बगल के पेड़ की डाल
पकड़ लेता है लंगूर
अगली डगाल पकड़ने की कोशिश में विचार
फिसल कर गिर पड़ता है बीच में ही
बंदर से आदमी बनने की प्रक्रिया में जो पाया
उसे गिनाने की हड़बड़ी में
जो खो दिया उसका इंदराज करना हम भूल गए

लंगूर की तरह छलांग नहीं मार सकता विचार!

बंदरों और लंगूरों से जुड़ी न जाने कितनी यादें हैं बचपन की

लुटियन¹ इस बात पर तो यकीन कर लेने को तैयार था
कि शिमला को बंदरों ने बनाया है
लेकिन वह चाहता था
कि ये नामकूल बंदर दुबारा ऐसी कोई हिमाकत करें
तो उन्हें गोली मार देना चाहिए

लेकिन इस समय दुनिया भर में मचे कोहराम से ज्यादा
उटपटांग क्या है ?
ओ हमारे पूर्वजों !
तुममें और हममें कम से कम एक बात तो एकसां है
कि हम दोनों ही न खुद चैन से बैठते हैं
और न दूसरों को चैन से रहने देते हैं !

1. एडविन लुटियन नई दिल्ली वास्तुकार, संदर्भ वायसरीगल लाज लेखक : राजा भसीन।

(छह)

हर रोज पहाड़ से उतरता हूँ, पहाड़ पर चढ़ता हूँ
पर अकसर भूल जाता हूँ कहां खत्म होती है पोट्टियां
और रपटा कहां शुरू होता है
बारिश के शुरू होते ही सारे रास्तों पर जम गई है काई
पाँव बार-बार फिसलता है
रेलिंग पकड़ते डर लगता है
बिचू बूटी की किसी डाली से छू न जाएं हाथ
मैंने सिसीफस की तरह कोई अपराध नहीं किया
किसी से नहीं किया दुर्व्यवहार न किसी के गुप्त रहस्य को उजागर किया
मैं झूठ बोलकर टारटॉरस से भाग कर धरती पर नहीं आया
लेकिन फिर भी एक अदृश्य पत्थर को लेकर रोज चढ़ता हूँ
हर दिन वह पत्थर लुढ़ककर नीचे आ जाता है
मैं सिसीफस की तरह रोज एक ही कवायद दोहराता हूँ।

(सात)

ऑट्टी हैरिस! कौन थी मैं नहीं जानता!
वह घुमक्कड़ औरत अकेले ही चीन, जापान, तिब्बत और अफगानिस्तान
से होती हुई भारत पहुंच गई
साल डेढ़ साल तक घूमते-घूमते वह शिमला पहुंची
यह उन दिनों की बात है जब जार्ज पंचम का निधन हुए
ज्यादा वक्त नहीं बीता था
रिवाज के अनुसार सरकारी इदारों में अभी तक अर्धशोक का
कर्मकांड जारी था
वह वायसराय भवन पहुंची और उसने शोक पुस्तिका पर अपना नाम दर्ज किया
तीन दिन बाद उसे वायसराय भवन में भोज पर आमंत्रित किया गया
बैंड पर बजे इंग्लैंड के राष्ट्रगीत के बाद जब अपने झबरे कुत्ते के साथ
वायसराय और लेडी वायसराय ने भोजन कक्ष में प्रवेश किया

तो सुख रौशनियों के बीच सारी मेजों पर लगे भोजन को देखकर
जाने क्यों अजीब से अपराध बोध से भर गई आड़ी हैरिस
उसे यकायक लगा कि कहीं चांदी के इन बर्तनों में
भूतपूर्व वायसराय की अस्थियां और राख तो नहीं हैं!

कौन थी आड़ी हैरिस?¹

अन्याय की स्मृति क्या बदल चुकी थी
अस्थियों और राख में!

आड़ी हैरिस : संदर्भ वायसरीगल लाज लेखक राजा भसीन, 28 अगस्त से 27 सितंबर 2014



तेजी ग़ोवर

अंतिम इच्छाएं (एक)

क्या घेर रही होगी एक सुनहरी बांह
सुबह के कांच को
बैंजनी
जब नाच रहे हों पत्रे पर खिले हुए फूल
या लिखे हुए फूल या कि ऐश्वर्य हृदय का
उमड़ रहा हो पुतलियों के अक्स में
जब कुछ नहीं होता
सब कुछ होता है
सम पर
घुल जाता हुआ यह श्वास
जो कुछ भी नहीं होता

(दो)

यह सच है कि ओस में गिरना चाहता है हृदय
जब एक खड़खड़ाते पत्ते की तरह
लू में उड़ा चला आता है
वह क्षण
कोई उठता है
और आंख के पर्दे पर बांचने की कोशिश करता है-
वह जो रचनावली है श्वास की
और कौंध उठती है अनायास
हरी एक छत (जिस पर) पीली
एक ततैया उड़ती है
पानी गिरता है चांद का।

(तीन)

ओठों से छुई हुई एक शुआ सरककर उफुक
की ओर जहां समुद्राकाश
प्रतीक्षा करता है श्वास की
चींटी-सी अपनी देह से नौ गुना उठाकर
कहां चली वह सफेद इस रात्रि के प्रांत में
कक्ष में रंग से लथपथ एक कूची का
ठंडे फर्श से सटा हुआ-सा हृदय ।

(चार)

कोई तो है जो कहता है, 'सफेद पाखियों की पांत'
जो कहता है, 'मरीय, अब मरता हूं मैं',
वह जो अंतिम वाक्य लिखता है, 'लेमोनेड हर शय असीम है-'
वह जो अब चादर बिछाए पेड़ों के शब्द से घिर जाना चाहता है-
आह, कि रात की कश्तियों के पाल कितने श्वेत हैं
नदी में शांत पड़ा हुआ है मावस का सियाह नीला जल
और मैत्री की विषाक्त गलियां धुलकर स्वच्छ निकल आई हैं ।

कवि की सामर्थ्य

पुतलियां देखती हैं
और पुतलियां
मिटती हैं
बस उसे नहीं जो बैजनी एक फूल है बुखार का
बस उसे नहीं जो सुनहले खेत में सेमल की शाख से झरता है
बस उस स्वप्न को नहीं जिसमें तुम हर बार मिट रहे होते हो
दिशाओं में
वह नन्हा सफेद पशु
जो कोई घाव है बारिश में तड़पता हुआ
मिट जाता है तुम्हारे हृदय के घाव में
मिट ही जाती है कई बार किसी भूल से
वह
जो कवि की सामर्थ्य है संसार में ।

बूढ़े प्रेम की कुछ और कविताएं

(एक)

नदी खुली है सामने और मेरी आंखें। बगुलों के अक्स चलते हैं पानी की सतह में। देह अब सो जाने की कोशिश करती है। एक बड़ी हरी और खामोश-सी भूमि है यहीं-कहीं हमारे पास। हरी घास पर तुम एक काला कीड़ा दिखाते हो मुझे जो शांत है। फिर एक नन्हीं पीली चिड़िया। ऐसे मरते हैं पक्षी, तुम कहते हो।

(दो)

थक कर रुक गई थी नदी और हम उसके तट पर। बहुत कुछ था जो नदी को थकाने रोज चला आता था उसके किनारे। और हम थे कि एक पल के लिए भी सौंदर्य को खोना नहीं चाहते थे। रोज गुनते थे अपने जाने को; सफेद पक्षियों की तरह काले मेघों के सामने उड़ते-उड़ते ओझल हो जाने के बारे में सोचा करते थे।

(तीन)

काले बादल थे और उनकी सतह पर गुलमोहर के दहकते हुए फूल। नदी हमारी पीठ के पीछे थी और थकी हुई थी। उसके बिंब में कोई थकान नहीं थी। वह इस कदर थकी हुई थी और दूर से देखने पर हमेशा बिंब में बदल जाती थी।

काले बादल और गुलमोहर के दहकते हुए फूल भी।

(चार)

हम बिंब में बदल कर ओझल हो जाना चाहते थे। कोई दूर से देखे और थकान न हो। पास से देखने पर हम बिंब की तरह दिखाई नहीं देते थे।

हमारी देह का जो तट था, वहां बिंब में बदल जाने की इच्छा थी, जो दीख पड़ती थी।

उस ओर के तट पर उमगती हुई पहाड़ियों पर सफेद पक्षी उड़ते थे।



अनामिका

कचकारा

आज एक मनोचिकित्सक मित्र ने
प्लास्टिक मनोभावों की चर्चा की,
कहा कि अपराध-बोध, कुंठा वगैरह
प्लास्टिक मनोभाव हैं,
कोई भी इन भावों के साथ पैदा नहीं होता,
ये ठहरे हहरे हुए मन के अपने उत्पाद
उनके घर से अपने घर की तरफ लौटते
एक अघट-सा घटा!
रस्ते में जितने भी लोग मिले
सबके चेहरे सील थे पॉलिथिन में!
भिंची पड़ी थीं नलियां
सांस की, आस की, उजास की!

प्लास्टिक की थैलियों में इसी तरह
थोड़ी-सी सीलबंद मिट्टी के साथ
नर्सरी से लाते थे बाबा नए-नए पौधे,
उनको तो मिल भी जाती थी नई मिट्टी
गमले में अच्छी-सी!
अब मिट्टी खुद प्लास्टिक है!
उखड़े हुए लोगों का
जाने क्या होगा!
अब ये कहां पकड़ेंगे
अपनी नई जड़ें ?
सोचती हूं, खूब निकली यह प्लास्टिक।

क्या इसने अंग्रेजों से सीखी
व्यापार की सारी बाजीगरी?

बचपन में हम इसको
 कितना निरीह जानते थे!
 कच से कचक जाती थी,
 इसलिए कहते थे इसको कचकारा
 सावन के मेले में रोलगोल्ड से चमचमाती
 बड़ी-बड़ी डलियों में बिकने चली आतीं
 कचकारे की चूड़ियां, गुड़ियां, हाथी-घोड़े पालकी
 साथ-साथ कुछ भारी असबाब ढोते हुए
 चौदह से पंद्रह बरस के कुछ लड़के भी आते
 बीच में काम छोड़कर वे भी साथ हमारे खेलना चाहते!
 कभी-कभी मिलकर बैठते हम
 बालू के कैलाश पर्वत पर
 कचकारे के शिवजी,
 कचकारे की माता पार्वती!
 रुई की बरफ बनती,
 खूब हमारी उनसे छनती
 कि हर बात पर वे ठहाके लगाते,
 कल-कल, छल-छल बहती गंगाजी
 उनकी हँसी की शकल लेकर
 शिवजी के मस्तक पर,
 पर सजावट पूरी करते हुए
 चार घड़ी ही बीती होती कि
 कोड़ा फटकारते हुए आते
 मेले के काट्रैक्टर
 और खदेड़ लिए जाते उन्हें काम पर -
 उनकी यह प्रलयंकर मुद्रा भी
 लाल रंगी आंखों से
 टुकुर-टुकुर ताकते रह जाते
 कचकारे के शिवजी,
 कचकारे की माता पार्वती!
 तब से अब तक
 लगातार अगरधत्त हुई प्लास्टिक
 अब कोई इसको 'कचकारा' कहकर तो देखे!
 बैठती है आलीशान दफ्तरों में!
 जो इसको प्रतिबंधित करती हैं,

वे फाइलें भी इसी की होती हैं।
ले-दे हिसाब बराबर कि गणित है पुराना,
“द किंग इज डेड, लॉन्ग लिव द किंग!”

स्वाधीनता-सेनानी

बाहरी बरामदे पर इनकी खातिर
इतिहास तोषक-सा बिछा हुआ है
बीच से धंसे इनलप के नीचे!
बेटों की इसपर अब दुखती है पीठ,
बाबा की नहीं दुखेगी
क्योंकि ये हैं फ्रीडम फाइटर,
अब तक लगातार ये रहते हैं यात्रा पर!
'वैशाली', 'मिथिला', 'मगध' और 'विक्रमशिला'
प्राचीन ये जनपद
रेलगाड़ियों का ही नाम रह गए हैं अब
पटना-मुजफ्फरपुर-भागलपुर-दरभंगा के सारे
छुटभैया बाहुबली
ब्रीफकेस की तरह टांगे फिरते हैं इन्हें
जब आना होता है दिल्ली -
'फ्रीडम फाइटर' के संगीत की 'फ्री' सीट पर !
'फ्रीडम' का क्या, वह तो तब भी नहीं थी,
और अब भी नहीं है -

कुछ नकार देने की फ्रीडम”, उस रात सोचा इन्होंने,
“ट्रेन की खिड़की से दीखता है बाहर
एक बड़ा बाज निशाना साधे उतर रहा है धरती पर
एक झपट्टे में उठा लेगा जिसको -
उस चिड़िया का नाम क्या है?

बारिश घनघोर हो रही है
क्या बहू ने उठाकर रखा होगा तोषक
या तकिया
पत्नी ने नीली 'गुडलक' काढ़ा था जिस पर
स्वाधीनता-दिवस की
पहली वर्षगांठ पर?”

नशेड़ी

हाथों में चिलम नहीं उसके
पर छल्ले छोड़ती हुई बेखुदी
घेरे रहती है हरदम उसे!
धीरे से कहता है रोज कान में मेरे -
'चलने दो जैसे चलता है',
जाती हूँ जहां-जहां,
रहता है पीछे तैनात
सूरज उसके कंधों की
ओट में डूबता है
जब आईटीओ के पास
शाम सात बजे
वह मेरे पीछे चलना छोड़कर
मेरे आगे-आगे चलता है भीड़ काटता हुआ
नहीं-नहीं, साया-हमसाया नहीं है वह,
एक गंध है अनमनी-सी
जो मेरे कानों में बजती है
खुफिया उसांस छोड़ती
जब भी अपने कबीर से लेती हूँ मैं लुकाठी
घर जाने की तैयारी
रह जाती है यों

धरी-की-धरी!

आलस्य-जड़ता-कायरता या करुणा,
कातर अहिंसा-फकीरी-क्षमा -
ये पालतू कुछ कबूतर हैं
जिनको मैं देती हूँ दाना
तो कबीर की कमली हँसती है,
और नाचता है वो मेरा नशेड़ी
ग्रहपथ पर,
फिर थोड़ा उससे छिटककर!

लोकतंत्र

सिक्कों का सिक्का चला है
चलेगा हमेशा
ट्रेन की खिड़की से
नदियों में फेंके गए,
चौराहों पर जब भी फैली हथेली
जेबों से ये ही बाहर आए
दुल्हन की चौका छुआई में चढ़ी
ताजा गुड़ के भीतर
डबके ये ही
सिक्कों का सिक्का चला है
चलेगा हमेशा



उदयन वाजपेयी

वह

(एक)

मुझे बेचैन टहलता देख वह खिलखिलाकर हँस देती है। उसकी हँसी के कण उल्काओं की तरह आकाशगंगा में बिखर जाते हैं। मैं पगडंडी पर चलते-चलते रुक जाता हूँ। वह कहती है, 'यह जानने में इतना विलंब क्यों, कि यह समूचा ब्रह्मांड तुम्हारा उपहास है, कि खिलखिलाहटों के ब्यूह से बाहर आने का कोई मार्ग नहीं है।'

भीषण उल्कापात के बीच मैं नदी पर झुककर अंजुरि भर बहता जल पी लेता हूँ।

(दो)

वह अंतरिक्ष के कोने में अपना खोया कंगन ढूँढ़ती है। पर्वत-शिखर पर खड़ा मैं भाप के रेशों को फूलों में प्रवेश कर ओस के कणों में बदलता देख रहा हूँ। मुझे पता है उसका कंगन उसी की कलाई पर लिपटा है। अंतरिक्ष का वह कोना भी मुझे ज्ञात है। पर मेरे और उसके बीच घने बादल-सा मेरा होना फैला है। उसके और मेरे बीच झीनी वर्षा-सा उसका न होना बरसता है।

वह कंगन ढूँढ़ती है।

मैं उसे खोजता हूँ।

भारी आंखों में रह-रहकर सिकुड़ता-फैलता यह ब्रह्मांड धुंधलाता है।

(तीन)

वह आकाशगंगा में डूबती चली जा रही है। वह अंतरिक्ष के विस्तार में घुलती चली जा रही है। वह हल्के गुलाबी नक्षत्र की छाया में बैठी मेरी राह तकती रहती है। मैं अपने आप में डूबता-सा, रोजमर्रा के विवरणों में बिखरता हल्के पीले एकांत की छाया में बैठा-सा उसकी ओर जाने की राह तकता हूँ। वह उठती है। मैं भी। हमारे बीच फैला यह अद्भुत ब्रह्मांड अपने भीतर ही कहीं धुएँ-सा विलीन होने लगता है। मृत्यु न चाहकर भी मुस्कराती है।

(चार)

वह मुझे मेरे न होने की दूरी से ताकती है। मैं उसे उसके हो सकने की करीबी से। आकाशगंगा के निर्मल जल में वह घुटनों-घुटनों तक डूबी खड़ी रहती है। सुनहली मछलियाँ आ-आकर उसके पैरों की अंगुलियों को कुतरती हैं। मैं न होने की देहरी पर खड़ा दस्तक देता रहता हूँ। वह हो सकने

की राह पर चलते-चलते थककर बैठ जाती है। उसके चारों ओर न कोई फरिश्ता होता है, न अप्सरा। मेरी सिसकियों के धागों से वह अपना एकांत बुनती है जिसमें टूटते नक्षत्र इकट्ठा होते जाते हैं।

(पांच)

कभी वह पास में फुसफुसाती है। कभी दूर से पुकारती है। कभी उसकी आवाज तने हुए धागे की तरह मेरे पास आती है। कभी ढीली डोर की तरह। अंधेरी रात की सरसराहट के बीच कभी मैं धागे में लिपटता हूँ। कभी डोर में बंधता हूँ। आकाशगंगा की शांत धारा में वह सुनहली मछलियों के बीच तैर रही है। मेरे आंसुओं में कभी धागे बहते हैं। कभी डोर तिरती है।

(छः)

वह कहीं नहीं के फर्श पर नक्षत्र जमा रही है। मैं यहीं कहीं की गलियों से बाहर निकलने की राह खोजता हूँ। नक्षत्रों पर उसकी अंगुलियों से छूटे निशानों से मेरी नियति का नक्शा तैयार होता है जिसमें उलझकर न जाने कितने निर्दोष गिरते चले जाते हैं। मैं जितना भी रोकूँ, काल की यह फिसलन मुझसे रुकने वाली नहीं। वह कितना भी चाहे उसके न होने का स्पंदन शांत होने वाला नहीं। मेरे और उसके बीच ऋतुओं के आर-पार फैला यह अंतराल रह-रहकर सिहरता है।

अंतराल यह सिहरता है रह-रहकर। ऋतु के आर-पार....

(सात)

ओफ! कैसे हटाऊँ अपने और उसके बीच फैले इस संसार को कि उसकी खिलखिलाहट सुन पड़े क्षण-दो-क्षण। हर वृक्ष के नीचे उसकी छाया ठिठकी है हर पर्वत पर वह बयार की गंध-सी बहती है। पृथ्वी को ढांप रखा है हरीतिमा ने या उसके अभाव ने। जो नहीं है। विचरते हैं यहां से वहां, वहां से यहां। जो हैं वे न जाने क्यों दुबके पड़े हैं खुद में।

न वह जानती है न मैं, हम में से किसे लौटना है : उसे पृथ्वी पर या मुझे प्रिया के घर!



कुमार अंबुज

अपमान

वह नियमों में शामिल है और सड़क पर चलने में भी
सबसे ज्यादा तो प्यार करने के तरीकों में
वह रोजी-रोटी की लिखित शर्त है
और अब तो कोई आपत्ति भी नहीं लेता
सब लोग दस्तखत कर देते हैं

वह घुलनशील है हमारे खून में
वह रोज होता है और अकसर हम
कुछ लोगों की तरफ देखकर जैसे उसकी प्रतीक्षा करते हैं

मजे की बात है कि यदि आपके पास चप्पलें या स्वेटर नहीं हैं
तो कोई आपको चप्पल या कोट नहीं देगा सिर्फ अपमानित करेगा
या इतना बड़ा अभियान चलाएगा और इतनी चप्पलें
इतने चावल और इतने कपड़े इकट्ठे हो जाएंगे
कि अपमान एक मेला लगाकर होगा

कहीं-कहीं वह बारीक अक्षरों में लिखा रहता है
और अनेक जगहों पर दरवाजे के ठीक बाहर तख्ती पर
ठीक से अपमान किया जा सके इसके लिए बड़ी तनख्त्राहें हैं
हर जगह अपमान के मासिक लक्ष्य हैं
कुछ अपमान पैदा होते ही मिल जाते हैं
कुछ न चाहने पर भी और कुछ इसलिए कि तरक्की होती रहे

वह शास्त्रोक्त है
उसके जरिए वध भी हो जाता है
और हत्या का कलंक भी नहीं लगता।

क्षमा किए जाने की प्रतीक्षा में

(एक)

चांदनी खुशनुमा रातें भी असह्य हो जाती हैं
शांत पोखर में उठने लगती हैं बेचैन वर्तुल लहरें
जैसे ही आता है ख्याल कि जीवन में
कितने लोगों के साथ हमने लगातार दुर्व्यवहार किया

उनमें से कुछ तो हमारे साथ अभी भी रहे चले आते हैं
और अनेक जा चुके हैं नामुमकिन दूरियों तक
उन्होंने हमें क्षमा कर दिया या नहीं
वे कभी हमें माफ करेंगे या करेंगे ही नहीं
यह हम किसी तरह पता नहीं कर पाते

हालांकि मौका देखकर कभी-कभार हम उन्हें याद दिलाते हैं
कि बहुत शर्मिंदा हैं हम अपने उस बर्ताव पर
लेकिन उधर से मुस्कुराकर कहा जाता है कि तुम भी भाई
किधर की बात लेकर बैठ गए
या संजीदा जवाब आता है ऐसी कोई घटना उन्हें अब याद नहीं

परंतु हम देखते ही हैं और याद कर सकते हैं
कि कुछ लोग बुरा मान जाते हैं जीवन भर के लिए
कुछ ने सोचा था मुकदमा दायर करने के बारे में भी
और अनेक लोग विस्मृत कर देते हैं हमारी हरकतों को
लेकिन माफ नहीं करते
हमारी क्षमा याचनाएं रद्दी कागजों की तरह
धूल के बगूले में चक्कर खाती रहती हैं

फिर एक दिन आप सोचते हैं
कि शायद दोस्तों ने हमारे झांसीं को, कुटिलताओं को भुला दिया है
बच्चे कहते हैं हमें याद नहीं कब आपने बिना बात
डांटा था या कर दी थी पिटाई
स्त्रियां हँसती हैं जैसे वे बिसरा चुकी हैं अपने तमाम अपमान

मगर आप अच्छी तरह जानते हैं कि इन्हें सब कुछ याद है
और अब इस उमर में वे आपको यह सब जताकर
कोई दुःख नहीं पहुंचाना चाहते
लेकिन आप समझ सकते हैं कि इस बारीक तरीके से
वे आपको क्षमा भी नहीं करते।

(दो)

कभी-कभी कुछ अजीबो-गरीब बातें भी उठती हैं मन में
जैसे यह आज मैं पढ़ रहा हूँ जो किताब
जिसके शब्द बीध रहे हैं मेरा हृदय, मुझे कुछ नया बना रहे हैं
उसके लेखक को अपने जीवन में सिर्फ दुत्कार मिली और यातनाएं
मैं तब पैदा भी नहीं हुआ था मगर माफी मांगना चाहता हूँ उस लेखक से

लेकिन अब वह भला आदमी इस दुनिया में ही नहीं रहा
और क्षमा मांगने के लिए मैं किसी कालखंड का
प्रतिनिधित्व भी नहीं करता मगर मुझे न जाने क्यों लगता है
कि मैं भी परंपरा में उसका एक गुनाहगार रहा आया
कि कलाकारों, लेखकों की उपेक्षा के ऐसे ही अपराध
किसी रूढ़ि की तरह चले आते हैं आज तक, यहां तक

मैं तो अपने पूर्वजों, समकालीनों की तरफ से भी
माफी मांगना चाहता हूँ तमाम दलितों से, अल्पसंख्यकों से
आदिवासियों से, श्यामवर्णी लोगों से, जीत ली गई सन्नारियों से
जिन्हें बिना न्याय के थानों में, जेलों में दम तोड़ना पड़ा, उनसे भी
जो लोग युद्धों, दंगों, एनकाउंटर्स में मारे गए उनसे तो सबसे ज्यादा

लेकिन लगता है यही वह एक इलाका है
जहां क्षमा मांगने या क्षमा करने से नहीं
अत्याचारों को याद रखने से ही संभलेगा, बदलेगा यह जीवन।

यह भी तो सोचिए भाई!

सब बुद्धिजीवी और विचारक चाहते हैं
कि बच्चे होटलों में, घरों में या दुकानों में काम न करें
बल्कि स्कूल जाएं

और कहीं नहीं तो सरकारी विद्यालय में जाएं
जहां पढ़ाई हो न हो खाना तो मिल ही सकता है

स्कूल से खाना चुराकर घर ले जाते बच्चों की खबरें आती हैं
और इस बात के लिए उन्हें दी गई सजाओं की भी

पिता दो बच्चों को होटल और खदान में काम पर लगा चुके हैं
और वे अकेले ही रोज सुबह खड़े हो जाते हैं जयस्तंभ चौराहे पर
कभी काम मिलता है कभी नहीं
अपनी जगह है ही हारी-बीमारी
न्यूनतम मजदूरी का कोई पैमाना नहीं
जितनी बेरोजगारी - उतनी ही कम मजदूरी:
यही अर्थशास्त्र का मुहावरा, यही है अमीरी का दर्शन

गरीबी के खिलाफ कहीं एफ आई आर भी दर्ज नहीं होती
इसलिए मां भी उस एक बच्ची को गोद में लेकर काम पर जाती है
जो अभी किसी भी काम के लिए बहुत छोटी है

सोचिए, यदि यह सब न करें तो घर चलेगा कैसे
और बताइए, इन हालातों में क्या आप भी
अपने बच्चों को भेज सकते हैं सरस्वती-मंदिर!

मृत्युलोक

(एक)

वह इसी संसार की भीड़ में दिखा एक चेहरा, जिसे भूला नहीं जा सकता।
तमाम मुखौटों के बीच सचमुच का चेहरा।
या हो सकता है कि वह इतने चेहरों के बीच एक शानदार मुखौटा रहा हो।

उस चेहरे पर विषाद नहीं था जबकि वह इसी दुनिया में रह रहा था।
वहां प्रसन्नता जैसा कुछ भाव था लेकिन दुख का ठीक विलोम नहीं।

लगता था कि वह ऐसा चेहरा है जो प्रस्तुत दुनिया के लिए उतना उपयुक्त नहीं है।
लेकिन उसे इस चेहरे के साथ ही जीवन जीना होगा। वह इसके लिए विवश था।

उसके चेहरे पर कोई विवशता नहीं थी, निश्चय ही वह देखनेवाले के चेहरे पर आ जाती थी। वह बहुत से चेहरों से मिलकर बना था। उसे देखकर एक साथ अनेक चेहरे याद आते थे। वह भूले हुए लोगों की याद दिलाता था वह अतीत से मिलकर बना था। वर्तमान में स्पंदित था और देखते ही, भविष्य की स्मृति का हिस्सा हो गया था।

वह किसी को भी एक साथ अव्यावहारिक, अराजक, व्यथित और असंतोषी बना सकता था। किसी संभव शांति की ओर ले जाता हुआ।
उसके न दिख पाने की व्यग्रता और फिर उत्सुकता यह संभव करेगी कि वह मेरे लिए हमेशा
उपस्थित रहे

उसका गुम हो जाना याद रहेगा

(दो)

उसे देखकर कुछ अजीवित चीजें और भूदृश्य याद आए। एक ही क्षण में:
लैंपपोस्टों वाली रात के दूसरे पहर की सड़क कमलगट्टों से भरा तालाब
एक चारखाने की फ्रॉक। ब्लैक एंड व्हाइट तसवीरों का एलबम।
बचपन का मियादी बुखार स्टूल पर कांच की प्लेट और उसमें एक सेब एक छोटा सा चाकू।
सफेद पर्देवाली एक खिड़की और फूलदान।

वह चेहरा उस स्वप्न की तरह हुआ जिसे देखा गया लेकिन जिसे कभी पाया नहीं गया।
कुछ सपनों का केवल स्वप्न ही संभव हो पाता है।
लेकिन उस चेहरे पर चोटें और खरोंचें इस बात के खिलाफ थीं कि वह महज एक सपना है।

अब यदि वह कभी असंभव से संयोग से दिखेगा भी तो उसका इतना जल बह चुका होगा
और उसमें इतनी चीजें मिल चुकी होंगी कि वही चेहरा कभी नहीं दिखेगा।
हर चीज का निर्जलीकरण होता रहता है, नदियों का, पृथ्वी का और चंद्रमा का भी।
फिर वह तो एक कथई-भूरा चेहरा ही ठहरा।

वह कहीं न कहीं प्रत्यक्ष है लेकिन मेरे लिए हमेशा के लिए ओझल।
कई चीजें सिर्फ स्मृति में ही रहती हैं
जैसे वही उनका मृत्युलोक है

मालकौंस

अब तुम पुलकित शिशु हो खुले वितान में
यह धूप यह अँधेरा यह खामोशी
अब नए अनुभव हैं
और यह एकदम नया रंग हुआ
जिसे तुम देख रहे हो टकटकी लगाकर

हर चीज के लिए तुम उत्सुक हो
एक बार फिर अबोध
इस उठान के साथ
तुम सौंप रहे हो खुद को समुद्र की गहराई में
लेकिन तुम पहुंच गए हो आकाशगंगा में
द्रुत गति से फंलागते हुए नक्षत्रों को

यह स्वप्न नहीं 'ध' है
समय को चकानचूर करता
आलाप के हाथों में उठता हुआ यह विशाल ग्रह
जिसके तुम अब एक नवजात निवासी
वनस्पतियों की गंध में धीरे-धीरे खोलते अपनी आंखें
जीवन तुम्हारे सामने खड़ा है बाहें फैलाए

इसे नए सिरे से जानने के लिए ही
एक बार फिर हुआ है तुम्हारा यह जन्म।

श्रद्धांजलि

यहां मैं कुछ नहीं कह पाऊंगा, क्षमा करें
मृतकों को याद करने के मेरे पास कुछ पुराने तरीके ही हैं

एक पत्थर, बारिश, रेस्तरां की टेबुल, आलिंगन,
संगीत का एक टुकड़ा, सांझ की गुफा और एक मुस्कराहट
ये कुछ चीजें हैं जो मृतक को कभी विस्मृत नहीं होने देतीं

विज्ञापन, तस्वीरें, लेख और सभाएं साक्षी हैं
कि हम मृतकों के साथ नए तरीकों से मजाक कर सकते हैं
या इस तरह याद करते हैं खुद का बचे रहना

धीमी रोशनियों में ज्यादा साफ दिखाई देता है
क्षितिज पर इंद्रधनुष है
आंख की कोर से आखिर कीचड़ निकलता है
ओस और कोहरा हमारे भीतर नए रसायन, नई इच्छाएं पैदा करते हैं
जब धूप खिलती है तो मृतकों की परछाइयां साथ में चलती हैं

कोई उस तरह नहीं मरता कि हमारे भीतर से भी वह मर जाए
जान ही जाते हैं एक दिन कि समय किसी दुःख को दूर नहीं करता
वह एक मुहावरे की सांत्वना है और एक भ्रम पैदा करता है
जबकि स्मृति एक अधिक ठोस पत्थर की तरह
शरीर में कहीं न कहीं पड़ी ही रहती है
जब शिराएं कठोर होने लगती हैं, यकृत और हृदय वजनी हो जाता है
किडनी की तस्वीर में पत्थर पाए जाते हैं
और हम देखते हैं कि गुजर गए लोगों की स्मृतियां अंतरंग हैं

हर चीज पर धूल जमने लगती है
प्लास्टिक के फूल भी कुम्हला जाते हैं
शब्द विस्मृति में चले जाते हैं और सार्वजनिक जीवन में
आपाधापी, चमक, दार्शनिकता, जवाबदारी और हँसी भर जाती है
यह कोई काम नहीं है कि दो-चार दिन में खत्म हो जाएगा
यह जीवन भर का काम है जीवन भर का विलाप
और जीवन भर का साहस

तब स्मृति एकांत की मांग करती है जैसे प्यार।



गीत चतुर्वेदी

न्यूनतम मैं

वह फोटो जो मैंने कभी नहीं खींचा
उसमें मैं सड़क पर भटक रहा
मैं एक पेड़ से कूद रहा
पानी से खौफ के बावजूद पानी में तैर रहा

उसमें मैं कुछ लोगों से छिप रहा
कुछ लोगों से कह रहा कि मुझे देख लो
कुछ लोग मुझे मार रहे थे
मैं भी कुछ लोगों को मार रहा था

उसमें एक गुमटी पर चाय पीता मैं
अचानक किसी जुलूस में शामिल हो गया

उसमें एक इमारत की बाल्कनी में सिर झुकाए बैठा मैं
सड़क पर भटकते मैं से लेकर
पेड़ से कूदते मैं तक
तमाम मैं को देख रहा था

जब भी मैं मैं लिखता हूँ
मैं न्यूनतम मैं होता हूँ *

वह फोटो जो मैंने कभी नहीं खींची
उसमें एक दरवाजे के किनारे स्टूल पर बैठा हूँ मैं
किसी दरबान की तरह
अनाधिकार प्रवेश की चेष्टाओं को रोकता

मैं यह फोटो कभी नहीं खींच पाया
मैं इस फोटो से निकल जाना चाहता हूँ

बाहर का रास्ता भीतर वाले कमरे से होकर गुजरता है।

* ये दो पक्तियाँ ऑक्सर वाइल्ड की कुछ बातों को जोड़ने से बनी हैं।

समाधि

मेरे भीतर समाधिस्थ हैं
सत्रह के नारे
सैंतालिस की त्रासदी
पचहत्तर की चुप्पियां
और नब्बे के उदार प्रहार
घूंघट काढ़े कुछ औरतें आती हैं
और मेरे आगे दिया बाल जाती हैं

गहरी नींद में डूबा एक समाज
जागने का स्वप्न देखते हुए
कुनमुनाता है

गरमी की दुपहरी बिजली कट गई है
एक विचारधारा पैताने बैठ
उसे पंखा झलती है

न नींद टूटती है न भरम टूटते हैं।

दूध के दांत

देह का कपड़ा
देह की गरमी से
देह पर ही सूखता है

-कृष्णनाथ

मैंने जिन-जिन जगहों पे गाड़े थे अपने दूध के दांत
वहां अब बड़े-बड़े पेड़ लहलहाते हैं

दूध का सफेद
तनों के कत्थई और पत्तों के हरे में
लौटता है

जैसे लौटकर आता है कर्मा
जैसे लौटकर आता है प्रेम
जैसे विस्मृति में भी लौटकर आती है

कहीं सुनी गई कोई धुन
बचपन की मासूमियत बुढ़ापे के
सन्निपात में लौटकर आती है

भीतर किसी खोह में छुपी रहती है
तमाम मौन के बाद भी
लौट आने को तत्पर रहती है हिंसा

लोगों का मन खोलकर देखने की सुविधा मिले
तो हर कोई विश्वासघाती निकले
सच तो यह है
कि अनुवाद में वफादारी कहीं आसान है
किसी गूढ़ार्थ के अनुवाद में बेवफाई हो जाए
तो नकचढ़ी कविता नाता नहीं तोड़ लेती

मेरे भीतर पुरखों जैसी शांति है
समकालीनों जैसा भय
लताओं की तरह चढ़ता है अफसोस मेरे बदन पर
अधपके अमरूद पेड़ से झरते हैं

मैं जो लिखता हूँ
वह एक बच्चे की अंजुलियों से रिसता हुआ पानी है ।

टिकट

मैं अपनी नहीं, किसी और की राजनीति हूँ
मैं किसी और का गुप्त एजेंडा हूँ
मेरे होने-भर से कोई अपने हित साध लेगा
वह मेरा ही अहित होगा

मैं अपना नहीं
किसी और का नाम हूँ

नर्क की नागरिकता के लिए
मैंने आवेदन नहीं दिया था
मुझे किसी और के टिकट पर
यहां तक भेजा गया

आधा-आधा

जीवन अलग दिशा में जाता था, सो जाता था
कविता अलग दिशा में मुड़ती थी, सो मुड़ती थी
बंटवारे का हुनर मुझे अंग्रेज दे गए
मैं आधा जीवन में जाता
आधा कविता में मुड़ जाता
दोनों की भेंट कभी न होती
मैं भी कौन-सा कभी अपने आधे से भेंटाता ।



राकेश श्रीमाल

मां : कुछ शब्द चित्र

एक

कभी नहीं बताया होगा
मां ने तुम्हें
कि देखा था उसने अपने सपने में
अपनी बेटी के प्रेमी का चेहरा

क्या अच्छा लगा होगा
तुम्हारी मां को
वह सब कुछ देखना
जौ मैंने उस समय तुम्हारे साथ बरता होगा

क्या धारणा बनाई होगी मां ने
आखिर मेरे बारे में

कुछ तो मेरे पक्ष से भी सोचा होगा
यही कि कोई भी होता
तो वह भी वही बरतता

मन ही मन मुस्काई तो होगी जरूर मां
हो सकता है याद आ गए हों पुराने दिन भी
और यह भी कि
उनकी मां भी देखती होगी ऐसे ही कुछ सपने

सच बताना
एक दिन मां की हैसियत से
तुम यह सपना देखना पसंद करोगी या नहीं

दो

मां कैसे देखती होगी
तुम्हारी उम्र
तुम्हारी इसी उम्र के बराबर करके

क्या जान जाती होगी वह
तुम्हारे सारे ऊटपटांग विचार
तुम्हारी इसी उम्र में जाकर

क्या मां भी तुम्हारी तरह हर रविवार
बांधती होगी दो चोटी
और उन गीतों को गुनगुनाती होगी
जो अब पूरे याद नहीं रहे उसे

मां अपना ही बिताया जीवन
फिर से देखती होगी
लगभग विस्मय की तरह

तीन

कभी तो सोचकर धक्का लगता होगा मां को
कहीं तुम्हें धोखा ही ना मिल जाए प्रेम में

फिर विश्वास बहकाता होगा उसे
तुम्हारी ही नीली उड़ानों में
कभी तो चुपचाप बांध देती होगी वह
अपनी अतृप्त इच्छाओं की गठरी

सब जानती है मां
जो तुम करती हो
हमेशा उससे छिपाकर

चार

तुम्हारी उम्र को
किस तरह बढ़ती देखती होगी
मां अपनी ही आंखों से

अपना ही विस्तार समझकर
या खुद ही जी लेती होगी
तुम्हारी यह उम्र भी
चुपचाप तुम्हारे साथ रहकर

अपने साथ

समय ही ऐसा चल रहा है
उसने कहा

खुद से ही पूछा उसने
कोई तकलीफ तो नहीं
खुद ही मुस्कारा भी दिया

अरसे बाद सहेजा उसने खुद को ही
देखा खुद को
छुआ खुद को

उसने चाहा
खुद के पास सहज हो बैठना
जो उसे हमेशा असंभव लगा

उसे याद नहीं कभी भी
वह केवल और केवल
अपने साथ जागा हो

अपने साथ उसने क्या-क्या किया
वो नहीं जानता

उसने कभी कुछ किया ही नहीं



मैं क्यों लिखता हूँ?

रमेशचंद्र शाह

‘मैं क्यों लिखता हूँ?’... कई दिनों से यह शीर्षक मुझे घूर रहा है, पर मैं जैसे जानबूझकर इसका सामना करने से कतराता आ रहा हूँ। बरसों गुजरे- शायद सन 1961 में- रायपुर से निकलने वाली *संज्ञा* नाम की पत्रिका ने मुझसे सवक्तव्य कविताएं मांगी और छापी थीं। मुझे याद नहीं, उस वक्तव्य में मैंने क्या कहा था परंतु उन दिनों तो मुझे कविता के अलावा कुछ सूझता ही न था। अनुभव-मात्र में जो ‘रचने’ का तत्त्व अंतर्निहित है- एक बेहद संवेदनशील अंतःकरण पर आस-पास की दुनिया की जो भी छापें पड़ती हैं इंद्रियों के जरिए- उनको उजागर करना, अर्थ देना, यही तो उन्हें सचमुच अनुभव करना है, और उस अनुभव की गुणवत्ता-अर्थवत्ता को उकेरना-गहराना, यही तो कविता करती है। तो, मैं तो अपनी समझ से मेरे देखने-सुनने-महसूसने में जो मूक कविता थी, उसी को उकसाने और प्रगाढ़तर करने के लिए शब्दों के पास जाता था- फिर से उस जिए हुए को कविता में और भी सघन-संश्लिष्ट ढंग से जीने के लिए। कविता जैसे मेरे लिए जीवन-देवता की आरती उतारने जैसा- प्रकृति और मनुष्य-लोक की रंग-बिरंगी छवियों की विभूतिमत्ता का ही आवाहन और स्तवन करने जैसा- कर्म था। सारी चीजों के आपस में जुड़े होने के बोध को प्रत्यक्ष करना। उस लयात्मक उत्तेजना के चलते बचपन की वह जादुई और प्रभासिक्त पावनता वाली उत्सवी दुनिया और बाद में उत्तरोत्तर जटिल होती जा रही दुनिया के बीच की फांक भी अपने-आप बिला जाती थी।

किंतु ज्यों-ज्यों तर्क-बुद्धि विकसित होती गई, आधुनिक जगत और आधुनिक चेतना की नागरिकता हासिल होती गई, त्यों-त्यों वस्तुओं से उनकी ‘श्री’ ही उड़ती चली गई। यह क्या हुआ कि मनुष्य के नाम पर मनुष्य को ही सृष्टि के केंद्र में स्रष्टा की जगह बिठाकर खेला गया जुआ चराचर सृष्टि और खुद मनुष्य-भाव को ही उजाड़ने पर उतारू हो गया? कवि का सर्वप्रथम सरोकार इसी जगत् की विभूतिमत्ता से, उसमें मनुष्य की सही जगह और प्रतिष्ठा से होता है। किंतु जब वही विभूतिमत्ता संदेह और संकट के घेरे में आ जाए, उसी की मूल्यवत्ता घपले में पड़ जाए, तो स्वयं बुद्धिशाली होने के नाते कवि क्या करे? कैसे अपने कवि-कर्म और उसकी आधारभूत श्रद्धा-बुद्धि को इस सर्वग्रासी मूल्य-भ्रंश और मूल्यमूढ़ता से उबारे? स्वयं अपनी बात करूं तो, मैं, जो कविता से ही उन्मोचन हासिल करता आया था लम्बे अरसे तक, कभी जिसने सोचा तक न था विचार और आलोचना में उतरने का, ऐसा क्यों और कैसे हो गया कि जो एकाग्रता और तन्मयता पहले पूरी तरह कविता पर ही निछावर होती थी, वह गद्य के गलियारों में भी भटकने को बाध्य हुई? आखिर वह कैसी अंतर्विषयता थी इतना सारा कथात्मक और कथेतर गद्य लिखने की, इतनी बुद्धि-ऊर्जा और भाव-ऊर्जा उसमें खपाने की? निश्चय ही कविकर्म और उसकी आधारभूत मूल्य-चेतना पर ही धिर आए संकट को उस संकट के भीतर पैठकर उससे किसी कदर उबरने की प्राणपण चेष्टा ने ही मुझसे

वह सब करवाया, और यह चेष्टा अभी तक उसी तरह जारी है। अर्थहीनता और मूल्य-वंचना के इस घटाटोप से जूझे बिना न कविता का निस्तार है, न कवि का।

‘मनुष्य सत्य को नहीं जान सकता, किंतु उसे सदेह साकार कर सकता है’- महाकवि येट्स ने लिखा था अपनी डायरी में मृत्युशय्या पर। प्रकारांतर से यह उपनिषद के ‘सब होकर सब को देखने’ वाली बात का भी स्मरण दिलाने वाली उक्ति है। रचना भी ‘ज्ञान’ का ही एक प्रकार है; परंतु वह ज्ञान के दावेदार अन्य अनुशासनों के ‘जानने’ की प्रक्रिया से अलग है। रचना का सच आस्तित्विक और रागदीप्त सच होता है। प्रख्यात आधुनिक नाटककार आयोनेस्को से जब पूछा गया कि ‘आप क्यों लिखते हैं?’... तो उसने आरंभ ही इस वाक्य से किया कि ‘मैं क्यों लिखता हूँ यदि मैं सचमुच यह जानता तो मुझे लिखने की जरूरत या प्रेरणा ही क्यों होती? यही जानने के लिए तो ‘मैं लिखता हूँ कि मैं क्यों लिखता हूँ।’... यदि हम अपने लेखन-कर्म को व्यापक जीवन-जगत के प्रति ऋणशोध या आत्मदान के रूप में देखें तो भी यह भरोसा कैसे हो, कि इस प्रक्रिया की परिणति आत्मज्ञान और आत्मोपलब्धि में होगी ही। हो भी, तो वह भरोसा ‘ज्ञान’ के अन्य दावेदारों को भी कैसे हो? मानव को मूल्य-स्रष्टा मानने वाले कवि अज्ञेय जब कविता में इस अनुभव को उचारते हैं कि... ‘मैं लिखता हूँ/मैं लिख-लिखकर/सब झूठा करता जाता हूँ’.... तो उनकी बात भी वस्तुपरक सचाई के दावेदारों के गले उतरेगी ही, इसका क्या भरोसा?

मैंने कहा कि कई दिनों से यह शीर्षक मुझे घूरे जा रहा है- कुछ ऐसे, जैसे मैं इसका सामना करने से कतरा रहा होऊँ। यों अपने कवित्व को लेकर मुझे कभी उलझन नहीं हुई : होश संभाला, तभी से वह मेरे साथ है। वह मेरे लिए मेरे जीवन और मेरी दुनिया को अर्थ देने वाली, बारंबार उनमें प्राण-प्रतिष्ठा का उद्यम करने वाली क्रिया है। हां, यह अर्थ कोई पहले से पा लिया गया अर्थ नहीं है। उस पर बार-बार अनर्थ का घटाटोप घिर आ सकता है। बारंबार मुझे उस अनर्थ से जूझते हुए नए सिरे से अर्थ कमाना होता है। मैंने सुना है, इसी शताब्दी के एक दिग्गज कवि से, कि यह जो कविता की वाग्देवी है, बड़ी ईर्ष्यालु देवी है : उसका पुजारी किसी और विधा में ताक-झांक तक करे, यह उसे बिल्कुल नहीं सुहाता। अगर यह सच है तो मेरा डरना स्वाभाविक है; क्योंकि वैसा एकनिष्ठ कविताव्रती होने का दावा मैं कैसे करूँ? करूँ भी, तो उसे यहां कौन मान लेने वाला है? लगता है मेरी कुशल इसी में है कि कहूँ कविता मैं नहीं करता, हां कविता जरूर मुझे कुछ कर देती है। क्या कर देती है, मैं नहीं जानता और जानना भी नहीं चाहता। क्योंकि यह जानकर भी क्या फायदा, जिसे जानने से खुद कविता डरती है। परंतु क्या इतने से मेरा छुटकारा हो जाएगा? नहीं होगा, यह हम और आप सब जानते हैं। तब फिर मैं कविता में ही उत्तर की जगह एक प्रतिप्रश्न खड़ा कर दे सकता हूँ-

शब्द, बताओ

कहना क्या है

मेरा तुम्हें/तुम्हारा मुझे

उलहना क्या है?

शब्द बताओ

कहना क्यों है?

शब्द, बताओ

सहना क्यों है?
तुमने हमको
हमने तुमको
पहना क्यों है?

या फिर, कुछ अधिक गंभीर मनःस्थिति में हुए तो उक्त प्रतिप्रश्न से भी आगे बढ़कर यह अतिप्रश्न उठा सकते हैं कि...

गांठ के भीतर
वह कौन सी गांठ है
जो कभी नहीं खुलती
बात के भीतर
वह कौन सी बात है
जो कभी नहीं बोलती?

और सचमुच... पिछले चार-पांच दिनों से, जब भी मैंने इस परेशान करने वाले विषय के भीतर पैठने की मुद्रा बनाई है, मेरे साथ यही होता रहा है, परंतु एकदम शुरू से शुरू करूं तो याद आता है कि होश संभालने के बाद जो पहली ही काव्यानुभूति मुझे हुई होगी उसे मैंने बहुत बाद में जाकर अपनी समझ से यथातथ्य पकड़ा इस 'स्मरण' शीर्षक कविता में :

नींद की नदी में उगा झरना एक
धंसता अपने भीतर अपने भीतर...
जहां खिड़की पर
पहली-पहली बर्फ से घिरा बच्चा
और
उससे भी ज्यादा
अवाक्
एक पहाड़!

पर... जो एक लगभग उतने ही पुराने और उतने ही गहरे बसे अनुभव को मैंने उकेरा था, वह भी तो उतनी ही गहरी जड़ पकड़े हुए है मेरे भीतर!

एक गरीब मुहल्ला
सार्वजनिक नल के नीचे
रात भर ठिठुरते
खाली बतरन...

हां, मैंने देखे हैं
जाने कितने सूर्योदय
उनमें
डबडबाते....

इस व्याख्यान के निमित्त से ही कवि विलियम बटलर येट्स की एक दूसरी उक्ति भी अनायास

मेरे मन में कौंधी थी- वह यह, कि.... 'जब हम अपने-आप से झगड़ते हैं, तो काव्य उपजाते हैं और जब दुनिया से झगड़ते हैं तो 'रेह्टरिक' उपजाते हैं।' यानी कवि नहीं, वाग्मी बन जाते हैं। तो क्या इसी को कहते हैं कवि का आत्मसंघर्ष? किंतु यह 'आत्म' क्या होता है? क्या उसमें कहीं यह दुनिया भी शामिल नहीं है? इसी सिलसिले में मुझे अपनी 'हरिश्चंद्र आओ' कविता का ध्यान आता है जो मैंने 'इमरजेंसी' के दौरान लिखी थी और लिखने के तुरंत बाद कवि त्रिलोचनजी को सुनाकर उनकी सराहना पाई थी। कैसी राहत थी वह! जैसे एक बड़ी भारी अव्यक्त घुटन से निजात पा ली हो :

ये तलुवे की ताली, वो हलुवे की थाली
ये मिट्टू बराती, वो पिट्टू संगती
तनिक ना लजाओ, ये परदा हटाओ
हरिश्चंद्र आओ, ये ढोलक बजाओ
जो अब भी न धाओ, जहन्नुम में जाओ।

क्या वह अपने से और दुनिया से भी एकसाथ झगड़ना नहीं था? कवि का 'आत्म' उसका व्यक्तिगत 'मैं' भर नहीं होता, बहुत व्यापक और समावेशी 'मैं' होता है। अज्ञेय की एक काव्यपंक्ति यहां अनायास मन में तैर आई है।

उसी एकांत में घर दो
जहां पर सभी आएंगे
मैं न आऊंगे।

कवि से हमारे समाज की क्या अपेक्षाएं रही हैं और भारतीय कविता ने किस खूबी से सदियों-सहस्राब्दियों से उन्हें गढ़ा और निभाया, इसे ध्यान से देखना-समझना आवश्यक है। तभी कवि और कविता के ही नहीं, साहित्य की हर विधा के सर्जकों और सहृदय सामाजिकों के बीच के रिश्ते की भी सही पहचान संभव है। कवियों और उपन्यासकारों (मिलान कुंदेरा ने तो अपनी किताब का नाम ही 'उपन्यास की बुद्धिमत्ता' रखा है और वह यूं ही नहीं रख दिया है। उसका औचित्य भी बखूबी दर्शाया है), कवि और कथाकारों से भी एक खास तरह की बुद्धिमत्ता की अपेक्षा सभी समाजों में देखी जा सकती है। शायद इसीलिए, कि वह रागोत्तीर्ण बुद्धिमत्ता होती है, मात्र तर्कपटुता नहीं। भारतीय समाज में तो साहित्य की भूमिका विलक्षण रही है। भारतीय मनुष्य की भावदीक्षा का सबसे बड़ा साधन रही है वह। और तो और, धर्म-संस्थापना जैसा कार्य भी उसके जरिए संपन्न होता आया है। भक्ति-काव्य की अभूतपूर्व लोकप्रियता का राज और आखिर क्या है? वैदिक काव्य पर तो इस सभ्यता की नींव ही रखी गई। निराला की काव्य-पंक्ति याद आ रही हैं : 'जिस कलिका में कवि रहा बंद/वह आज उसी में खुली मंद'। शब्द के कलिदल कैसे खुलते हैं? भाषा की यह जो शब्द-संपदा है- मानवीय भावों और अनुभवों क्रियाकलापों का जो समूचा वर्णपट उसमें समाया रहता है, उसकी अनन्य भक्ति के द्वारा ही तो अपनी बात उनसे कहलवा लेने की राह खुलती है और अक्सर वह बात शब्दों के आपसी संवाद के भीतर से भी सुनाई दे जाती है। कहना न होगा कि कविता में शब्द केवल एक निरीह माध्यम भर नहीं होते। न जरा सी बात को फैलाने-फुलाने के उपकरण। सामान्यतः हम भाषा को एक जीवंत सत्ता की तरह महसूस ही नहीं कर पाते। महज एक अभ्यास के तहत उसका इस्तेमाल भर कर लेते हैं। कविता हमें उन्हीं जाने-पहचाने शब्दों की नवजात सक्रियता लौटा लाती है- उनका सर्वथा नया

स्पंदन और अर्थोत्तेजन संभव कराती हुई। कुछ इस तरह, मानो वे शब्द अभी-अभी जनमे हों।

निर्मल वर्मा ने कहीं लिखा है कि 'एक रचनाकार की आलोचना उसकी रचना के केंद्र में वास करती है'। यदि आलोचना भी अपने गुण-धर्म में रचनात्मक हो सकती है तो उसकी रचनाशक्ति का वास कहां है? विडंबना आज रचनाकार की यह है कि एक ओर जहां वह बड़ी उत्कटता से अनुभव करता है कि उसका रचना-कर्म मनुष्य की ऐंद्रिक, भाविक-बौद्धिक -त्रिआयामी सत्ता की समवेत सक्रियता से उपजा होने के कारण केंद्रीय महत्त्व का अधिकारी है, वहीं दूसरी ओर एकांगी बुद्धिवाद से परिचालित आधुनिक जगत में उसे इस केंद्र से विस्थापित कर दिया गया है- कुछ इस तरह, कि वह मानो अब जीवन केंद्र में नहीं, परिधि पर हो। तथापि, द्रष्टव्य है कि प्रसाद, प्रेमचंद, अज्ञेय, साहीजी, निर्मल वर्मा आदि जितने भी अग्रगामी संवेदना के धनी लेखक हिंदी में हुए हैं, सभी सृजन-कर्म के साथ-साथ आलोचनात्मक चिंतन-कर्म में भी अनिवार्यतः संलग्न कर रहे हैं। अपने जमाने की विचार-संपदा के प्रति जागरूक होना तो लेखक के लिए सदैव और सर्वत्र ही एक स्पृहणीय गुण माना जाता रहा है, किंतु वर्तमान युग में साहित्यकार को कुछ अतिरिक्त दायित्व निभाना पड़ रहा है। प्रश्न उठता है कि इस अतिरिक्त दायित्व को ओढ़े बिना साहित्यकार का काम क्यों नहीं चल सकता? क्यों उसकी बुद्धि-ऊर्जा भी उसकी भाव-ऊर्जा की ही तरह उसके कवित्व या कथाकारत्व द्वारा नहीं खपा ली जाती? लगता है, समूचा विश्व एक ऐसी विचार-पद्धति की स्वचालित सी यंत्रचर्या के अधीन हुआ जा रहा है जो 'कैल्कुलेटिव थिंकिंग' से 'मैडिटेटिव थिंकिंग' को निरंतर विस्थापित करती गई है और इसने मनुष्य के भौतिक और मानसिक पर्यावरण का संतुलन ही बिगाड़ दिया है।

अब चूंकि पश्चिम का आधुनिक और आधुनिकेतर साहित्य किसी सीमा तक पश्चिमी विश्व-दृष्टि की उक्त अनिवार्यतः 'कैल्कुलेटिव' और साम्राज्यवादी गतिविधि और परिणति से विद्रोह करता हुआ अपनी केंद्रीय मूल्यवत्ता के लिए संघर्षरत रहा है, अतः हम भारतीय साहित्यकार उस विश्व-दृष्टि की लपेट में आने से, और उसमें खप जाने से इनकार करते हुए अपने रचनात्मक प्रयत्नों में पश्चिमी साहित्य के प्रति स्वभावतः एक सहानुभूति और सह-संवेदना का रिश्ता महसूस करते रहे हैं किंतु हमारी परिस्थिति उनकी परिस्थिति और परिवेश से काफी कुछ अलग है। हमें विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण (कांसेप्चुअल कंट्रोल) को बुद्धि का चरम पुरुषार्थ माननेवाली पश्चिमी विश्व-दृष्टि के मुकाबले अपनी पावनतामूलक दार्शनिक बुद्धि को आधुनिक जीवन-बोध के ठोस धरातल पर खड़ा करना पड़ेगा। यह महज 'परंपरा बनाम आधुनिकता' का प्रश्न नहीं है। हमारे तेजस्वी दार्शनिक कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने सन 1929 में जिस 'वैचारिक स्वराज' की बात उठाई थी, वह नितांत अपने भारतीय जीवनानुभव और दर्शन की भूमि पर उस साम्राज्यवादी विश्व-दृष्टि से गहनतम स्तरों पर जूझने और टक्कर देने की समस्या है, जो फिलहाल दिग्विजयी और विकल्पहीन जान पड़ती है। किंतु क्या सचमुच ऐसा है?

साहित्य समग्र अस्तित्व की, प्राणवत्ता मात्र की चिंता करता है। उसकी भाषा विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण की भाषा नहीं होती। तर्क-बुद्धि वहां श्रद्धा-बुद्धि के साथ सहयोग करके ही चलती है। साहित्य व्यापक जीवन की प्राणवत्ता की रक्षा करने वाले तत्त्वदर्शन का सहज सहयोगी और सहयात्री है। ऐसा जान पड़ता है कि हमें अपने सारे संशयों-अंतर्द्वंदों का निर्भात सामना करते हुए उपर्युक्त परिस्थिति से एक आमूलचूल टकराहट के भीतर से ही उस आस्था का स्वरूप गढ़ना होगा जो सचमुच जोखम से निखरी हुई आस्था होगी। हमारे विचारकों को भी साहित्यकार के

अंतःसाक्ष्य को गंभीरतापूर्वक ग्रहण करना होगा। उन्हें अपने आलोचकों को- मसलन, हेगल को ही- मुंहतोड़ जवाब देने की चुनौती स्वीकार करनी ही होगी। तभी हमारे बौद्धिक उपक्रमों में भी वह आत्मविश्वास प्रकट होगा जिसका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव हम रचनाकर्मियों को भी उद्वेलित करेगा। आज की परिस्थिति तो, बल्कि, साहित्य की तुलना में स्वयं दर्शन के लिए भी कुंठाकारी सिद्ध हो रही है। साहित्य तो अपना काम अपने स्तर पर कर ही रहा है और स्वयं दार्शनिकों के लिए उसका अंतःसाक्ष्य एक ऐसे अर्थ में मूल्यवान हो उठा है जैसा वह शायद पहले कभी नहीं रहा होगा। समस्या लेकिन हमारे एक सर्वाधिक विश्व-चेतसू साहित्यकार की ही दृष्टि में यह है कि 'मानव स्वयं दर्शन को उसकी दुरवस्था से किस तरह उबार सकता है कि दर्शन स्वयं मानव को उबार सके' (अज्ञेय : *भवन्ती*)। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे समय के एक कृती कवि-कथाकार और तेजस्वी चिंतक साहित्यकार की इस प्रतीति के पीछे न केवल मानव-पुरुषार्थों के बीच दर्शन की स्थिति का सम्यक् बोध और स्वीकार निहित है, बल्कि उसकी वर्तमान अधोगति की ऐसी यथातथ्य अचूक पकड़ भी, जो स्वयं उस पुरुषार्थ को ही सबसे गहरी और मूलगामी चुनौती प्रस्तुत कर रही है। हम चाहें तो यहां यह भी याद कर सकते हैं कि स्वतंत्रता की दहलीज पर ही एक 'आलोचक राष्ट्र' बनने और बनाने का सपना भी किसी तथाकथित आलोचक ने नहीं, बल्कि खुद इसी हिंदी कवि-चिंतक के कालज्ञ विवेक ने ही देखा था।

मेरे समानशील मित्रो! यदि रचना के माध्यम से एक लेखक की समूची लोक-यात्रा अपने-आप में पर्याप्त सार्थक नहीं होती तो उससे पृथक कुछ भी कहने का कोई मतलब नहीं बनता। फ्लाबेर की *मादाम बावेरी* एक ऐसी औपन्यासिक कृति है जो हमें मनुष्य नामधारी जीव की असाध्य मूर्खता और आत्म-प्रवंचना का ऐसा मर्मांतक साक्षात्कार करा देती है जो कि साहित्यकार ही करा सकता था, कोई और नहीं। किसी आविष्कार से कम नहीं है वह। हम सभी के भीतर वह 'बोवेरियन ऐंगल'-न्यूनाधिक काम कर रहा होता है। रचनाधर्मी कल्पना एक ऐसी शक्ति है जो हमें यथार्थ का सामना करने की ही नहीं, उसका कायाकल्प करने की भी प्रेरणा देती है किंतु वास्तविक जीवन में यह कल्पनाजीविता अधिकतर झूठी, पलायनपरक और आत्म-भ्रमक मानसिकता का पर्याय बन जाती है। रचना की सगी सच्ची आलोचना उस रचनाधर्मी कल्पना-शक्ति का ही साथ देती है। हर तरह के सरलीकरण और अतिचार के विरुद्ध, हर तरह के वैचारिक प्रदूषण का प्रतिकार करने को तत्पर वह समकालीन और शाश्वत सार्वभौम बुद्धि-वैभव से भी रचना के स्रोतों को जोड़े रखती है। एक निरंतर सिकुड़ते जाते विश्व में मानव-संभावनाओं के अधिकाधिक निभ्रांत अन्वेषण और पुनरान्वेषण की टेक साहित्य मात्र का स्वधर्म है जो रचना को भी उतना ही व्यापता है जितना उसकी सहवर्ती-सहयोगिनी आलोचना को भी। आलोचना अगर निर्मल वर्मा के कथनानुसार रचना के केंद्र में वास करती है, तो सच्ची आलोचना के केंद्र में भी मनुष्य की यह आत्म-सर्जनात्मक सामर्थ्य ही सक्रिय होनी चाहिए।

(साहित्य अकादेमी, गुवाहटी में आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत व्याख्यान)



महाभारत एक पुनर्यात्रा

राधावल्लभ त्रिपाठी

कालजयी रचनाएं हमारे पास लौट कर आती हैं। हमारे स्मृतिप्रमोष को पोंछती हुईं। वे हमारे दुःख को सहलाती हैं, उस दुःख के भीतर हमें नया सहारा देती हैं।

महाभारत इसी तरह बार-बार लौट कर आता रहा है। समूचे भारतीय साहित्य में, कलाओं में, रंगमंच की दुनिया में महाभारत फिर फिर कहा, सुना गाया जाता रहा है।

व्यास जिन्होंने महाभारत लिखा, जानते थे कि यह आख्यान बार-बार इसी तरह भारतीय मानस को उद्बोधित करता रहेगा। उन्होंने तो स्वयं कह ही दिया -

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षते परे।

आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि॥

(कहते रहे हैं पहले के कवि इसको

कुछ और कवि अब कह रहे हैं

कुछ दूसरे आगे कहेंगे

इस धरती पर महाभारत के इस इतिहास को।)

पिछले कुछ दशकों में महाभारत वैश्विक स्तर पर अनेकानेक चर्चाओं, बहसों और गोष्ठियों के केंद्र में रहा है। महाभारत पर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठियां इस अवधि में बार-बार आयोजित हुई हैं। इन संगोष्ठियों व चर्चाओं की एक विशेषता यह रही कि इनमें संस्कृत के पंडित या विश्वविद्यालय के आचार्यों की अपेक्षा अन्य विषयों के विशेषज्ञों की भागीदारी अधिक रही। साहित्य अकादेमी ने नई दिल्ली में महाभारत पाठ, संदर्भ और वाचन (The Mahâbhârata- Texts, Contexts and Readings) शीर्षक से सेमिनार 27 से 29 मार्च 2004 की तिथियों में किया। इस संगोष्ठी में पढ़े गए पर्चे पुस्तकाकार प्रकाशित किए जा चुके हैं।¹ राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन द्वारा 2007 में मार्च 5 से 7 तक आयोजित संगोष्ठी की कार्यवाही भी Text and Variations of the Mahâbhârata : Contextual, Regional and Performative Traditions शीर्षक से पुस्तकाकार छप चुकी है।² भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला ने महाभारत पर तीन बड़े आयोजन किए। इनमें से एक की प्रस्तुतियां सुसंपादित हो कर पुस्तकाकार सामने आ चुकी हैं।³ दिल्ली के विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) में महाभारत अध्ययन वृत्त कुछ वर्ष पहले चलता रहा।

हाल के कुछ प्रकाशनों से भी बुद्धिजीवियों और भारतीय विद्या के अध्येताओं के बीच महाभारत को लेकर बढ़ती रुचि जाहिर होती है। महाभारत के प्रामाणिक संस्करण के निर्माण की योजना बीसवीं

सदी में संस्कृत साहित्य की सबसे बड़ी शोध योजनाओं में एक रही है। रामकरण शर्मा का ग्रंथ *The Elements of Poetry in the Mahābhārata*,⁴ J.A.B. Buitenen के द्वारा किया गया *महाभारत* का अंग्रेजी अनुवाद⁵ आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दियों में सामने आए। *महाभारत* को लेकर अध्ययनों और अनुसंधानों का सिलसिला जारी रहा, और अनेक प्रकाशन का भी।⁶ रचनात्मक साहित्य में रवींद्रनाथ का *कर्णकुंती संवाद*, सुब्रह्मण्य भारती का *पांचालीशपथम्* धर्मवीर भारती का *अंधायुग* और हाल में ही उड़िया कवि हरनाम दास की लंबी कविता 'द्रौपदी', राजेश जोशी का नाटक, विजयबहादुर सिंह की भीमबैठका पर लंबी कविता आदि के सैंकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं।

समीक्षा के क्षेत्र में *महाभारत* ने कुछ सुधी समीक्षकों को अपनी बात कहने के लिए उकसाया। मैं दो लोगों के नाम लेना चाहता हूँ - दार्शनिकों में जड़ावलाल मेहता व सहृदय पंडितों में विद्यानिवास मिश्र।

अठारह पर्वों में विभाजित, अठारह गीताओं वाले, जिनमें से *श्रीमद्भगवद्गीता* में अठारह अध्याय हैं, अठारह दिनों तक अठारह अक्षौहिणी सेनाओं में चले महायुद्ध की कथा के साथ सैंकड़ों आख्यानों, उपाख्यानों में गुंथे इस विराट् महाकाव्य के संबंध में जो चर्चा हम कर रहे हैं, वह महासागर के तट पर खड़े होकर उसे दूर से ताकने की तरह होगी। मैं अपनी बात तीन पर्वों या चरणों में कहूँगा। या तीन पड़ावों से चलकर एक पुनर्यात्रा हम करेंगे, वे समय में पीछे की ओर ले जाएंगे वर्तमान से अतीत की ओर।

पहला पर्व

महाभारत हमारे समय में हमारे साथ बना रहा है। हमारे संघर्षों, स्वप्नों और आस्थाओं को वह पोसता रहा है। इसका एक उदाहरण हमारे निकट के इतिहास से ले सकते हैं- आजादी की लड़ाई में *महाभारत*। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में *महाभारत* के रूपक का एक हथियार की तरह उपयोग किया गया। यह बड़ी लंबी कथा है- *महाभारत* जितनी ही बड़ी। बहुत संक्षेप में कुछ देकर इसकी चर्चा करूँगा।

पहली पारसी थिएटर कंपनी दादा भाई नौरोजी जैसे तपःपूत राष्ट्रनेता ने 1852 में स्थापित की थी। सांगलीकर नाटकमंडली की स्थापना 1867 में हुई। *गोपीचंद*, *जालंधर* और *अलाउद्दीन* जैसे नाटकों के आलावा *महाभारत* की कथा पर आधारित दो नाटक किए- *कीचकवध* तथा *द्रौपदी वस्त्रहरण*। खाडिलकर का *कीचकवध* 1907 में मंच पर आया। कीचक के पात्र को निरंकुश विदेशी सत्ता और द्रौपदी को भारतीय जनता और भीम को स्वतंत्रता सेनानी के प्रतीक के रूप में बहुत धारदार रूप से इसमें प्रस्तुत किया गया था। इस नाटक पर अंग्रेजी सरकार ने तत्काल पाबंदी लगा दी। पर नाटक जनांदोलन का एक बहुत बड़ा हथियार बनता जा रहा था और आगे चलकर हिंदी क्षेत्र में पारसी रंगमंच पर मुंशी नारायण प्रसाद बेताब (1872-1945), आगा हश्म काश्मीरी (1879-1935) तथा राधेश्याम कथावाचक (1890-1963) की बृहत्त्रयी ने तो युगांतर ही कर दिया। इनमें माधव शुक्ल का नाम और जोड़ दें, तो उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदी रंगमंच के चार महास्तंभ बनते हैं। नारायण प्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक और माधव शुक्ल इन्होंने आजादी की लड़ाई के दौर में नए सिरे से *महाभारत* लिखा। ये हमारे समय के व्यास हैं। इनमें से एक की *महाभारत* की प्रस्तुति का शताब्दी

वर्ष अभी-अभी निकल गया, एक का यह साल शताब्दी वर्ष है और तीसरे का अगला साल।

बेताब ने हिंदी में छब्बीस नाटक लिखे, पर उनकी कीर्ति का अक्षयस्तंभ उनका *महाभारत* नाटक है। कथावाचक ने भी अठारह से ज्यादा नाटक लिखे। इनमें *महाभारत* से प्रेरित नाटकों की अच्छी संख्या है।⁷ *द्रौपदी स्वयंवर शांति के दूत भगवान् श्रीकृष्ण* पर उनके अभिमन्यु वध ने जो अभूतपूर्व इतिहास रचा, वह बेमिसाल बना हुआ है। नारायण प्रसाद बेताब और कथावाचक के नाटक कांग्रेस के अधिवेशनों में खेले जाते थे।

जब युधिष्ठिर अपनी सारी संपदा, अपने चारों भाइयों और उसके बाद अपने आप को भी जुए में हार गए, फिर उन्होंने द्रौपदी को भी दांव पर लगा डाला, तो व्यास कहते हैं कि सभा में हाहाकार की आकूल ध्वनि उठी। फिर द्रौपदी को बुलाया गया। द्रौपदी ने दूत से कहा कि पहले उस जुआरी से पूछ कर आओ कि उसने पहले मुझे दांव पर लगाया था या अपने आप को। दूत लौट आया। फिर दुःशासन को भेजा गया- द्रौपदी को घसीटकर लाने के लिए। द्रौपदी ने भीष्म आदि गुरुजनों से एक प्रश्न पूछा कि वे निर्णय दें- उसे दांव पर लगाया जाना धर्मसम्मत था या नहीं। द्रौपदी ने जो बहस उठाई, उसे मैं अब तक इतिहास में हुई बहसों में सबसे बड़ी बहस मानता हूँ। दो ही लोग हैं कर्ण और विदुर *महाभारत* की कथा में- द्यूतपर्व में- जो द्रौपदी के द्वारा उठाई बहस में उसके पक्ष में बोलते हैं। बेताब व्यास के *महाभारत* से विकर्ण और विदुर से बहुत धारदार-छील देने वाले कथनों को अपने समय में ढालकर उनका पुनःपाठ करते हैं।

बेताब और कथावाचक दोनों *महाभारत* जैसे कथानकों को अपने समय के संघर्ष जैसे जोड़ने के लिए द्वयर्थक संवादों का बहुत धारदार ढंग से सधा हुआ उपयोग करते थे। पुलिस के जासूस घात लगाए हजारों दर्शकों की भीड़ में मौजूद रहते, दर्शक उनके संवाद के समकालीन अर्थ समझ कर तालियां बजाते, उत्तेजित और रोमांचित होते, विरोध और विद्रोह में तमतमा उठते, पर पुलिस राजद्रोह का मामला न बना पाती, और अंग्रेजी हुकूमत *महाभारत* या *रामायण* पर आधारित नाटकों पर पाबंदी भी आनन-फानन में नहीं लगा सकती थी।

बेताब अपने *महाभारत* नाटक में द्रौपदी चीरहरण का दृश्य दिखा रहे हैं, दुःशासन के दोहरे अर्थ पर पूरा वजन देकर। यह सारा दृश्य अंग्रेजों द्वारा लूट खसोट के एक समानांतर अदृश्य-दृश्य में रूपांतरित होता जाता।

बेताब का *महाभारत* आशंकाओं को बीच आरंभ हुआ था- यह कह दिया गया था कि इससे अमंगल हो सकता है। थिएटर कंपनी के मालिक सेठजी रसिक थे, कलाप्रेमी थे, पर व्यवसाय की भी चिंता थी। बेताब ने इसका समाधान निकाला कि हवन करवा लें सारा अमंगल दूर हो जाएगा। बेताब लिखते हैं 'दिल्ली के संगम थिएटर में 29 जनवरी 1913 के दिन पहला शो हुआ। तीन दिन में नाटक की धूम मच गई। तीसरे दिन दिल्ली के नामी गिरामी रईस, प्रभावशाली लोग रंगमंच पर सम्मान के लिए आ गए। सेठजी दुर्योधन बने हुए थे। वह तो स्टेज पर ही थे। मुझे भी बुलाया गया। नाटक का कृत्रिम सीन तो थोड़ी देर के लिए बंद हुआ, और अकृत्रिम दृश्य दिखाई देने लगा। हिंदू कम्युनिटी के अग्रगण्य महानुभावों ने अपनी छोटी-छोटी वक्तृता में इसी नवीन नाटक को केवल नवीन ही नहीं, बल्कि "नवयुग प्रवर्तक, क्रांतिकारक, हिंदू इतिहास का पथप्रदर्शक, पवित्रतापूर्वक मनोरंजन" इत्यादि अनेक उपाधियां अपनी भाषा में देकर एक स्वर्णपदक सेठजी को अर्पित किया और एक मुझे

देकर फूलों से भरा उपकार का बार मेरी गर्दन में डाल दिया।⁸

द्रौपदी के चीरहरण के दृश्य में अंग्रेजों का भारतीयता के अपमान का रूपक खड़ा किया गया था। बेताब के महाभारत का विकर्ण दुर्योधन से कहता है -

बड़ा मैदान मारा गोट चौसर पर अगर मारी
इस पर खत्म कर दी आपने मर्दानगी सारी
बहादुर वीर कहलाते हो उस पर यह रियाकारी
चलाते हो कपट के बाण, बनते हो धनुषधारी।

पर कई स्थलों पर बेताब द्वयर्थक संवादों की घुमावदार बारीकी छोड़कर सीधे-सीधे देश को अत्याचारी हुकूमत को संबोधित करते हैं। महाभारत जनजागरण का एक माध्यम बन जाता है।

गाफिल पड़े सोते हैं जो, बैठे हुए जो मौन हैं
समझें तो दिल में जान लें भारतनिवासी कौन हैं
जो वीर थे कायर बने, ज्ञानी बने अज्ञान हैं
ये तो भूले हुए कि किस बाप की संतान हैं
जो कह दिया कह के रहे थे बात के कैसे धनी
छोड़ा नहीं निज धर्म को, प्राणों पे चाहे आ बनी।

पंडित मदनमोहन मालवीय ने बेताब का महाभारत देखा, देखकर चकित रह गए। विकर्ण के इस गान में उन्हें देशभक्ति का आह्वान सुनाई पड़ा। मालवीयजी ने 1916 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना के अवसर पर बेताब के महाभारत की प्रस्तुति कराई। कुल आमदनी 254 रुपए 75 पैसे की हुई, जिसे पारसी मंडली के सेठजी ने मालवीयजी के चरणों में विश्वविद्यालय के हितार्थ अर्पित किया। काशी नरेश द्वारा इस प्रस्तुति को देखने के लिए 48600 रुपए का चंदा भी जमा हुआ।

अंग्रेजों की दोहरी नीति छल कपट और राजनीतिक जुए के खेल को यहां जिस तरह चुनौती दी गई थी, वह सीधे-सीधे संघर्ष का आह्वान था।

महाभारत की अपनी प्रस्तुति के बारे में बेताब कहते हैं - 'इसके प्रकाश से सब्जपरी तो अंधकार की तरह उड़ गई, गुल्फाम चोर की तरह किसी अंधे कुए में जा छिपे, बकावली की बिल्ली का सर चिरागदां न रहा, उर्दू के अच्छे-अच्छे खेलों ने भी अपने बिस्तर बांधने शुरू कर दिए, गानों में से "सरवर-बरतर-अख्तर-अनवर" और "घड़ी-घड़ी, पल-पल छिन-छिन" को देश निकाला दे दिया गया और बेताब के गाने प्लेटफार्मों पर बजने लगे। 'गानों में युगांतर लाने का सेहरा उस्ताद झंडे खां साहब' के सर पर बंधा और बंधा रहेगा। उनका महाभारत का गाना था-

शाह की औलाद है या लाल है कंगाल का
है ऋषीसंतान बेटा किसी चंडाल का
जात का या कौम का, पुरसां यहां कोई नहीं,
पूछ है कर्मों की सारा मान है आमाल का
सब है बालक एक पिता के उजले हैं या मैले
नजर पड़ा जो लायक बेटा पुचकारा उर ला के।। पृ. 76

झंडे खां साहब जब *महाभारत* नाटक के लिए इस तरह के गाने लिख रहे थे, तो वे मूल *महाभारत* की आत्मा का स्पर्श कर रहे थे। *महाभारत* जाति और वर्ण के दायरों को तोड़ने वाला सबसे बड़ा ग्रंथ है। व्यास बहुत स्पष्ट स्वर में घोषणा करते हैं कि जाति है कहां, जाति की शुद्धता की सारी बात ही बेमानी है, इतना सम्मिश्रण इस देश में वर्णों का हुआ है कि वर्णाश्रम व्यवस्था की सीमाएं टूट चुकीं।

बेताब बताते हैं कि *महाभारत* के सर्वातिशायी प्रभाव से आगा हथ तक अछूते न रहे। उनकी कलम में हिंदी दम खम उतरा। 'उन्होंने उर्दू का पुरजोर कलम कलमदान में रखकर हिंदी की यशस्विनी लेखनी संभाली। जिन सुशील सज्जनों ने अश्लील नाटकों से घृणा करके नाटक न देखने की प्रतिज्ञा कर रखी थी, उनकी प्रतिज्ञा टूट गई, जो लोग अपने कुटुंब की स्त्रियों को नाटक दिखाना पाप समझते थे, वे बेधड़क ला लाकर दिखाने लगे, *महाभारत* का इस तरह सम्मान हुआ कि सेठजी को केवल स्त्रियों के लिए अलग से कई शो करने पड़े, जिनमें पुरुषों का प्रवेश वर्जित था, बेताब सबसे ज्यादा गर्व से इस बात की चर्चा करते हैं कि बाबू श्यामसुंदर दास ने अपनी *साहित्यालोचन* नामक किताब में पृ. 227 पर *महाभारत* नाटक की प्रशंसा करते हुए उसे कुरुचिपूर्ण नाटकों से ध्यान हटाकर सुरुचिपूर्ण नाटकों की ओर ध्यान केंद्रित कराने वाला नाटक बताया।'

बेताब ने अपने आत्मचरित में लिखा है कि *महाभारत* को जितनी ही अपार सफलता मिली, उतनी ही उस पर आपत्तियां भी उठीं। आरंभ में जिस तरह बवाल मचाया जा रहा था, बेताब को लगा कि कम से कम पांच सौ आपत्तियां *महाभारत* के शो पर की गई होंगी। 'पर इकट्ठा करने पर कुल 245 की संख्या हुई। मैंने उन सब का सिलसिलेवार जवाब लिखकर बेताब प्रिंटिंग वर्क्स से मुद्रित करा दिया, जिसे शोक हो वही देख ले।' पर बेताब *महाभारत* के प्रदर्शनों पर प्रसन्न हैं। यह *महाभारत* है जिसने उन्हें निहाल कर दिया, *महाभारत* ने उन्हें जो दिया, वह अनमोल था। 'इतने पर भी समालोचकों ने स्वीकार किया कि *महाभारत* ने स्टेज का तख्ता पलट दिया है, इसने नाटक की दुनिया में क्रांति कर दी है, हिंदी के प्रचार में खासी मदद की है।' बेताब का *महाभारत* हिंदी की जातीय अस्मिता और भारतीय स्वतंत्रता के संघर्ष की नई इबारत लिख रहा था। इस बात को बेताब समझ रहे थे, फिर भी इस नाटक की छीछालेदर से खिन्न हो कर उन्होंने बड़े वेदना के भाव से यह भी लिखा-

मैंने हिंदी तेरे साहित्य को बदनाम किया,

फिर भी ये सोच के खुश हूं कि कोई काम किया।'

यह उत्तर की कथा थी। दक्षिण में सुब्रह्मण्यम भारती ने *पांचालीशपथम्* की रचना की जिसमें वे द्रौपदी को लेकर हमारे समय का एक स्त्री विमर्श प्रस्तुत करते हैं।

राधेश्याम कथावाचक (25.11.1890) का *वीर अभिमन्यु* न्यू अल्फ्रेड थिएटर द्वारा 1914 में खेला गया। उस समय तक कथावाचक बाकायदा कांग्रेस के सदस्य बन चुके थे। मदन मोहन मालवीय तथा महात्मा गांधी से उनका बराबर संपर्क था। मदन मोहन मालवीयजी की यात्राओं में गाए जाने के लिए उन्होंने 'हिलमिल करो जाति उद्धार, भाइयों समय न बारंबार' -जैसे कई गीत लिखे थे। इस प्रकार के आठ दस गीत महामनाजी की यात्रा के दौरान लिखे और गाए गए, उन्हीं से राधेश्याम कथावाचक ने कुछ हजार रुपया उगाह कर महामनाजी को सौंपा।

वीर अभिमन्यु की भूरि-भूरि प्रशंसा महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने *सरस्वती* में विस्तृत समीक्षा लिख कर की थी। मालवीयजी ने तो इस नाटक को काशी हिंदू विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में लगवाया।

1922 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के स्थापना दिवस पर वीर अभिमन्यु नाटक का अभिनय करवाया। कथावाचक की सुझबूझ थी कि पारसी मंडली के कलाकारों ने इस प्रस्तुति में नया प्रयोग किया सारे पात्रों ने खादी के वस्त्र पहने। दैनिक आज के 2.2.1922 तथा भारतजीवन (6.2.1922) और हिंदकेसरी (8.2.1922) जैसे अखबारों ने इस प्रस्तुति की विशद समीक्षाएं कीं।

कथावाचक ने इस नाटक की प्रस्तावना में ही अपनी दृष्टि स्पष्ट कर दी थी। प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है- 'आज भरत संतान को भारतवीरों का गौरव दिखाने के लिए बरेली निवासी पं. राधेश्याम कविरत्न की लेखनी से निकला हुआ नाटक रचाया जाए।' इसके बाद यह गीत गाया जाता है-

उबल-उबल कर रो पड़े
अपना रसिक समाज
अभिमन्यु नाटक करो
भारत के हित आज।

प्रस्तावना समाप्त होते ही नारद का प्रवेश होता है, नारद सारे भारतदेश की वर्तमान दुर्दशा का वर्णन करते हैं। अभिमन्यु को एक क्रांतिवीर के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उसकी शहादत को देश के लिए मर मिटने के भाव से जोड़ दिया गया है। वास्तव में कथावाचक ने अभिमन्यु के अनेक संवादों में वे सारे मुहावरे और भाषा का संयोजन कर दिया है, जो उस समय के क्रांतिकारी बोल रहे थे। उदाहरण के लिए-

जकड़ा खड़ा हूँ इस समय
परतंत्रता की डोर में
मेरे लिए मेरी प्रतीक्षा
आज कारागार है।

अभिमन्यु का युद्ध के लिए प्रयाण स्वतंत्रता की समरवेदी पर बलिदान के लिए गमन है। इस प्रस्थान के समय मार्चिंग ट्यून के साथ उस समय के स्वतंत्रता संग्राम सैनिकों में लोकप्रिय गीत गाए जाते।

भारतवीरों की याद में -
प्राणवीर जाओ जाओ
यही आर्य संतान का
है आमोद-प्रमोद
सच्चे सुख की जगह है
माता ही की गोद।

माता यहां भारतमाता है।

कई स्थलों पर कथावाचक ने श्लेष का भी त्याग कर सीधे-सीधे देश के वर्तमान का मार्मिक चित्र खींचा। जब महामना मदनमोहन मालवीय नाटक देखने आए तो वे अभिमन्यु नाटक के इस गीत को सुनते-सुनते भावविह्वल होकर रोने लग गए थे -

भारतवीरों की याद में
यह गाना भी रोना है

पानी नहीं है पात्र में
 आंसुओं से मुंह धोना है
 हुए धर्मवान, धनवान
 इसी भारत में
 थी बलवानों की खान
 इसी भारत में
 था सबसे ऊंचा ज्ञान
 इसी भारत में
 अब उन्हीं की संतान
 हुई अज्ञान
 मिटा सब मान
 गई सब शान
 हाय आलस्य और उन्माद में
 सब खोया और खोना है
 यह गाना भी रोना है।

इस गीत को सुन कर मालवीयजी ने कथावाचक जी को गले से लगा लिया था और कहा था कि रंगमंच पर यह अनोखा और नया प्रयास है।

अभिमन्यु के अनेक संवाद उस समय के क्रांतिवीरों के शंखनाद की अनुगूँज बन गए। अभिमन्यु का युद्ध का आह्वान देश के सपूतों के प्रति आजादी की लड़ाई में कूदने का आह्वान बन जाता था।

राजसिंहों, चलो आगे बढ़ो,
 बढ़ना है तुम्हें।
 रण में विजय पाओ
 हरषाओ हुलसाओ
 शंका न कुछ लाओ
 डंका बजा आओ।

वीर अभिमन्यु नाटक की अभूतपूर्व लोकप्रियता का रहस्य था उसका देश के क्रांति भाव से सीधे-सीधे जुड़ जाना। कई वर्षों तक कई-कई हजार की भीड़ के आगे यह नाटक खेला जाता रहा। इसकी छपी हुई किताब ने बिक्री के सारे रिकार्ड तोड़ दिए। बालीबुड सिनेमा के आ जाने के बाद तक अभिमन्यु के लिए लोगों में आकर्षण बना रहा। राधेश्याम कथावाचक अपनी जीवनी में लिखते हैं- 'पहली बार वीर अभिमन्यु 2000 छपा, लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबाद में, उसके बाद 5000, फिर 8000 छपा नवल किशोर प्रेस लखनऊ में। फिर तो वह छपता और बिकता ही रहा। अब तक 1 लाख के करीब इसका प्रकाशन हुआ होगा। नाटकों का जमाना नहीं रहा, फिर भी यह छप रहा है और बिक रहा है।'

अभिमन्यु को वास्तव में यहां स्वतंत्रता संग्राम सेनानी बना दिया गया था। अभिमन्यु के संवादों

पर दर्शक देशभक्ति के भावों से सराबोर हो जाते थे। माता की गोद का अर्थ अभिमन्यु की माता की गोद भी बन जाता और भारतमाता की गोद भी।

यही समय था जब माधव शुक्ल ने प्रयाग में हिंदी नाट्य समिति कायम की। 1915 में माधव शुक्ल का *महाभारत पूर्वार्ध* इस नाट्य समिति के द्वारा प्रस्तुत किया गया। माधव शुक्ल की वाणी में देश के लिए तड़प और आग थी। उनकी ये पंक्तियां निश्चय ही दर्शन समाज को झकझोरने वाली थी-

मेरी जां न रहे, मेरा सर न रहे, सामां न रहे, न ये साज रहे ।

फकत हिंद मेरा आजाद रहे, माता के सर पर ताज रहे...

माधौ की है चाह खुदा की कसम, मेरे बाद वफात ये बाज रहे।

गाढ़े का कफन हो मुझ पै पड़ा, वन्दे मातरम् अल्फाज रहे...

माधव शुक्ल का *महाभारत पूर्वार्ध* राष्ट्र के नवजागरण का शंखनाद था। इसमें नांदी या मंगलाचरण एकदम अलग ढंग से किया जाता था। उसमें 'जय जय जय श्री तिलकदेव भारत हितकारी' का गान होता। ब्रिटिश शासन द्वारा पाबंदी लगा दिए जाने के बाद यह नाटक *कौरव कलंक* के नाम से 1918 में कलकत्ता में खेला गया। माखनलाल चतुर्वेदी का *कृष्णार्जुन युद्ध* कांग्रेस के अधिवेशन में अनेक देशभक्त नेताओं की उपस्थिति में खेला गया। यह जबलपुर में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में 1919 में प्रस्तुत हुआ। दर्शकों में कांग्रेस के अनेक नेता व राष्ट्रप्रेमी जनसमुदाय था। इस नाटक में राम कुमार वर्मा ने कृष्ण का अभिनय किया था। दर्शकों में जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, लोचनप्रसाद पांडेय, लक्ष्मीधर वाजपेयी, पुरुषोत्तम दास टंडन आदि ने इस नाटक की बहुत सराहना की थी। *महाभारत* से जुड़ी कथा को महाकवि माखनलाल ने इस नाटक में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समकालीन परिवेश से जोड़कर राष्ट्रीय भावना से संपृक्त कर दिया है।

मुंशी नारायण प्रसाद बेताब, आगा हश्म काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, माधव शुक्ल और माखनलाल चतुर्वेदी जैसे रचनाकारों ने *महाभारत* का एक एक टुकड़ा ही उठाया था, पर उन्होंने उसकी आत्मा को नहीं तोड़ा। धर्मवीर भारती ने *अंधा युग* में *महाभारत* को नए सिरे पहचानने की कोशिश की।

दूसरा पर्व

महाभारत क्या है - यह अपने आप में एक कठिन सवाल है। कई अध्येताओं को *महाभारत* एक भयावह बीहड़ लगता है, जिसका कोई ओर है न छोर, न जिसमें कोई प्रशस्त पुण्य पंथ है, न कोई अन्विति है, सब कुछ गड्ढमड्ढ है। इनकी सुनें, तो *महाभारत* एक पहेली लगने लगता है, विंटरनिट्स ने तो इसे साहित्यिक राक्षस तक कह दिया। दूसरी ओर भारतीय दृष्टि है, जो इसे पंचम वेद मानती है, इसे उपजीव्य काव्य या देश की समस्त साहित्य परंपरा का मूलाधार मानती है, इसे इतिहास और आख्यान कहती है। हमारी आचार्य परंपरा और सहृदयसमाज ने जिस *महाभारत* को शांत रस का सबसे विराट् काव्य माना, अनेक पश्चिमी और आधुनिक भारतीय समीक्षकों ने उसे बर्बर नरसंहार का काव्य कहा, शांत रस की कविता के स्थान पर उसे दुरंत की कविता माना।¹⁰ जो *महाभारत* मनुष्य के भीतर की नृशंसता और बर्बर नरसंहार पर एक जबरदस्त टिप्पणी है, उसी को पश्चिमी नजरिए से

देखने वाले समीक्षकों ने, यूरोप के प्राच्यविद्या विशारदों ने, Epic of Genocide कहा। हमारी सबसे बड़ी कविता को कविता का मखौल समझकर वे लोग पढ़ते रहे। बुद्धदेव बसु तो मौसलपर्व में समाप्त होने वाले *महाभारत* के आख्यान को 'बिसुद्ध' उन्मत्तता और दुरंत बुद्धिलोप मानते हैं।¹¹

दूसरी ओर आचार्य आनंदवर्धन का मत है। *महाभारत* को सामने रख कर आनंदवर्धन ने सारे प्रचलित सौंदर्यशास्त्रीय और रसबोध के मानदंड को आमूलचूल बदल डाला। आनंदवर्धन कहते हैं कि *महाभारत* का अवसान उस मुकाम पर होता है जहां सारे रस चुक गए हैं- यह विरसावसान है। इसकी समाप्ति विमनस्कता में होती है।¹² इस विरसावसान और विमनस्कता के भाव से ही एक अलग रस फूटता है, जो शांत रस है। इस रस की परिणति को तार्किक रूप में स्थापित करते हुए आनंदवर्धन कहते हैं कि विरसावसान और विमनस्कता का अनुभव वैराग्य में परिणत होता है। आनंदवर्धन ने व्यास को लोक में मति का प्रसार करने वाला और विमल ज्ञान देने वाला ऋषि माना है। व्यास का ही यह कथन वे उद्धृत करते हैं- जैसे लोक का सारा तंत्र विपर्यस्त होता जाता है, मन में वैराग्य उत्पन्न होता जाता है। आनंदवर्धन की इस व्याख्या में न तो *महाभारत* भीष्म का काव्य है, न युधिष्ठिर का, न अर्जुन का; न पांडवों की विजय गाथा ही वह है। वह विरसावसान की अद्भुत कविता है, जिसमें सारे रसों के परे रसरज श्रीकृष्ण हैं। आनंदवर्धन की व्याख्या में भगवान् वासुदेव एक सनातन तत्त्व हैं।¹³ इस व्याख्या की पुष्टि के लिए वे फिर *महाभारत* का वचन उद्धृत करते हैं- भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः। आधुनिक विचारकों में जड़ावलाल मेहता की *महाभारत* मीमांसा आनंदवर्धन की व्याख्या को आगे ले जाने वाली है। उनके अनुसार *महाभारत* में नारायण तत्त्व भी है और नर तत्त्व भी। नारायण के रूप में यहां सनातन तत्त्व है, नर के रूप में एक विकासमान तत्त्व।¹⁴

तीसरा पर्व

महाभारत के बारे में इतने वादी और विवादी सुर अलापे जाते हैं, उनके बीच *महाभारत* की सही पहचान कैसे करें? मेरी राय में *महाभारत* में व्यास जो बोलते हैं उसी से *महाभारत* को समझा और परखा जाए, दूसरे लोग उसके बारे में जो बोलें, बोलते रहें। जो *महाभारत* में व्यास ने कभी नहीं चाहा और कहा, उसे हम उनका चाहा हुआ और कहा हुआ मान लेते हैं। व्यास ने तो यह नहीं कहा कि भीष्म पितामह का अनुकरण हम लोग करें, उन्होंने तो भीष्म को अपने *महाभारत* का किसी भी तरह नायक नहीं माना। भीष्म संसार के सबसे बड़े ज्ञानी भी हैं और संसार में सबसे महान पराक्रमी भी। व्यास यही बताते हैं कि संसार का सबसे बड़ा ज्ञानी और सबसे बड़ा पराक्रमी भी कितनी बड़ी भूलें कर सकता है। अपने पिता का विवाह खुद अपने से कम उम्र की लड़की से करवाने पर भीष्म तुल जाते हैं, तो स्वयं आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर डालते हैं, वे उस लड़की से कहते हैं कि मां आइए इस रथ पर बैठिए और मेरे पिता की सहधर्मिणी बनने के लिए घर चलिए। विचित्रवीर्य और चित्रांगद के विवाह के लिए वे कन्याओं का अपहरण करते हैं। अंबालिका जब पूछती है कि मुझे मेरे प्रेमी ने भी ठुकरा दिया और आप भी मुझे रखने को तैयार नहीं, तो मैं कहां जाऊं- भीष्म के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है।

उनकी यह माता सत्यवती विचित्रवीर्य और चित्रांगद के असामयिक मृत्यु के बाद उनसे चिरोरी विनती करती है कि जिस कारण से तुमने कुंवारे रहने की प्रतिज्ञा की थी, वे कारण ही अब समाप्त

हो गए, अब विवाह कर लो ताकि यह वंश चल सके। भीष्म अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहते हैं, उनकी प्रतिज्ञा न टूटे, वंश डूब जाए, अनर्थ हो जाए, इससे उन्हें अंतर नहीं पड़ता।

क्या ये भीष्म व्यास के आदर्श हैं? भीष्म के जैसा हताश, दयनीय और विफल चरित्र तो संसार में नहीं मिलेगा। संसार के सबसे बड़े ज्ञानी और संसार के सबसे बड़े इस पराक्रमी से, जब कौरवसभा में घसीटकर लाई गई द्रौपदी एक सवाल पूछती है कि स्वयं को जुए में हार कर दास बन चुके मेरे पति ने जो मुझे दांव पर लगा दिया, क्या वह वैध है, तो भीष्म पसीने-पसीने हो जाते हैं। वे जैसे अंबालिका के सवाल के आगे जैसे द्रौपदी के सामने भी हतप्रभ और निरुत्तर हैं। जो संसार का सबसे समर्थ शक्तिशाली योद्धा है, परशुराम तक को परास्त करने वाला भीष्म, उसे द्रौपदी अपनी तेजस्विता से हतप्रभ कर देती है।

भीष्म ने एक प्रतिज्ञा और की कि वे *महाभारत* के संग्राम में कृष्ण को हाथ में अस्त्र धारण करने पर विवश कर देंगे। कृष्ण चाहते तो वे भी प्रतिज्ञा कर लेते कि मैं भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी नहीं होने दूंगा। पर कृष्ण भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी हो सके इसके लिए अस्त्र उठा लेते हैं। कृष्ण, जो प्रतिज्ञा को तोड़ देते हैं, बड़े हैं, या प्रतिज्ञा को निभाने वाले भीष्म बड़े हैं?

भीष्म *महाभारत* के नायक नहीं हैं। व्यास ने युधिष्ठिर को भी अपना नायक नहीं माना है। युधिष्ठिर धर्मज्ञ हैं, धर्मावतार भी हो सकते हैं। पर व्यास कभी नहीं चाहेंगे कि लोग युधिष्ठिर का अनुकरण करें, उनकी तरह जुआ खेलें और उसमें अपनी पत्नी को दांव पर लगा दें। युधिष्ठिर और कर्ण को आमने-सामने रखें तो बड़ा विकट प्रश्न उठ खड़ा होता है कि युधिष्ठिर बड़े हैं या कर्ण। कुंती कर्ण से मिलती है और प्रतिज्ञा कराती है कि वे पांडवों को न मारे। कर्ण मां की बात मानते हैं, अर्जुन को छोड़कर शेष पांडवों का वध न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। एक प्रतिज्ञा कर्ण भी इस अवसर पर कृष्ण से और माता कुंती से करवाते हैं कि वे युधिष्ठिर को यह बात कभी न बताएं। यदि युधिष्ठिर को पता चल गया कि कर्ण उनके बड़े भाई हैं, तो वे कर्ण को राजपाट सौंपने के लिए तैयार हो जाएंगे। इस पूरे प्रसंग पर रवींद्रनाथ टैगोर ने मार्मिक कविता लिखी है *कर्ण कुंती संवाद*।

कर्ण को युधिष्ठिर का वध करने का भरपूर अवसर था, उनको उन्होंने बाणों से छलनी कर के छोड़ दिया। यही युधिष्ठिर उस तरह तिलमिलाए हुए हैं कि कर्ण का वध करके न आने पर वे अर्जुन की बुरी तरह लानत मलामत करने लगते हैं। अर्जुन इस पर उन्हें मार डालने पर उतारू हो जाते हैं।

व्यास ने तो यह नहीं कहा कि उनके देश की स्त्रियां गांधारी के जैसी सती बनें। गांधारी को धृतराष्ट्र से प्रेम होता, तो आंखों पर पट्टी न बांध लेती। वह कहती कि मैं आपकी आंखों की ज्योति बन जाऊंगी। पर उसे भी तो भीष्म ने धोखा दिया था, गांधार देश से उसे कौरवराज से विवाह करने के लिए लाया गया, पर यह नहीं बताया गया कि उसका होने वाली पति अंधा है। भैरव्या अपने उपन्यास *पर्व* में गांधारी के आंखों पर पट्टी बांध लेने में एक विकट प्रतिशोध देखते हैं। शंकर शेष अपने *कोमल गांधार* नाटक में छली गई स्त्री की वेदना का करुण कोमल राग सुनते हैं। ये उत्तर आधुनिक व्याख्याएं व्यास की अपनी दृष्टि से ही निकलती हैं।

आज देश को गांधारियों की जरूरत नहीं जो अपनी आंखों पर पट्टी बांधकर बैठ जाएं। आज द्रौपदी की जरूरत है, जो लोगों की बंद आंखें खोल सके। इसलिए *महाभारत* की परंपरा में गांधारी को नहीं द्रौपदी को पूजा जाता है। द्रौपदी प्रातःस्मरणीय पंचकन्याओं में एक है।

अहल्या द्रौपदी तारा सीता मन्दोदरी तथा ।

पंच कन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

युधिष्ठिर दुर्योधन के साथ होने वाले द्यूत में सारी संपत्ति, अपने चारों भाइयों और अपने आप को भी दांव पर लगाकर हार गए, और उनसे कहा गया कि अपनी पत्नी को भी दांव पर लगा दो, तो उन्होंने द्रौपदी को दांव पर लगा दिया। युधिष्ठिर कानून या धर्मशास्त्र के तो मर्मज्ञ थे, और जीवन भर उन्होंने उसका पालन किया, पर वे प्रेम करना नहीं जानते थे, न प्रेम का अर्थ ही समझते थे, नहीं तो वे राजा नल की तरह आत्मपरीक्षा के इस संकट भरे क्षण में जुए से हाथ खींच सकते थे- वे तो राजा नल की तरह कलियुग से आविष्ट भी नहीं थे। अपने भाई पुष्कर के द्वारा द्यूत की चुनौती पाकर उसके साथ द्यूत खेलते हुए राजा नल भी ठीक इसी तरह की स्थिति में जब सब कुछ हार जाते हैं और पुष्कर उनसे दमयंती को दांव पर लगाने को कहता है, तो वे कलियुग से आविष्ट होने के बावजूद अचानक जुए से हाथ खींचकर उठ जाते हैं क्योंकि उन्होंने दमयंती से प्रेम किया है।

महाभारत में उस समय की सबसे तेजस्विनी नारी- द्रौपदी- को जुए में दांव पर लगाया गया, और एक प्रबल शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ पुरुष समाज की नृशंसता और बर्बरता से अकेली जूझती हुई द्रौपदी ने उठाया था।

न कृष्ण उसकी मदद करने के लिए वहां थे, न वास्तव में उसका चीरहरण ही हुआ था। द्रौपदी आर्त होकर गोविंद गोविंद पुकारे और गोविंद वहां तत्काल पहुंचकर साड़ियों के थान के थान देते चले जाएं- यह महाभारत की धारदार बौद्धिकता से संपृक्त प्रखर यथार्थवादी संरचना पर परवर्ती भक्तिकाल की निर्मिति का आरोपण है। उसे राजसभा में घसीटकर लाया गया। अपने सारे अपमान और विवशता के बीच पुरुष विवशता में शुरू किया गया शास्त्रार्थ था - गहरे संकट के समय में उसके अस्तित्व को ही रौंद देने पर उद्यत पुरुष समाज के बीच।

महाभारत के भीतर यह एक ऐसा महाख्यान है, जिसमें पुरुष समाज के बीच, पुरुष के कारण और पुरुषों के द्वारा अत्यंत दारुण स्थिति में पहुंचा दी गई स्त्री अपनी शास्त्रार्थ की प्रतिभा के द्वारा पुरुष की सत्ता को जबरदस्त चुनौती देती है।

इसके पहले इस सारे प्रसंग में एक बड़े शास्त्रार्थ की भूमिका तो उसी समय बन गई थी, जब द्रौपदी ने उसे लेने के लिए आए हुए प्रतिकामिन् या दूत से कहा था कि उस जुआरी (युधिष्ठिर) से जाकर पूछ कि उसने स्वयं को पहले दांव पर लगाया था, या मुझे -

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।

कितु पूर्व पराजैषीरात्मानमथवा नु माम ॥ (मभा. 2.60.7)

सूत ने सभा में जाकर द्रौपदी का प्रश्न सुना दिया, तब दुःशासन को भेजा गया कि वह द्रौपदी को घसीटकर ले आए।

द्रौपदी ने भरी सभा में घसीटे जाते समय भीष्म आदि को भी पुकारा, उसने देखा कि इतने बड़े-बड़े महापुरुष और ज्ञानी जन निस्तेज और हतप्रभ हैं, तब उसने सारे क्षत्रियों, भीष्म, द्रोण और उपस्थित समस्त बड़े-बूढ़े लोगों को धिक्कारते हुए कहा -

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां

धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।

यत्राभ्यतीतां कुरुधर्मविलां
 प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम्॥
 द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
 ध्रुवं तथैवास्य महात्मनोऽपि
 राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं
 न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः॥ 2.60.33-34

द्रौपदी ने उन सबसे केवल एक प्रश्न पूछा था- पितामह, जो इस समय संसार के सबसे बड़े ज्ञानी हैं, द्रोणाचार्य- जो कौरव-पांडवों के गुरु हैं, विचार करके बताएं कि मुझे दांव पर लगाने का अधिकार युधिष्ठिर को था या नहीं?

भीष्म से सीधे-सीधे प्रश्न किया गया, पर उन्हें तो उत्तर ही नहीं सूझ रहा था। वे यही कह पाए कि 'हे सुहागिन, धर्म की गति ऐसी सूक्ष्म है कि मैं तेरे प्रश्न का यथावत् उत्तर नहीं दे पा रहा हूँ, जो अपने आप को जुए में हार कर दास बन गया है, उसे अन्य कोई संपदा दांव पर लगाने का अधिकार नहीं रह जाता, क्योंकि दास के पास धर्मशास्त्र के अनुसार संपत्ति नहीं होती- यह जितना सत्य है, उतना ही यह भी सत्य है कि अपने आप को दांव पर लगाने और हार कर दास बन जाने पर भी युधिष्ठिर तेरा पति तो है ही, और पति को पत्नी पर अधिकार है कि वह उसे दांव पर लगा सके। फिर युधिष्ठिर तो स्वयं धर्मज्ञानी है, वह समग्र पृथ्वी को धर्म के लिए छोड़ सकता है, वह ऐसा काम क्यों करेगा जिसमें अधर्म हो। अतएव मैं इस पर निर्णय देने में असमर्थ हूँ।'¹⁵

पूरी सभा में दो लोग थे- विकर्ण तथा विदुर- जो द्रौपदी के पक्ष में स्पष्ट खुलकर बोले।

विकर्ण ने सभासदों से कहा कि वे द्रौपदी के द्वारा उठाए गए प्रश्न का उत्तर दें। यदि वे अविवेक से साथ उत्तर देंगे, तो नरकगामी होंगे। भीष्म, धृतराष्ट्र तथा कुरुकुल के अन्य बड़े-बूढ़े द्रौपदी के प्रश्न पर चुपपी साध कर बैठ गए हैं, विदुर ने भी निर्णय नहीं दिया है। इसलिए जो भी राजा यहां दूर-दूर से आए हैं, वे काम और क्रोध छोड़कर अपनी बुद्धि से सत्य कहें।

विकर्ण के बार-बार राजाओं या सभासदों को उकसाने पर भी जब वे चुप रहे, तो उसने कहा- आप लोग चाहे कुछ कहें, चाहे न कहें, पर मैं जो उचित समझता हूँ वह अवश्य कहूंगा। राजाओं के लिए चार व्यसन बताए गए हैं- मृगया, सुरापान, जुआ तथा ग्राम्य भोगों में आसक्ति। इस युधिष्ठिर ने अपने व्यसन के कारण जुए की चुनौती में द्रौपदी को दांव पर लगा दिया। एक तो अनिन्दिता द्रौपदी केवल इसी की पत्नी नहीं है, और फिर पहले स्वयं को दांव पर लगाकर हार जाने पर इसने द्रौपदी को दांव पर लगाया है, दांव पर जीती गई वस्तु की कामना करने वाले दुर्योधन ने इसे भले यहां बुलवा लिया है, पर सारी बात पर विचार करके मैं इसे विजित या जीत ली गई नहीं मानता।'

विकर्ण के ये वचन सुनकर विकर्ण की प्रशंसा और दुर्योधन की निंदा करने वाले सभा के सदस्यों का बड़ा नाद इस सभा में गूंज उठा।¹⁶

विकर्ण के इस साहस का ही परिणाम था कि विदुर को भी उठकर उसकी बात का समर्थन करना पड़ा। उन्होंने धर्म का विवेचन करते हुए सभासदों को ऊंच नीच समझाया। विदुर का कहना यह था कि जो पाप करता है, वही पाप का भागी नहीं होता, जो उसे पाप करते हुए मौन रहकर देखता रहता है, वह भी पाप का भागी होता है। भीष्म के कथन पर आपत्ति व्यक्त करते हुए विदुर ने कहा

कि द्रौपदी को उसके प्रश्न का यथोचित उत्तर नहीं दिया गया है।

पर यह सभा ऐसी सभा थी, जिसमें होने वाली बहस में धर्म के भीतर अधर्म गुंथा चला जा रहा था। विदुर ने स्पष्ट कहा- सभा में धर्म, अधर्म से बिंध कर उपस्थित होता है, और सभासद इस धर्म को बींधने वाले शल्य को निकालते नहीं, वे पाप से स्वयं विद्ध हो जाते हैं। जो पाप करता है, उसका पाप का आधा समाज के श्रेष्ठ जनों, (जो समाज के नेता या शास्ता हैं) को जाता है, चौथाई पाप करने वाले को और बचा हुआ एक चौथाई सभासदों को लग जाता है। जिस सभा में निंदनीय की निंदा की जाती है, उसमें सभापति पापमुक्त हो जाता है और सभासद भी। पाप केवल पाप करने वाले को लगता है।¹⁷

यही नहीं, उन्होंने दुर्योधन को झिड़कते साफ-साफ कहा कि युधिष्ठिर को द्रौपदी को जुए में दांव पर लगाने का अधिकार नहीं था, क्योंकि वह स्वयं अपने आप को पहले हार चुका था-

दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन न मन्दं सम्बुध्यसिपाशबद्धः ।

प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सिव्याधान्मृगः कोपयसेऽतिवेलम ॥

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति ।

अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः॥ (2.59.4)

विदुर के कथन का कौरव पक्ष ने इसलिए अनादर किया कि वे क्षत्ता (शूद्र) थे। दुर्योधन ने तो उन पर ही दोषारोपण कर दिया। पूरे प्रसंग को पढ़ने पर लगता है कि यह उस समय का सबसे बड़ा शास्त्रार्थ इस दृष्टि से भी था कि द्रौपदी के प्रश्न का भले भीष्म और द्रौण जैसे ज्ञानी यथोचित उत्तर न दे पाए हों, पर जब विकर्ण ने द्रौपदी के पक्ष को जायज बताया, तो (उन इने गिने ज्ञानी जनों और कौरव पक्ष के लोगों को छोड़कर) सारी सभा में द्रौपदी और विकर्ण के पक्ष के सभ्य जनों ने महानाद किया।

विकर्ण के कथन में निर्भ्रांत और सुचिंतित मंतव्य था कि द्रौपदी न पण्य बनाई जा सकती थी, न वह द्यूत में विजित ही कही जा सकती थी।

जितेन पूर्वं चौतेन पाण्डवेन कृतः पणः ।

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।

एतत् सर्वं विचार्याहं न मन्ये निजितामहम् ॥

एतच्छ्रुत्वा महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।

विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निंदताम् ॥ (महाभारत 2.61.21-25)

द्रौपदी, विकर्ण तथा विदुर ने जो प्रश्न उठाए उनके विरोध में दुर्योधन, कर्ण तथा दुःशासन ने कुछ तर्क दिए तथा उससे अधिक अनर्गल और अश्लील बातें कहीं, उन सब को दोहराना यहां उचित नहीं है।

द्रौपदी के द्वारा जो शास्त्रार्थ उठाया गया, उसका एक स्पष्ट निर्णय यह भी है कि पाप या अन्याय करने वाला ही पापी नहीं होता, उस पाप या अन्याय पर चुप रहने वाला भी पापी होता है। इसके साथ यह शास्त्रार्थ हमारे सारे इतिहास में इसलिए बहुत महत्वपूर्ण है कि इसने यह साबित कर दिया कि बुद्धिजीवी अपने छद्म और दोहरे मानदंड को छोड़कर न्याय और सत्य के पक्ष में आवाज उठाता है, तो अन्याय के ताने बाने टूटते हैं। पर सबसे बड़ी बात यह है कि यह शास्त्रार्थ द्रौपदी के एक

प्रश्न के कारण संभव हुआ। विजय बहादुर सिंह कहते हैं -

यह द्रौपदी ही तो थी

सिखाया जिसने प्रतिकार

प्रतिकार न किया जाय

तो हिम्मत बढ़ जाती है अत्याचार की (भीमबेठका और अन्य कविताएं पृ. 116)

महाभारत ऐसे अनेक चरित्र प्रस्तुत करता है जो विलक्षण, असाधारण और अद्वितीय हैं- पर व्यास उनके भीतर की कमजोरियां और उनकी विफलताओं की कथा भी कहते हैं। इसके साथ वे उन साधारण लोगों की कथा भी कहते हैं, जो अपने कर्म और सच्चाई के कारण बड़े हैं। ऐसे चरित्रों में एकलव्य हैं, हिडिंबा है, घटोत्कच है। भास के दूतघटोत्कचम् में घटोत्कच कहता है- राक्षस अपने भाई के लिए लाक्षागृह बनवाकर उनमें आग नहीं लगावाते, राक्षस अपने भाइयों की पत्नियों के साथ दुराचार नहीं करते, राक्षस किसी बालक का निर्घृण वध करके उत्सव नहीं मनाते।... राक्षसों के हृदय इस तरह निष्करुण नहीं हुआ करते, जैसे तुम लोगों के।

महाभारत मनुष्य की महागाथा है, मनुष्य की असाधारणता की, उसके उत्कर्ष के शिखरों पर पहुंचने की और उसके अधःपतन की भी। सारे कौरवों के मारे जाने पर युधिष्ठिर अवसाद से भरे हुए कहते हैं कि क्या यह हमारी जीत है- हमें इससे क्या मिला- हमने तो अपना सब कुछ खो दिया। चार्वाक उनके सामने आकर सवाल करता है कि आपको इस सबसे क्या मिला? युधिष्ठिर निरुत्तर हैं।

दूसरी ओर दुर्योधन जिसकी भीम ने छल से जांघें तोड़ दी हैं, अपनी कारुणिक मृत्यु में सारे पांडवों के सामने बड़ा दिखने लगता है। व्यास ने उसे गरिमा दे दी है। यह मनुष्य की गरिमा है। जिस दुर्योधन ने कहा था कि मैं जानता हूं धर्म क्या है, पर उसकी तरफ मेरे पांव नहीं बढ़ पाते, मैं यह भी जानता हूं कि अधर्म क्या है, पर उससे मैं अपने पांव पीछे नहीं हटा पाता, वही मृत्यु के पहले कहता है कि मुझे कोई पछतावा नहीं, किसी से कोई शिकायत नहीं। उसके अवसान पर देवता आकाश से फूल बरसाते हैं, गंधर्व और अप्सराएं उसका गुणगान करते हैं, पांडवों के मुख मलिन और फीके हो जाते हैं।

इसलिए महाभारत मनुष्य की कथा तो कहता है, मनुष्य समाज को स्याह और सफेद के, एकदम पापी और पुण्यात्माओं के दो खेमों में नहीं बांटता। महाभारत की एक सरल व्याख्या असत्य पर सत्य की, पाप पर पुण्य की, अधर्म पर धर्म की विजय की महागाथा के रूप में की जाती रही है। पर स्वयं युधिष्ठिर, जो इस सारी कथा के एक नायक हैं, इसे इस रूप में स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि मैंने शत्रुओं को जीता पर मैं स्वयं हार गया, जो हारे थे, जीत उनकी हुई, जो जीते वे जीत लिए गए। हमने अपने बंधु-बांधवों, पिताओं-चाचाओं को मार कर सोचा कि हमने सब कुछ पा लिया है, पर वास्तव में हम सब कुछ गंवा बैठे हैं। यह कैसी विजय है जिसमें विजेता बेवकूफ बनकर खड़ा हुआ है केवल अपनी सारी विजययात्रा पर पछताते रहने के सिवाय उसके पास कुछ नहीं है।¹⁸

व्यास कहते हैं कि मैं दोनों हाथ उठाए हुए चीख रहा हूं कि धर्म से अर्थ और काम को जोड़ कर धर्म का सेवन करो, मेरी कोई सुनता नहीं। व्यास मनुष्य की नृशंसता और भीषण बर्बरता की कथा कहते हैं और बार-बार जोर देकर कहते चलते हैं कि 'आनृशंस्यं परो धर्मः'- नृशंसता को छोड़ देना ही बड़ा धर्म है। यह वाक्य बार-बार महाभारत में अंतःस्वर की तरह गूंजता है। जब हम अपने

भीतर के अधूरेपन और छोटेपन को *महाभारत* पर आरोपित करते हैं, तो *महाभारत* हमारे लिए वही हो जाता है, जो हम हैं।

आनन्दवर्धन ने कहा कि *महाभारत* धर्म का आख्यान है। राधाकृष्णन भी *महाभारत* का विषय धर्म मानते हैं। वे कहते हैं कि भले *महाभारत* में ही युद्ध की सारी भीषणता, छल-कपट और जीवन की विसंगतियों का भरपूर चित्रण हो, पर इसका तात्पर्य युद्ध की कथा कहने में नहीं है, धर्म के आख्यान में है।¹⁹ दो प्रकार के धर्म हैं : एक बड़ा धर्म है, जो मनुष्यता की रक्षा के लिए आवश्यक है, एक छोटा धर्म है, जो कर्मकांडों, रूढ़ियों और रिवाजों में सीमित है। व्यास दोनों हाथ ऊपर उठाकर जिस धर्म को अपनाने की बात करते हैं, वह बृहत्तर धर्म है। वे भीष्म के मुख से स्पष्ट कहलवाते हैं कि कर्मकांड, रूढ़ियों और रिवाजों में सीमित धर्म बृहत्तर धर्म को बाधित न करे, यदि वह बाधित करता है, तो वह धर्म नहीं, अधर्म हो जाता है।

धर्मं तु बाधते धर्मो न स धर्मो ह्यधर्म तत् ।

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मो नृपसत्तम॥

इसके दृष्टांत में भीष्म ने उस ब्राह्मण की कथा सुनाई है, जिसने सदा सत्य बोलने का व्रत ले रखा था। कुछ डाकू यात्रियों का पीछा करते हुए जब उसके पास से निकले और उन्होंने ब्राह्मण से पूछा कि यात्री कहां छिपे हुए हैं तो यह जानते हुए भी कि डाकू यात्रियों को लूटेंगे व उनकी हत्या भी कर सकते हैं, सत्य बोलने के नियम का पालन करते हुए ब्राह्मण ने उनको यात्रियों का ठिकाना बता दिया। यह ब्राह्मण अपने थोथे सत्य के कारण नरकगामी हुआ।²⁰

युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ करते हैं। एक नेवला आकर अश्वमेध के बचे हुए पुरोडाश में देह को सानने का प्रयास करता है। पुरोहितों के पूछने पर वह अपनी कथा बताता है, जिसका कुल सार यह कि युधिष्ठिर का सारा अश्वमेध एक छोटा धर्म है, अकाल में भूख से पीड़ित एक ब्राह्मण परिवार के घर आए भूखे अतिथि को भोजन देने के लिए प्राणों का उत्सर्ग एक बड़ा धर्म है, उसके सामने युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ बहुत छोटा है।

इस बड़े धर्म का सबसे बड़ा आख्यान *महाभारत* है, इसलिए वह धर्म के नाम पर उठाई गई दीवारें तोड़ता है। *महाभारत* जाति और वर्ण के दायरे तोड़ देता है, जातिव्यवस्था को ही वह खंडित कर देता है। इस अर्थ में वह *रामायण* से एकदम अलग है। वाल्मीकि के राम भी वर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादा के रक्षक और पोषक हैं। तुलसीदास अपने को डिक्लास करते भी तो कैसे...उन्हें विरासत तो वाल्मीकि की मिली थी, व्यास की नहीं। उन्होंने लिख तो दिया कि 'मांग के खैबो मसीद के सोइबो लेबे को एक न देबे को दोऊ.. काहु की बेटि से बेटा न ब्याहब ...' तो ऐसा लगता है कि वे अपना घर फूंककर लुकाठी हाथ में लेकर निकल पड़ेंगे... पर वे कबीर कैसे हो सकते थे? उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के पास लौटना ही था... उन्होंने वाल्मीकि के मर्यादा पुरुषोत्तम को भगवान राम तो बना दिया, पर ये भगवान राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे, अतः भगवान बन सके हैं। मर्यादाएं तो उनके साथ हैं। मर्यादाएं वर्णाश्रम धर्म की हैं।

जड़ावलाल मेहता *महाभारत* को प्रतिस्मृति की कविता के रूप में करते हैं। स्मृति से कविता रची जाती है, हमारा सारा साहित्य स्मृतियों की गूंजों और अनुगूंजों में रचा बसा है। पर स्मृति भी कई प्रकार की होती- एक अनुस्मृति है, एक प्रतिस्मृति भी होती है। मेहता प्रतिस्मृति की व्याख्या

सर्जनात्मक कल्पना के रूप में करते हैं।²¹ व्यास युधिष्ठिर से कहते हैं कि मैं तुम्हें एक ऐसी विद्या दूंगा, जो तुम्हारे जीवन में नया उत्थान लाएगी। यह विद्या प्रतिस्मृति की विद्या है। अनुस्मृति अतीत की होती है, प्रतिस्मृति भविष्य की, आने वाले दिक्काल की, होती है। इसमें स्मृति की यात्रा उलट जाती है। ऋग्वेद 7.104 के रक्षोघ्न मंत्रों में इंद्र और सोम से आह्वान है कि वे प्रतिस्मरण करें, सातवें मंत्र में कहा गया है- प्रतिस्मरेथाम्। व्यास *महाभारत* में बीच में साक्षात् उपस्थित होकर प्रतिस्मृति कराते हैं। वे अपनी माता सत्यवती से उस समय यह बात कहने आए थे, जब कौरव और पांडव राजकुमार बालक ही थे-

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।

श्वः श्वः पापीयदिवसाः पृथिवीगतयौवना॥

महाभारत के अवसान में फिर व्यास हैं- जब सब और से हारा थका और पस्त अर्जुन उनके पास जाता है। नारायण जा चुके हैं। एक नर है।

इसलिए *महाभारत* अपनी स्वयं की पहचान एक महावृक्ष के रूप में करता है। *गीता* में कृष्ण सारी सृष्टि को एक महावृक्ष बताते हैं। *महाभारत* के रूप में व्यास ने जिस विराट की सृष्टि की वह भी एक महावृक्ष है। महावृक्ष का मूल ऊपर है स्थित है, उसके तने और शाखाएं निरंतर प्ररोहित हो रहे हैं।

महाभारत इस अर्थ में भारतीयता का पर्याय है कि वह न केवल मनुष्यता का हनन करने वाले संकरे दायरे तोड़ता है, यह हमारे देश की उस संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रंथ है, जो विविधता और आनंद्य में विकसित होती रही है।

संदर्भ

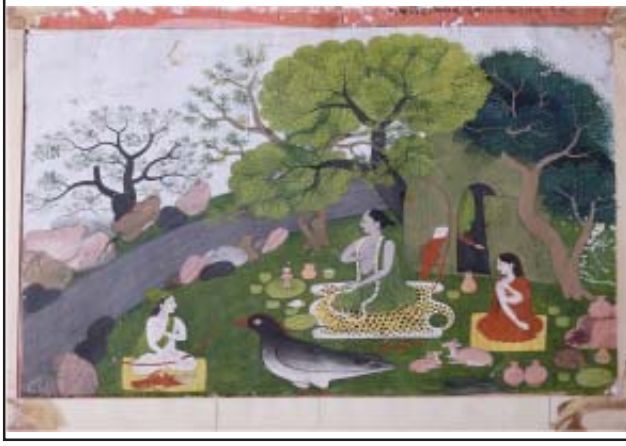
1. *Reflections and Variations on the Mahâbhârata*, Sahitya Akademi, 2009
2. *Text and Variations of the Mahâbhârata*, Edited by Kalyan Kumar Chakravarty, National Mission for Manuscripts, 2009
3. *Mahâbhârata Now Narration, Aesthetics and Ethiscs*- Ed. Arindam Chakrabarti & Sibji Bandyopadhyaya, Routledge, 2014
4. University of California Press (1964)
5. University of Schicago Press (1970)
6. *महाभारत पर हाल के कुछ अन्य उल्लेखनीय प्रकाशन हैं - Visions of God & Narratives of Theophany* by James W. Laine (Vienna, 1989), *Essays on the Mahâbhârata*- Ed. Arvind Sharma (EJ. Brill, 1991) M.A. Mahendale's *Reflections on the Mahâbhârata War* (1995). *Destiny and Human Initiative in the Mahâbhârata* by Julian F. Woods (State University of New York Press, 2001), *The Mahâbhârata and the Yugas*- by Luis González Reimann (Peter Lang, New York, 2002), *The Women in The Mahâbhârata*, Chaturvedi Badrinath (Orient Longman, 2008) and *Seer of the Fifth Veda*-A new Interpretation N Bruce M. Sullivan. Reprint under the title *Seer of the Fifth Veda* by MLBD, 1999. यह ग्रंथ Leiden से

- 1990 में 'K^oòadvaipâyanâ Vyâsa and the Mahâbhârata शीर्षक से छपा)।
7. (1) वीर अभिमन्यु -1915, (2) श्रवणकुमार - 1916, (3) परम भक्त प्रह्लाद 1917, (4) परिवर्तन - 1917, (5) उषा-अनिरुद्ध - 1924, (6) श्रीकृष्ण अवतार -1926, (7) रुक्मिणी-मंगल -1927, (8) ईश्वरभक्त - 1929, (9) द्रौपदीस्वयंवर -1929, (10) महर्षि वाल्मीकि - 1932, (11) सती पार्वती - 1939, (12) देवर्षि नारद (1941), (13) कृष्णसुदामा, (14) घंटापथ, (15) शांति के दूत भगवान श्रीकृष्ण, (16) सेवक के रूप में भगवान श्रीकृष्ण तथा (17) भारतमाता, तथा (18) मशरिकी हूर।
 8. बेताबचरित, पृ. 75
 9. बेताबचरित, पृ. 79
 10. *Reflections and Variations on the Mahâbhârata* : TRS Sharma. Sahitya Akademi, New Delhi, 2009, p. 33
 11. *Mahâbhârata Now*, p. 209
 12. महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः।
 13. एतच्चांशेन विवृतमन्यैर्व्याख्याविधायिभिः। स्वयमेव चौतदुद्गीर्णं तेनोदीर्णमहामोहमग्नमुज्जिहीर्षता लोकमतिविमलज्ञानावलोकदायिना लोकनाथेन - यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्। तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥
इत्यादि बहुशः कथयता। ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारततात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते। अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव। पारमार्थिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य पुरुषार्थस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यवरुद्धम्। ननु महाभारते यावान् विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत् तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते।
अत्रोच्यते - सत्यम्। शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्यां दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन - भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः। (I.i.256)- इत्यस्मिन् वाक्ये। अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादिचरितं यत्कीर्त्यते तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपंचरूपं च परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते। तस्मात् तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो मा भूत विभूतिषु निस्सारासु रागिणो, गुणेषु वा नयविनयपराक्रमादिष्वमीषु केषुचित् सर्वात्मना प्रतिनिविष्टविषयः। तथा चाग्रे पश्यत निस्सारतां संसारस्येत्यममुमेवार्थं द्योतयन् स्फुटमेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्च शब्दः। एवंविधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरश्लोकाः लक्ष्यन्ते - स हि सत्यम् (I-i.256) इत्यदयः।

14. देखें- *Dvaipayana & Poet of Being and Becoming-* (Reflections and Variations on the Mahâbhârata - E. TRS Sharma. Sahitya Akademi, New Delhi, 2009, p. 70-81), तथा Mishra Vidyanivas, *The Structure of Indian Mind*, SLBSRSV, New Delhi, 2009, P.187
15. न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत् ।
अस्वो ह्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य॥
त्यजेत सर्वा पृथिवीं समृद्धां युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात् ।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥ मभा. 2.60.40-41)
16. मभा. 2.61.12.-25
17. द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैव रौरवीति ह्यनाथवत् ।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते॥
सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्जवलन्निव हव्यवाट् ।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत॥
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ मभा. 2.61.69
18. सभापर्व, 10.9-11, 10.13
19. *Though the Mahâbhârata describes a society distracted by deceit and intrigue and though the story is reeking with war and the spirit of war, the author clearly declares himself against the politics of power and looks upon the state not as an organisation of force but as a partnership in dharma. The modern apostles of the doctrine that the state is an end in itself with no higher duty than to maintain itself will not find support for their views in it. The view that the end of the state is to organise and establish Dharma, that its powers are strictly limited by unalterable laws which it can only enforce, has a greater appeal to the cultivated conscience of our times...The author refuses to be stampeded by transient moods and agitations of the time but approves of the principle that righteousness exalteth a nation* S. Radhkrishnan, Forward to the *Mahâbhârata & condensed in the Poet's Own Words.*
20. महाभारत 8.49.34-46
21. *Vyâs- The Poet of Being and Becoming-* J.L. Mehta, *The Mahâbhârata Revisited*, Ed. R.N. Dandekar, Sahitya Akademi, 1990, reprint 2011, p. 107-10
- (इंदौर तथा पाण्डिचेरी में 10 और 24 फरवरी 2014 को तथा भोपाल में 4 अक्टूबर 2014 में दिए गए महाभारत विषयक व्याख्यानो पर आधारित)

पृथ्वी के पवित्र और अजनबी मुक्तिकारी (रामायण पर बनाए गए चंबा के चित्रों का एक अध्ययन)

आलोक भल्ला



विजय शर्मा के साथ चंबा के भूरी सिंह संग्रहालय में रामायण पर आधारित अट्टारहवीं शताब्दी के तीन लघु चित्रों के 'पाठ' की कोशिश में ही मेरे इस काम की नींव पड़ी (देखें, विश्वचंद्र ओहरी)। रामायण के वाचिक और लिखित रूपों की तरह ही चित्रकला व मूर्तिकला में भी राम, लक्ष्मण और सीता की कथा की एक प्राचीन, साहसी

और नवोन्मेषी परंपरा रही है। इन रेखाचित्रों और मूर्तियों का हर वर्ग न सिर्फ अपनी अलग रामायण रचता है, बल्कि वाल्मीकि कृत इस महाकाव्य का आलोचनात्मक पाठ भी सुझाता है। इसीलिए रामायण की पुनर्प्रस्तुति करते ये चित्र या मूर्तियां, कल्पना की रचना भी हैं और व्याख्यात्मक अभ्यास का विधान भी। हालांकि मूर्तिकार या चित्रकार धार्मिक दृष्टि से मानते हैं कि चूंकि राम सत्व का अवतार हैं इसलिए अनन्य हैं, पर उनकी कला कल्पना में वे आश्चर्यजनक रूप से विविध रूप धरकर आते हैं (देखें, आक्टवियो पाज)। राम कथा के लिखित और वाचिक रूपों को पहले से मानकर चलने के बावजूद दृश्य कला की हर प्रस्तुति कथा के शाब्दिक रूप की न तो गुलाम है और न ही उसकी धीमी प्रतिक्रिया।

लगभग तयशुदा ढंग से कहा जा सकता है कि लिखित रूपों के साथ ही साथ दृश्य कला में राम कथा की प्रस्तुति लगातार मौजूद रही है और इसने आठवीं शताब्दी में भवभूति की प्रभावशाली कल्पना से रचे नाटक उत्तररामचरित की कथा पर पुनर्विचार और रद्दोबदल के लिए वाल्मीकि को प्रेरित किया। नाटक में वाल्मीकि न तो कथा की विवरण तरतीब को नियंत्रित करते हैं और न ही वे पात्रों का अंत निर्धारित करते हैं। रचनात्मक औदार्य का जबरदस्त नमूना पेश करते हुए भवभूति पहले एक चित्रकार से कहते हैं कि वह कथा का समुचित नैतिक अंत कल्पित करे। कथा की नाट्य

प्रस्तुति में रामराज्य के आखिरी दिनों के मंचन के दौरान चित्रकार, वाल्मीकि से राम और सीता के प्रति और करुण होने की वकालत करता है। उसके मुताबिक किसी भी इनसानी गलती के लिए जितना दुःख झेला जाता है, राम-सीता ने उससे अधिक झेला तथा कवियों की कल्पना से भी अधिक गहराई से एक दूसरे को प्रेम किया। अंततः उसके अनुसार राम-सीता इस धरती पर प्रेम के शानदार, स्वाभाविक, सांस्कृतिक और नैतिक आदर्श बनने लायक हैं। शोक और करुणा से आप्लावित वाल्मीकि की मूल कविता न्याय की इस गुहार को महसूस करती है। ‘भाषा के पवित्र रहस्यों’ (Act vii, line 143वीं पंक्ति, पृष्ठ 389) को समझने वाले महान कवि की स्पष्टता से वाल्मीकि चित्रकार, नाटककार व दर्शकों को उपकृत करते हैं। मूल तत्त्वों से सगोत्रता का दावा करते पशु, दैवी आशीष पाए पर्वत, नायकों की दृढ़ता की परीक्षा लेने वाले दानव, नैतिक जीवन को चुनौती देने वाले असुर, जिनका सामना मिल-जुलकर किया जाना है तथा व्योमेश राम व धरती-सुता सीता के मिथ चूंकि वाल्मीकि के ही गढ़े हुए हैं, इसलिए उनके पास अधिकार है कि वे संभाव्य त्रासदी को सुखद नाटक में बदल दें। इस अधिकार पर चंबा रामायण के चित्रकार भी समान दावेदारी पेश करते हैं। (देखें ज्यां पियरे वेर्नाट और पियरे विडाल नकेट, पृष्ठ 412)। भवभूति के *उत्तररामचरित* की शुरुआत में राम, लक्ष्मण और सीता एक कला दीर्घा में अपने अतीत का वर्णन करते भित्तिचित्र देख रहे हैं। अतीत, जिसे याद करते हुए या तो वे विभोर हो रहे हैं या उसे दबाने का यत्न कर रहे हैं। अजब है कि ये चित्र अन्यत्र घट रही घटनाओं को भी दिखा रहे हैं, जिनसे कि ये पात्र बेखबर हैं। हालांकि ये घटनाएं पात्रों द्वारा पीछे लिए गए निर्णयों का ही परिणाम हैं। ये घटनाएं भविष्य में जन्म लेने वाले राम-सीता के पुत्रों, लव और कुश के बारे में हैं। दिलचस्प तरीके से कला दीर्घा भविष्यवाणी की जगह भी बन जाती है। भविष्यवाणी बताती है कि रामादि वर्तमान की स्मृति या विस्मृति में सचेत रूप से जो चुनेंगे, संसार में आगे आने वाले जीवन का निर्णय उसी पर होगा इसलिए, नाटक में पात्रों का नैतिक सामर्थ्य चित्रों के आलोचनात्मक पाठ से गहरे गुंथा हुआ है।

चंबा घाटी के पहाड़ी कलाकारों के 1760 से 1800 ईसवी के बीच बनाए चौरासी या सत्तासी लघुचित्रों की शृंखला में से जिन तीन चित्रों का मैं पाठ करना चाहता हूं, वे भवभूति के ही नक्ष-कदम पर रामायण का एक विशिष्ट चित्र-आख्यान प्रस्तुत करते हैं। ये तीनों चित्र जबरदस्त संपदा वाले उस अभिलेखागार की झलकियां मात्र हैं जो दृश्यकला द्वारा मिथ निर्माण करता है। पहले चित्र में अयोध्या का महल है, जहां मंथरा और कैकेयी राम के खिलाफ षड्यंत्र रच रही हैं। दूसरा चित्र राम, लक्ष्मण व सीता के वनवास के दौरान पंचवटी कुटिया में ध्यानस्थता का है। अंतिम चित्र में अशुभ पर विजय के बाद पशु-पक्षियों व राक्षसों-देवों की अपनी सेना के साथ अयोध्या के राजसिंहासन के न्यायसंगत उत्तराधिकारी वापस लौट रहे हैं। ध्यान देने की बात यह कि चंबा के चित्रकारों ने राम के वनवास की समाप्ति के बाद की कथा को चित्रित नहीं किया। इस तरह वे सीता के परवर्ती दुःख पर ध्यान आकृष्ट कराने की बजाय राम के नायकत्व तथा देवत्व पर दर्शक को संकेंद्रित करते हैं। अन्य लोककथाओं की तरह यहां भी माना गया कि हर दुश्चिंता और उथल-पुथल का एक न्यायसंगत अंत होता है। किसी विडंबनापूर्ण आधुनिक वृत्तांत के उलट इस रामराज में उनके विवाह, राज्य और नैतिक आदर्शों पर दुःख की छाया फिर से नहीं पड़ेगी। *रामायण* पर बनाए गए आधुनिक चित्रकारों के चित्रों में विरूपित होती या जलाई जाती स्त्री देह दिखाई जाती है जिससे कि वे तत्काल नैतिक

फैसले देने की अपनी फिजूल आदत को सही ठहरा सकें। *रामायण* आधारित स्त्री देह के चित्रण में जैसी अभद्र और अश्लील प्रसन्नता ये आधुनिक चित्रकार महसूस करते लगते हैं, चंबा के चित्रकारों की समूची चित्र-शृंखला में उसका लेश भी नहीं है।

वाल्मीकि *रामायण* का अनुसरण करते ये चित्र-वृत्तांत उसकी बनावट और अनकहे भावनात्मक स्वरो में डूबे हुए से लगते हैं। इन चित्रों में तुलसीदास की सूक्ष्म कल्पनाशीलता की सहलता व साफगोई और उनकी लयनिबद्धता दिखती है। अगर आप उदयपुर *रामायण* के चित्रों पर अपना कुछ बेहतरीन वक्त खर्च करने के बाद इन कलाकारों के समक्ष हाजिर हों तो अपनी आस्था की दुनिया और जिंदगी को छोटी सी श्रद्धांजलि देने का इनका यत्न आपके सामने स्पष्ट हो जाएगा। उदयपुर *रामायण* के चित्र 1649 से 1653 के बीच बने। ये मेवाड़ के राणा जगत सिंह द्वारा अधिकृत थे। मेवाड़ चित्रों का यह वर्ग आरंभिक रंगों और पच्चीकारी की संवृद्धि से दमकता है। यहां हर चित्र में गति, आवेग भरे नायक की गति है, कर्मकांडों में राजसी प्रदर्शन की उच्छृंखलता है, स्त्रियां रत्नों से जगमगा रही हैं, और वृक्ष रंगों से सतत देदीप्यमान हैं। यहां पृथ्वी पवित्र दृश्यों में गेरुई व दुखाप्लावित दृश्यों में सुर्ख लाल है। यह सब दर्शक को विभ्रम में डाल देता है।

इसके उलट चंबा के चित्र अपनी सहजता में स्पष्ट, संयत और मनोहारी हैं। अति-चेष्टा से शून्य इन चित्रों में राक्षस भी सामान्य इनसानी भय से ग्रस्त दीखते हैं। यहां दरबार पच्चीकारी के बोझ से लदे हुए नहीं हैं। चमकीले स्वर्ण और चौंधिया देने वाले हीरों से लदे बिना ही नायकों में इनसानी देह का लावण्य मौजूद है। इन चित्रों में चमकदार प्राकृतिक रंगों का लयात्मक संयोजन हमें लगातार, यहां तक कि संहार के दृश्यों में भी, याद दिलाता है कि धरती हमेशा ऐसी वैभवशाली जगह थी, है और हो सकती है जहां सुंदरतम कल्पना के स्वप्न देखे जा सकते हैं। राम, लक्ष्मण, सीता और हनुमान इन चित्रों में इसी संभावना के वैयक्तिक, सामाजिक और नैतिक प्रतीक हैं। कभी-कभी नैतिक रूप से सवालों के घेरे में रहने के बावजूद चूंकि व्यथा के लंबे वर्षों में इन नायकों ने कोई अतिवादी और अक्षम्य भूल नहीं की इसलिए वे शांत भविष्य के अधिकारी हैं, ऐसा दिखाना इन चित्रकारों का आत्मचेतस निर्णय लगता है। साफ ही है कि *रामायण* के अन्य पाठों से परिचय के बाद भी इन अनाम कलाकारों ने राम के मूल शुभ चरित्र को ही चुना। पर साथ ही वे समझते थे कि एक आदर्श विवाह, विवेकशील मैत्री, सुखी राज्य और दमकती पृथ्वी की रचना सिर्फ तब हो सकती है, जब सीता, लक्ष्मण और हनुमान के पार्श्व में राम, बादलों से भरे देवलोक व वृक्षों, फूलों, चिड़ियों, लहरीली नदियों व पाताल में बसने वाले सर्पों से भरी गुंजायमान पृथ्वी पर खड़े हों। राम का देवत्व संपूर्ण सृष्टि की रचना करने वाली अन्य रूपाकृतियों के देवत्व से अलग नहीं है।

इसलिए इस शृंखला के अंतिम चित्र को देखते हुए अचरज नहीं होता। यहां प्रकृति, पशुओं और देवताओं के साथ प्रफुल्लित हनुमान का तादात्म्य चित्र की चारुता को स्पष्ट कर देता है। राम के सामरिक नैपुण्य की स्वीकारोक्ति होने की बजाय यहां उनकी जय-यात्रा पशुओं, वृक्षों, जल, राक्षसों, देवों और दूसरे लोकों के साथ मनुष्य लोक के सही संबंधों की पुनर्स्थापना बन जाती है। चित्रकार निश्चय ही जानते हैं कि *रामायण* का दूसरा संभव खंड भी है जिसमें कमजर्फियत, विश्वासघात, निर्वासन और मृत्यु की कथा कही जानी है और यह कथा, पीढी दर पीढी, स्त्रियों और पुरुषों के अशांत चित्तों में गड़ी रह जाने वाली है। वे जानते हैं कि राम के अयोध्या आगमन के बाद हनुमानादि की

विस्मयकारी उपस्थिति कथा से लुप्त हो जाएगी। अग्निपरीक्षाओं से गुजरती सदा बहिष्कृत सीता स्त्रीत्व के दुखों के प्रतीक में बदल जाएंगी। बावजूद इसके उत्तरकांड की घटनाओं को चित्रित न करने के पीछे न तो श्रद्धा भक्ति का निष्कपट निश्चय है और न ही दुःख का भावुक परिहार। कहिए तो यह उस समाज, जिसमें ये चित्रकार शामिल हैं, में आत्मिक और लौकिक अस्तित्व होने का आत्मचेतस उदाहरण है। ये कलाकार समाज में आशा के स्वप्निल इतिहास के अंग हैं जिसके बिना मनुष्य की मूल शुभ चेतना क्षरित हो जाएगी, मर जाएगी।

इन चित्रकारों के काम में रेखाएं, रूप, शैली, रंग, लहजा, आकृति, नाट्यकरण और प्रतीकन, सबसे पता चलता है कि उद्देश्य कथा का अनुकरण मात्र नहीं है। हां, चित्रकार *रामायण* की दृश्य और वाचिक परंपरा के वारिस हैं और उससे गहरे प्रभावित भी पर वे इस पवित्र व्याख्या के निष्क्रिय ग्राहक नहीं हैं। पाठ समझने की प्रक्रिया के पूरक के रूप में या पहले की गई व्याख्या को बल देने के लिए वे वाल्मीकि या तुलसीदास की वाचिक कविता का उल्था वैसी ही दृश्य भाषा में नहीं करते। ये मौलिक चिंतक और आत्मविश्वासी शिल्पी ऐतिहासिक नामोल्लेख की बजाय वाल्मीकि और तुलसी के पार्श्व में अपने 'कल्पनाप्रवण हस्ताक्षर' चाहते थे। (भारतीय काव्य और चित्रकारी की परंपरा में सिर्फ उन पुरुषों व स्त्रियों की उपस्थिति का 'चिह्न' दीखता है जिन्होंने जगत की मौलिक बहुलता में संगीत और रंगों की कुछ रेखाएं जोड़ी हों।)

जिस वक्त वे *रामायण* के वृत्तांत से अपने दृश्य विधान के लिए 'चिह्नित' क्षण चुनते हैं, ठीक तभी वे इस महाकाव्य की चित्रात्मक प्रस्तुति की परंपरा में राम और रावण का प्रतिनिधित्व करने वाले चित्र-नियमों को नकारने का अधिकार भी सुरक्षित कर लेते हैं। वे ऐसा परंपरा से अपने एकांगी संबंध के नाते नहीं करते, जैसा कि कुछ आलोचकों के मुताबिक रचनात्मक पहचान गढ़ने के लिए जरूरी है। बजाय इसके वे जानते थे कि *रामायण* की पुरानी परंपरा उन्हें उस सीमा तक ले आई है जहां से उनकी समझ का पवित्र इलाका शुरू होता है, अर्थात् अतीत बोझ नहीं बल्कि अनिवार्य शुरुआत है। इसीलिए *रामायण* की चित्र प्रस्तुति की परंपरा उनमें न तो व्यग्रता पैदा करती है और न ही विरक्ति। बजाय इसके ये कलाकार उस परंपरा के प्रति आभार प्रकट करते दीखते हैं जिसने उन्हें रामकथा मुहैया करवाई और पत्तियों, खनिजों तथा कुछ कीड़ों आदि से रंग बनाने का रिवाज सिखाया। किसी भी वास्तविक कलाकार की तरह ही वे शायद जानते थे कि 'कोई नश्वर अस्तित्व अनिश्चित काल तक रचनात्मक नग्नता और असुरक्षा बर्दास्त नहीं कर सकता' (रिचर्ड विल्हेल्म)। परंपरा को श्रद्धांजलि देने के बाद ये कलाकार अपने चित्र संयोजनों की समझ, जिसमें रंगों की विविधता, रंग-तत्त्व, रेखाओं की ऐंद्रियता, मनुष्य के साहचर्य में आने वाली चट्टानें, ऋषि, देव, कपि, मछलियां, फूल, सूर्य, वायु, जल, सर्प या राक्षस आदि शामिल हैं, में अर्थ-संप्रेषण के लिए अपनी प्रेरणा की तलाश करते हैं। परंपरा पीछे छूट जाती है, और नई कथा की शुरुआत होती है। यहां चरित्र वही पुराने हैं पर उनके रूप बदल गए हैं। अपने अस्तित्व की गहराइयों से ये कलाकार जानते थे कि किसी अवतार को कभी भी इतिहास और भूगोल की चौहदियों में नहीं बांधा जा सकता क्योंकि वह नित-नित नूतन होता है। नैतिक पूर्वधारणाओं और सौंदर्य की पूर्व मान्यताओं के बिना देखने और खोजने से ही यह हासिल हो सकता है। भवभूति ने ठीक ही कहा था कि आने वाला कोई कवि मनीषी उनके 'शब्दों से तथ्यों की पुष्टि' कर सकेगा (Act I, पृष्ठ 77)। वाल्मीकि *रामायण* की कथा में

परिवर्तन के लिए अपने चित्रों का उपयोग करते हुए चित्रकारों ने बेहद स्वाभाविक ढंग से अपनी 'चित्र वीथी' के जरिए यह भी दिखाया कि कोई स्वप्नदर्शी कलाकार नई दुनिया रच सकता है, चित्रित कर सकता है।

चंबा के ये चित्रकार वैसी ही नवीन कल्पनाशीलता की मांग करते हैं, जैसी मांग भवभूति अपने नाटकों के दर्शकों एवं गद्य के पाठकों से। इन चंबा चित्रों से दो-चार होने वाले दर्शक को पहले तो उन्हें मौलिक चित्र की तरह देखना चाहिए। चित्रों में *रामायण* की घटना खोजने से पहले दर्शक को रंगों के सामंजस्य, रेखाओं व शैलियों को नैतिक एवं पवित्र सत्य को उद्घाटित करने वाले साधन के रूप में देखना चाहिए जिसे चित्रकारों ने अपनी कला साधना से हासिल किया है। इसके बाद ही दर्शक को *रामायण* के कथानक की ओर बढ़ना चाहिए और फिर से उन्हें पुनर्परिक्ल्पित करना चाहिए ताकि जिस रूप में ये चित्र पढ़ने, देखने और इस संसार में होने के नए तरीके सुझाते हैं, उन्हें पहचाना जा सके। ये चित्र राम के देवत्व के बारे में हमें प्रचलित एवं स्वीकार्य तथ्य का ज्ञान नहीं देना चाहते हैं, जिन्हें हमारे नैतिक झंडाबरदार समझाना चाहते हैं। ये चित्र विश्वासघात की शिकार सभी महिलाओं की प्रतिनिधि के रूप में सीता की आदर्श छवि को बगैर किसी आलोचना के स्वीकार नहीं करवाना चाहते हैं, जिसपर आक्रामक सामाजिक मन जोर देता है। धर्म या राजनीति, इनमें से किसी भी दृष्टि से हमें न तो गद्य का पाठ करना चाहिए और न ही चित्रों को देखना चाहिए। चित्रकार पारंपरिक चित्र नियमों के नायक व अधर्मी राक्षस के द्वंद को अपनाना नहीं चाहते थे। बजाय इसके पुनर्कल्पना की चुनौती स्वीकारते हुए वे हमें *रामायण* के नए चित्रित पाठ को आलोचनात्मक समझ के साथ देखने को उकसाते हैं और महाकाव्य के नायक अपने जीवन की किसी खास नाटकीय घटना को जैसे देखते हैं, उससे अलग अवधारणा बनाने के लिए हमें आमंत्रित करते हैं।

रामायण को पुनर्कल्पित करने के महत्त्वपूर्ण व गंभीर काम में जुटे विचारक व चित्रकार के बतौर उनका उद्देश्य प्राचीन रूढ़ियों को भूल, राम-लक्ष्मण-सीता की कथा के शानदार मिथ की नई समझ के साथ एक विशिष्ट दृश्य भाषा का निर्माण करना है। इन चित्रों के प्रसंग और विषय वस्तु के संदर्भ में चौंकाने वाली बात यह है कि भक्तिकाल के बड़े कवियों की तरह देवताओं के भरोसे के बगैर पहली बार और सीधे अपने दुनियावी अनुभवों के सहारे, वे हमारे प्राकृतिक और इंसानी अस्तित्व के दिनों की 'शुभ' शर्तें विकसित करना चाहते हैं। ये हमें उस इंद्रियगम्य जगह ले जाते हैं जहां *रामायण* के नायकों के साथ औचक-आकस्मिक रूप से हावी नृशंसता है या धर्म है, जिसे मनुष्य व प्रकृति में मौजूद सभी वस्तुओं को धारण करना चाहिए, जहां महत्त्वाकांक्षा, अहम, ईर्ष्यामय प्रेम और उत्कट यौनेच्छा है... वे यह दिखाना चाहते हैं कि सत्ता के स्थापित ढांचों व नगर-राज्यों की तुलना में धरती पर अधिक सुखी और समृद्ध जीवन संभव है।

कहानी के प्रति अपनी विशिष्ट समझदारी प्रस्तुत करते हुए ये चित्र वाल्मीकि, कालिदास, मुरारी, भवभूति, तुलसीदास एवं दूसरे अन्य रचनाकारों के राम विषयक काव्यों के पार्श्व में खड़े होकर उनसे राजत्व और नागरिकता, अजनबियों से वफा और अपनों से दगा, प्रेम में आस्था और कामुकता के डर, हम सब में भीतर की 'अजनबियत' और हमसे मूलतः अलग 'विचित्र अन्य' पर गहन विमर्श करते हैं। ये चित्र, मानवीय और दैवी रूपों के प्रति अनवधान श्रद्धा के लिए उकसाने और इस पर

गर्व करने वाले चित्रकारों द्वारा प्रस्तुत श्रद्धांजलि की विनम्र कार्रवाई नहीं हैं। अतः ये चित्रकार गोथिक कैथेड्रल की रंगीन कांच की खिड़कियों पर अंकित धार्मिक चित्रकारी करने वाले चित्रकारों, मूर्तिकारों या मंदिरों की दीवारों पर धार्मिक कहानियों के चित्र उकेरने वाले शिल्पियों से पूर्णतया भिन्न हैं। पहाड़ों के ये कलाकार कथा के पुनर्कहन के लिए अपनी उपलब्ध चित्र-परंपरा और विशिष्ट नैतिक चिंता को निबाहते हैं, जिससे न सिर्फ उनका दृश्य-आख्यान दूसरी *रामायण* के रूप में जाना जाए बल्कि *रामायण* की पूर्वपरिचित लिखित और वाचिक परंपरा से जिसके संवादी रिश्ते हों।

इन चित्रकारों की मांग है कि दर्शक के रूप में कथा के प्रति हमारी पूर्वानुमेय समझ को बढ़ाने, परिष्कृत करने या चुनौती देने वाली चित्र-कथा की उनकी विशिष्ट कला को हम गंभीर प्रतिक्रिया दें। यह भी गौरतलब है कि उनकी प्रतिक्रिया *रामायण* के आधुनिक पाठक की संदेही प्रतिक्रिया से उलट है जिसमें राम के देवत्व का खंडन और सीता के प्रति उनके अज्ञानतापूर्ण अमानवीय रवैये की आलोचना होती है।

रामायण के तेजस्वी कवियों की ही भांति चंबा के ये चित्रकार भी पृथ्वी के उद्धार के लिए, जिसके सर्वनाश की धमकी सत्तायुत घमंडी आतताई प्रायः देते हैं, पशु-पक्षी-मछली-सांप-राक्षस और देवों के साथ मनुष्य के आदर्श रिश्ते, इंसानों का बहुत ध्यान रखने वालों से भी बलिदान की मांग तथा शासन की नैतिकता के साथ अपने आवेगमय काम को जोड़ते हैं। जहां *रामायण* के कवि प्रथमतः जिम्मेदार मनुष्य के आदर्श प्रतिनिधि के रूप में अवतरित राम के देवत्व के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं, वहीं, ठीक इसके उलट, चित्रकार *रामायण* के नायकों द्वारा पददलित धरती पर निवास करने वाले सब कुछ के प्रति श्रद्धापूर्वित ध्यानार्पण प्रस्तुत करते हैं।

असल में यूरोपीय एवं अमरीकी रचनाओं की तुलना में ये कलाकार अजनबी या विचित्र के प्रति रवैये में मूलतः भिन्न उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। थोड़ा आगे बढ़कर यदि सामान्यीकरण करें तो देखा जा सकता है कि अधिकांश यूरोपीय-अमेरिकी परंपरा में, रूथ और दांते से लेकर *हकलबेरी फिन* और *माबी डिक* तक, मेरी शेली के फ्रैंकेंस्टाइन और आंद्रे तारकोवोव्स्की की *सोलेरिस* तक फैले विभिन्न विज्ञान-गल्पों में, अपराध व पराभौतिक के पसारे से गुंथी फ्योदोर दोस्तोयेव्स्की, जोसेफ कार्नाड व ग्राहम ग्रीन की कहानियों में, एच.पी. लवक्राफ्ट से अल्फ्रेड हिचकाक के स्ट्रेंजर *ऑन ए ट्रेन* तक, जार्ज स्माइली के बारे में लिखे जॉन ली कैरे के जासूसी उपन्यास से लगाकर हर प्रेमी को संभावित शत्रु बताने वाले राबर्ट लुड्लाम की तीन खंडों वाली *बार्न काँस्पिरेसी* तक में अजनबी या बाहरी या विचित्र हर चीज आदर्श कल्पनालोक की परिकल्पना में स्थान की अधिकारी नहीं है। आंतरिक स्व से भिन्न या राष्ट्र राज्य से बाहर उपस्थित किसी अन्य से ऐक्य खोजने की कोई इच्छा यहां अनुपस्थित है। 'अन्य' की विचित्र अजनबियत कभी कभार ही पवित्र की मूल होती है या उस तक पहुंचाती है। प्रायः यह ऐसी भय या बाधा होती है जिसे अवश्य ही नकारना चाहिए, नष्ट कर देना चाहिए व सभी गुणों से विरहित कर देना चाहिए। इसका ऐसा असंभव और डरावना रूपांतरण किया गया है कि किसी से मुठभेड़ होने पर यह नष्ट हो जाए। ऐसा नजरिया कल्पना दारिद्र्य का फल तो है ही, साथ ही यह अतार्किक भयों और हत्या को संभव कर देता है (देखें, *कन्फेशन ऑफ जस्टीफाइड सिनर*, *नोट्स फ्रॉम द अंडरग्राउंड* या *एन इंडियन वांट्स ब्रॉक्स* जैसे बहुसंख्य काम)। केवल विलियम ब्लेक ही ऐसा बिरला है जो चेतावनी देते हुए यह घोषित करता है कि, 'तो हृदय

में दया संजोए रखो, कदाचित देवदूत को तुम अपने दरवाजे से खदेड़ रहे हो,'। यहां 'अजनबी/अजनबियत' तथा जेनस ('पराए') व अन्हेम्लिच ('विचित्र') जैसे शब्दों से नवाजे गए, परिचित की सीमाओं से परे उपस्थित के लिए ही 'देवदूत' का प्रयोग किया गया है (देखें, जूलिया क्रिस्तेवा)।

'अजनबीपन/अजनबी' और 'विचित्र' के प्रति चंबा के चित्रकारों का दृष्टिकोण मौलिक रूप से विशिष्ट है। उन्होंने बिना एक क्षण सोचे-बिचारे और संशय को तार्किकता का जामा पहनाए बगैर



इसे जीवंत अनुभवों में रूपांतरित कर दिया है। किसी को भी यहां रामायण में 'अजनबीपन/अजनबी' और अशुभ व्यवधानों के अनिवार्य स्रोत बनने वाले 'अननुमेय' या 'अतार्किक' के आह्वान के बीच अंतर कर लेना चाहिए, क्योंकि ये ही बताते हैं कि बाल कांड का मूल निर्मल रस (भवभूति के शब्द) मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं, इच्छाओं, और नैतिक चुनावों के ऐतिहासिक दायरे में आकर आगे बचा नहीं रह सकता। 'अननुमेय' या 'अतार्किक' के हाथों परास्त राम, लक्ष्मण और सीता अपने चिंतन में 'अजनबी' या व्यक्तियों में उपस्थित 'अजनबीपने' का सामना करते हुए डरते नहीं। इसीलिए वे सहजतः इसके विनाश या परिचित में रूपांतर की खोज नहीं करते। उनकी दुनिया में न तो कोई विधर्म है न विधर्मी, सो नाश का कोई आह्वान भी नहीं है। वहां कोई अमानवीय जीवित प्रजाति या वस्तु ऐसी नहीं है जिसे घायल के उपचार में सहायता

या कथा की पूर्णता के लिए आहूत न किया जा सकता हो। वे तो 'अजनबी अन्य/अजनबीपने' की ताकत और दीप्ति के कायल होना चाहते हैं। उनकी उस बुद्धिमत्ता या उद्देश्य के कायल होना चाहते हैं जो कि उनको उपलब्ध नहीं है। परंपरा में उनकी यही विशिष्टता उन्हें अनुकरणीय आदर्श के पद पर आसीन करा देती है और दुनियावी आदतों वाले मनुष्यों की तरह ही पृथ्वी का बोध धारण करने वाले इन नायकों के प्रति चित्रकार अपनी विशिष्ट श्रद्धा सुरक्षित रखते हैं।

सो, चित्र शृंखला के एक चित्र में पौराणिक-बुद्धिमान पक्षी/गीध जटायु, सम्पाती/गरुड़ (या पाठ की रोचकता बढ़ाते हुए कुछ लोग इसे कागमुनि मानते हैं) अपनी अग्र-दृष्टि के कारण ऋषियों से भी अधिक तेजस्वी दिखता है। सामान्य से वृहद्, मनुष्य जाति से भी प्राचीन गरुड़ जंगल में धूनी रमाने वाले संतों से ज्यादा बड़ा ऋषि है। कलाकार प्रसन्नतापूर्वक आदर्श राम, लक्ष्मण और सीता को उस पक्षी को श्रद्धांजलि देते हुए दिखाते हैं जो देवताओं के स्वर्ग को वैसे ही जानता है जैसे कि मृत्यु की नीरवता को। ऐसे ही यहां राम के देवत्व के प्रति अधिकतर इंसानों से अधिक श्रद्धा से भरे बंदर हैं, वनदेवता हैं जो स्नेह में एक-दूसरे के प्रति 'नासमझी' में फुसलाई गई कुछ रानियों से अधिक विश्वसनीय हैं और राक्षस हैं जो सामाजिक आलोचकों की तरह न्याय की सख्ती को समझते हैं। चित्र साफ-साफ दर्शाते हैं कि बहुतेरे सिपाहियों और अनुशासित तपस्वियों की बजाय नदियों की मछलियां, समुद्री दानव और पातालवासी सर्प अधिक विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक हैं। राम, लक्ष्मण और सीता के दैवी गुणों से परिचालित होने वाले पवित्र ग्रंथों के अध्येताओं से बेहतर ये चित्रकार जानते

हैं कि मनुष्य जाति को धारण करने के परे पृथ्वी की और भी जिम्मेदारियां हैं। अधिक महत्वपूर्ण है कि कलाकारों की चित्र प्रतिक्रियाओं में पृथ्वी के सौंदर्य की ऊर्जा-बहुलता हमारा ध्यान इस अप्रचलित विचार की ओर आकर्षित करती है कि इंसानों को पृथ्वी पर मौजूद सभी 'अजनाबियों' के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। ये अजनबी- जो इनसानों के साथ पीढ़ी दर पीढ़ी रहे आए, पर 'अजनबी' माने गए। सहानुभूतिपूर्ण रवैया इसलिए, क्योंकि बहुत संभव है कि इनसानों और इन सीधे सच्चे जीवों के बीच के संघर्ष का नतीजा पृथ्वी के पुनर्भव में और इस पारिस्थितिकी में रहते आए सभी जीवों की पुनर्खोज के रूप में हो।

मूल अंग्रेजी से अनुवाद : मृत्युंजय

लेखकों से अनुरोध

- ◆ वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- ◆ लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- ◆ भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनिकोड/मंगल फॉन्ट में ही टाइप कराकर भेजें।
- ◆ चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- ◆ रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- ◆ लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख bahuvachan.wardha@gmail.com, amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

मो. नं.- 09422386554

कलाओं का अंतःसंबंध

नंद किशोर आचार्य

साहित्य और अन्य कलाओं के अंतःसंबंधों पर विचार करते हुए इन संबंधों की सुदीर्घ परंपरा का स्मरण हो आना और यह देख पाना स्वाभाविक ही है कि अन्य कलाओं, मसलन चित्रकला या मूर्तिकला या संगीत आदि, के लिए साहित्य स्रोत सामग्री रहा है, और नाटक या फिल्म आदि तो उसके बिना संभव ही नहीं हैं। लेकिन, शायद इससे भी पहले ध्यान इस सवाल की ओर जाना चाहिए कि ऐसा किसलिए होता है। वह क्या चीज है जो अन्य कलाओं को साहित्य की ओर उन्मुख करती है? क्या यह कुछ कलाकारों का वैयक्तिक प्रयास मात्र है अथवा विभिन्न कलाओं और साहित्य के बीच कोई गहरा आस्तित्विक संबंध है। प्रत्येक कला का अपना स्वायत्त माध्यम है और यदि वह माध्यम किसी अन्य माध्यम में सृजित कृति की ओर आकर्षित होता है तो क्या यह केवल सतही आकर्षण मात्र है या कुछ गहरा तात्त्विक या आस्तित्विक संबंध दोनों माध्यमों के बीच है, जो एक-दूसरे को परस्पर आकर्षित करता है?

साहित्य का माध्यम भाषा या शब्द यदि एक अमूर्त माध्यम है- जो कि वह है- तो यह सवाल उठना चाहिए कि अन्य मूर्त माध्यम उसकी ओर क्यों आकर्षित होते हैं। क्या इसका एक कारण यह नहीं हो सकता कि स्वयं भाषा की प्रक्रिया मूर्त के अमूर्तीकरण की है अर्थात् जो कुछ भी गोचर है, उसे नाम देना है। इसका तात्पर्य यह हुआ अमूर्त कही जाने वाली भाषा की अपनी प्रक्रिया में भी मूर्त की अभिव्यंजना की सभी संभावनाएं उपस्थित रहती हैं क्योंकि वह अपनी अमूर्तता से किसी मूर्त की व्यंजना भी कर रही होती है। क्या इसे यों भी कहा जा सकता है कि गोचर जगत ही वह स्रोत-सामग्री है जिससे भाषा की अपनी समृद्धि संपन्न होती है? शब्द शक्ति सिद्धांत क्या प्रकारांतर से गोचर जगत और भाषा के संबंधों का सैद्धांतिक रूपांतरण कहा जा सकता है? अभिधा और लक्षणा का तो सीधा संबंध गोचर प्रक्रियाओं से है ही, व्यंजना शक्ति की सांकेतिकता का आधार भी गोचर से अगोचर का संकेत करने की प्रक्रिया होता है।

साहित्य में बिंब रचना क्या भाषा की प्रक्रिया में चित्र या मूर्ति, नाट्य या स्वर का प्रवेश नहीं कहा जा सकता? आखिर सभी काव्यगत बिंब हमारे गोचर अनुभवों से अपना आधार ग्रहण करते हैं। कविता में छंद और लय का मूल, अंततः, क्या हमारे स्वर संवेदन में ही नहीं है? किसी भी अन्य कला या माध्यम के किसी भाषिक कृति के प्रति आकर्षित होने और उसे अपने माध्यम में रूपांतरित करने की पृष्ठभूमि में मूलतः यह तात्त्विक संबंध ही सक्रिय होता है। हमारी परंपरा में यह जगत नामरूप है क्योंकि दोनों अभिन्न हैं और इसी तरह रूपातीत होने पर ही शब्दातीत होना संभव माना गया है। साहित्य जैसे रूप को नाम में व्यंजित करता है, वैसे ही रूप नाम को। यह तात्त्विक

अंतस्संबंध केवल साहित्य और अन्य कलाओं में ही नहीं, विभिन्न कलाओं के बीच भी देखा जा सकता है क्योंकि सभी कला-माध्यम जिस ऐंद्रिक संवेदन या ज्ञानेंद्रियों से जुड़ते हैं, वे अपनी प्रक्रिया में स्वायत्त होने पर भी तात्त्विक स्तर पर एक ही चेतना के माध्यम होते हैं, अतः उनका पारस्परिक आकर्षण सहज और स्वभाविक है। इसलिए, जब एक कलारूप किसी अन्य रूप को अपने में रूपांतरित करता है, तो वह एक स्तर पर इस तात्त्विक ऐक्य की अनुभूति संभव करने की प्रक्रिया हो जाता है।

लेकिन, सवाल यह भी उठता है कि तात्त्विक ऐक्य से प्रस्तुत इस आकर्षण की वजह से कलाकार जब किसी अन्य माध्यम की कृति को अपने माध्यम में रूपांतरित करता है तो क्या वह उस कृति को अपने माध्यम से संप्रेषित मात्र कर रहा होता है? क्या इस प्रक्रिया में उसका प्रयोजन और उपलब्धि किसी अन्य कलारूप की अपने माध्यम में प्रभावी प्रस्तुति या संप्रेषण मात्र है? उसकी रचना-प्रक्रिया क्या केवल संप्रेषण होकर रह जाती है या वह अपने में एक स्वतंत्र सृजन होता है? क्या एक संगीतकार या गायक का काम इतना भर है कि वह किसी कविता या गजल को अपनी सांगितिक प्रस्तुति के माध्यम से अधिक प्रभावी तरीके से संप्रेषित कर दे? उसकी अपनी रचनात्मकता की सिद्धि इस रूप में किस तरह संभव होती है? अकसर नाटक या फिल्म से इस तरह की अपेक्षा की जाती है कि उसके माध्यम से मूल कथा या नाट्यालेख की कितनी प्रामाणिक प्रस्तुति हो सकी है और प्रामाणिक से तात्पर्य होता है मूल कृति के पाठ और मंतव्य में रंचमात्र भी परिवर्तन न करना- यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि जब कोई लेखक किसी पौराणिक, ऐतिहासिक या महाकाव्यों में वर्णित किसी कथा को लेकर किसी उपन्यास, नाटक या काव्य की रचना करता है तो हम उससे यह अपेक्षा नहीं करते- कभी करते भी हैं तो उतने आग्रह से नहीं- और उसकी कल्पना को उस कथा में प्रवेश की पूरी छूट देना उसकी सृजनात्मकता के लिए उचित मानते हैं।

सवाल यह भी उठना चाहिए कि किसी कविता या गजल या नाटक को मुद्रित रूप में पढ़ने और उसकी सांगितिकी या रंगमंचीय प्रस्तुति को देखने का अनुभव और अर्थ क्या एक ही है। क्या एक गृहीता उन के माध्यम से एक-सा अनुभव या अर्थ प्राप्त बरामद करता है? जब पिकासो कहते हैं कि 'मैं चीजों को ऐसे चित्रित करता हूँ जैसे मैं उन्हें सोचता हूँ, न कि जैसे मैं उन्हें देखता हूँ' ('I paint things as I think them, not as I see them'), तो यह बात स्वयं पिकासो की पेंटिंग के लिए भी एक प्रेक्षक द्वारा कही जा सकती है कि वह पिकासो के किसी चित्र या किसी भी अन्य कला-रचना से वह अर्थ बरामद करता है, जैसा वह उसे सोचता है। यह क्या एक प्रकार से उस उत्तर-संरचनावादी प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना है, जिसके अनुसार प्रत्येक चीज एक 'टैक्स्ट' है, जिसका अर्थ पाठक की पठन-प्रक्रिया में है, स्वयं उस 'टैक्स्ट' में नहीं?

दरअसल, साहित्य और अन्य कलाओं के अंतस्संबंधों की सार्थकता किसी एक कृति को दूसरी कला-विधा में प्रस्तुत कर देने भर पर नहीं निर्भर करती। प्रत्येक कला अपने माध्यम में सत् का अनुभूत्यात्मक अन्वेषण है, जिससे वह अपना विशिष्ट सत्य बरामद करती है। उसके अपने माध्यम और प्रक्रिया का महत्त्व इसी बात में है कि वह किसी अन्य कलाकृति को भी एक स्रोत-सामग्री के रूप में इस्तेमाल करती हुई अपने ऐसे विशिष्ट सत्य तक पहुंचती है, जिसकी अनुभूति केवल उसके माध्यम में ही संभव है। यदि कोई कलाकार किसी अन्य माध्यम की कलाकृति को अपने माध्यम

में अंतरित करना चाहता है तो उसके पीछे उसकी प्रेरणा एक कलाकृति में अंतर्निहित सत्य के एक और रूप और आयाम की अनुभूति संभव करना है जो माध्यम के बदलने से ही संभव हो पाती है। तभी उसका माध्यम केवल संप्रेषण का नहीं, बल्कि अन्वेषण का माध्यम बन पाता है- बल्कि अन्वेषणात्मक संप्रेषण या संप्रेषणात्मक अन्वेषण का, क्योंकि तब अन्वेषण और संप्रेषण अभिन्न हो जाते हैं- कुछ-कुछ क्रोंचे की अभिव्यंजना की अवधारणा की तरह- और ऐसा बन सकने में ही कोई कला-माध्यम अपनी सार्थकता अर्जित कर पाता है।

दरअसल, प्रत्येक कला-रूप पढ़त की अनुभूत्यात्मक प्रक्रिया है- अपने माध्यम से प्रतिविशिष्ट प्रक्रिया। प्रसिद्ध भौतिकीविद् हाइजेनबर्ग का मानना है कि हम यथार्थ को उसी रूप में जान पाते हैं, जितना हमारा माध्यम हमें दिखा पाता है- बल्कि माध्यम का बीच में होना ही यथार्थ को हमारे लिए रूपांतरित कर देता है- अर्थात् हम उसे यथावत्- एज सच- जान ही नहीं पाते। प्रकाश तरंग और कण दोनों हैं, पर हमारे लिए उसका तरंग या प्रकाश के रूप में देखा जाना उस उपकरण पर निर्भर करता है, जिसके माध्यम से हम उसे मापते हैं। आइन्स्टाइन जैसे भौतिकीविद् की सापेक्षता की अवधारणा में भी किसी सत्य का उद्घाटन द्रष्टा की स्थिति के अनुसार ही होता है। इसका अर्थ यही है कि प्रत्येक पढ़त पाठक और पढ़त-प्रक्रिया के अनुसार अपना अर्थ बरामद करती है और इसलिए किसी भी कला-रूप की किसी भी कृति का अर्थ एक भिन्न कला-रूप और उसकी प्रक्रिया के अनुसार रूपांतरित होकर एक नए अनुभूत्यात्मक सत्य को उद्घाटित करता है। जैन-दर्शन में इसे ही अनेकांतवाद कहा गया है। यह इस बात का स्वीकार है कि सत्य अनंत संभावनाशील है और प्रत्येक संभावना एक वैध संभावना है- एक-दूसरे से भिन्न पर अविरोधी। किसी कृति का कोई केंद्रीय अर्थ है या नहीं, इस पर बहस हो सकती है, लेकिन, एक कला-रचना जब किसी अन्य कला-प्रक्रिया के माध्यम से पढ़ी जाती है तो वह अपने माध्यम में अंतर्निहित अर्थ का अतिक्रमण कर सकती है। यह बात न केवल एक कला-रूप में अंतर्निहित अर्थ-संभावनाओं का, बल्कि पढ़त करने वाली सृजनात्मक चेतना की अनंत संभावनाओं का भी स्वीकार है। इन सब प्रक्रियाओं में अर्थ माध्यम से प्रतिविशिष्ट अनुभूति-प्रक्रिया के रूप में अभिव्यंजित होता है- उसे किसी विचार में घटाया जाना संभव नहीं है। किसी भी कलानुभूति के लिए हेनरी मातिस का यह कथन सर्वथा संगत है कि कला की वैधता केवल इस बात में है कि 'उसे व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। किसी महान चित्रकृति के रहस्य की व्याख्या करना उसे असंशोध्य क्षति पहुंचाना है क्योंकि जब भी हम किसी चीज की व्याख्या या परिभाषा करते हैं तो उसे उस वस्तु के बिंब का स्थानापन्न या एवजी बना देते हैं।' मातिस के इस कथन का एक उपप्रमेय तब यह होगा कि कोई कला-कृति किसी अन्य कला के माध्यम से प्रभावी संप्रेषण के लिए प्रस्तुत नहीं की जाती बल्कि वह उस कला की अपनी प्रक्रिया से गुजर कर एक नया रूप ग्रहण करती, एक नया बिंब बन जाती है, और एक ऐसे विशिष्ट अनुभूत्यात्मक सत्य का उद्घाटन करती है, जो पूर्व कला-रूप में संभव नहीं। लेकिन, दूसरी ओर, यह पूर्व कला-रूप के बिना भी संभव नहीं हो सकता है। यह कहीं इस बात का भी संकेत है कि प्रत्येक कला-माध्यम की अपनी स्वायत्तता और स्वभाव होने के साथ-साथ वह अन्य कला-माध्यमों से तात्त्विक स्तर पर अंतस्संबद्ध है।

यहां यह भी उल्लेख्य है कि केवल साहित्य को ही अन्य कलाओं की स्रोत-सामग्री के रूप में

नहीं माना जाना चाहिए- अन्य कलाएं भी साहित्य रचना को प्रेरित और प्रभावित कर सकती और करती हैं। गजल या गीत की तो एक विशेषता ही उनके गेय होने में है और यह लाक्षणिकता उसकी रचना-प्रक्रिया पर महत्वपूर्ण असर डालती है। भक्तिकाव्य के बहुत से पद विशेष रागों में निषद्ध हैं, जो उन्हें एक विशिष्ट सांगीतिक रूप दे देते हैं। यह केवल कला का संगीत पर प्रभाव नहीं बल्कि संगीत से काव्य-रचना की प्रक्रिया का प्रभावित होना या कहीं दोनों का एक-दूसरे के लिए भिन्न अर्थ-संभावनाएं खोलना है। इसी तरह, नाट्य-लेखन एक साहित्यिक रचना-प्रक्रिया है, पर इस प्रक्रिया पर रंगमंचीय प्रक्रिया का निर्णायक असर पड़ता है, और इसी वजह से एक नाटक और उपन्यास की रचना-प्रक्रिया और उनका पात्रानुभव भी भिन्न हो जाता है। जब नाटक को दृश्य-काव्य कहा जाता है तो उसका तात्पर्य किसी काव्य की छायात्मक प्रस्तुति से बल्कि काव्य के अपने मूल स्वभाव, मूल व्यक्तित्व में ही दृश्य हो जाने- कहीं कि भाषा के ही अभिनय हो जाने से है। इसीलिए उसे 'वर्ड्स इन एक्शन' भी कहा जाता है। इस तरह नाट्य-लेखन स्वयं अपनी प्रक्रिया में भाषा का अभिनय हो जाना है। इसलिए, साहित्य भी अन्य कला-प्रक्रियाओं से उसी तरह अंतःक्रिया करता है, जिस प्रकार अन्य कलाएं साहित्य से। यह स्मरणीय है कि आधुनिक काल में तो अधिकांश कला-आंदोलनों का उत्स दृश्य-कलाओं से ही है, पर साथ ही, भारतीय काव्य-शास्त्र में जिस रस-सिद्धांत को केंद्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त है, उसका उत्स भी रंगमंचीय कला में है, जिसकी व्याप्ति अनंतर अन्य कलाओं में भी संभव हुई है। यही नहीं, जिस तरह साहित्य, संगीत या नृत्य, चित्र अथवा मूर्ति की प्रेरक सामग्री रहा है, उसी तरह संगीत सुनकर या किसी श्रेष्ठ दृश्य-कृति को देखकर होने वाले अनुभवों से प्रेरित साहित्य रचनाएं भी उसी तरह संभव हुई हैं, जिस प्रकार एक प्राकृतिक दृश्य या सामाजिक यथार्थ का कोई रूप देखकर।

कला-प्रक्रिया, दरअसल मानव चेतना का भावनात्मक आत्मसृजन है। यशदेव शल्य इसे भावना का आत्मविमर्श मानते हैं। मैं उसी बात को शायद थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए उसे चेतना का भावात्मक आत्मसृजन कहता हूँ क्योंकि कला-प्रक्रिया के विभिन्न माध्यमों से चेतना अपना ही अनुभूत्यात्मक उद्घाटन संभव करती है जिसे मुक्तिबोध 'भावानुभूतज्ञान' कहते हैं। यह केवल आत्म की अनुभूति नहीं बल्कि आत्मसृजन है और प्रत्येक कला-प्रक्रिया उसका माध्यम। जब एक कला-प्रक्रिया अन्य कला-प्रक्रिया से अंतःक्रिया करती है तो एक कला-रूप में सृजित आत्म का एक नए रूप में सृजन संभव होता है। सभी ज्ञानेंद्रियां ज्ञान के माध्यम हैं, जिनका अनुभव वस्तुगत के अनुभव के माध्यम से आत्मजगत में हमारा प्रवेश संभव करता है। इसी अर्थ में गोविन्दचंद्र पांडे प्रत्येक अनुभूति को सारतः आत्मानुभूति ही मानते हैं क्योंकि प्रत्येक अनुभूति में दोहरी सांकेतिकता होती है। चेतना के विषय की कोई भी अनुभूति अंततः विषयी या आत्म के होने की अनुभूति भी होती है। इसलिए कला जो कुछ सृजित करती है, वह अंततः चेतना का आत्मसृजन भी हो जाता है।

चेतना या आत्मसृजन जैसी पदावली के प्रयोग के कारण यह आशंका होना निराधार नहीं है कि उन्हें किन्हीं प्रचलित धार्मिक या आध्यात्मिक अर्थ में समझा जा सकता है। अतः यह स्पष्ट कर देना अनावश्यक नहीं माना जाना चाहिए कि यह आत्म मनुष्य में विकसित वह चेतना है, जो उसकी अद्यतन जैविक विकास-प्रक्रिया का सुफल है। इस चेतना के विकास में जितना योगदान विभिन्न वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का है, उतना ही मनुष्य की भावात्मक प्रक्रियाओं का भी। मनुष्य एक भौतिक

अस्तित्व अवश्य है, पर वस्तु नहीं। वह एक भावात्मक सत्ता भी है और उसकी भावात्मक प्रक्रियाओं का भी उसके अद्यतन विकास में बराबर का योगदान है- बल्कि शायद कुछ अधिक ही। शायद तभी आइंस्टाइन जैसा वैज्ञानिक यह स्वीकार कर पाता है कि कल्पना ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण है। डेविड बोम तो स्वयं भौतिकी को ही एक कला-रूप की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार 'भौतिकी अंतर्दृष्टि का एक रूप है और इसी कारण यह कला का ही एक रूप है।'

दरअसल, जब हम जीवन के विकास की बात करते हैं तो उसके चेतना-रूप में विकसित होने का तात्पर्य केवल विचार-सामर्थ्य या कर्म-सामर्थ्य का ही, बल्कि भाव-सामर्थ्य या संवेदनशीलता का विकास भी है, जिसमें विभिन्न कला-प्रक्रियाओं की अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका रही है। स्वयं डार्विन ने 'डिसेंट ऑफ मैन' में स्वीकार किया था कि जीवन के मानव-चेतना के रूप में विकसित होने में ही नैतिकी का उत्स है और यदि सूसन लैंगर की मानें तो उसी में कलात्मक सृजनात्मकता का भी। लैंगर का मत है कि अपने विकास और सहजीवन के स्तर पर कुछ प्राणी सहज रूप से अनुभव का प्रतीकात्मक रूपांतरण विकसित कर लेते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि कला-रचना या कला-आस्वाद एक प्राकृतिक रूप से विकसित हुई सहज वृत्ति है, जो मानवीय अस्तित्व के संरक्षण, संवर्धन और सृजनात्मक विकास के लिए उत्तनी ही अनिवार्य है, जितनी प्राकृतिक चयन की वृत्ति और प्रक्रियाएं। भावों की अनुभूति और उनका प्रतीकात्मक रूपांतरण चेतना द्वारा जीवन-परिस्थिति से अंतःक्रिया द्वारा अपना वह परिवर्धन और रूपांतरण है, जिससे मानव-चेतना का संरक्षण-संवर्धन हो सके। यही चेतना का भावात्मक आत्मसृजन है, जिसका माध्यम सभी कला रूप और उनकी प्रक्रियाएं हैं और ऐसा वे न केवल अपनी विशिष्ट प्रक्रियाओं के माध्यम से बल्कि पारस्परिक अंतःक्रिया द्वारा भी करती हैं और इस तरह कलाओं का अंतस्संबंध केवल एक कलाकृति की अन्य कला-माध्यम में संप्रेषण प्रस्तुति मात्र न रहकर मानव-चेतना की विकास-प्रक्रिया के विभिन्न रूपों की अंतः क्रिया से प्रसूत सावयविकता हो जाता है इसलिए, हम सौंदर्यानुभव या सौंदर्यशास्त्र की बात कर पाते हैं, जिसके अंतर्गत साहित्य सहित सभी कलाएं आ जाती हैं।



आत्मकथा, परकथा और भारतीय परंपरा

मुकुंद लाठ

मुझे जब आत्मकथा पर कुछ कहने के लिए कहा गया तो मैंने यही समझा कि न्यौता इसलिए मिला है कि मैंने हिंदी की एक पुरानी, शायद सबसे पुरानी, आत्मकथा- बनारसीदास लिखित *अर्द्धकथानक* पर कुछ काम किया है, और उसी में प्रसंगवश भारत में आत्मकथा के विषय में विचार जताए हैं।

मैं इस असमंजस में पड़ गया कि अब कहूंगा क्या? जो कहना था कह ही दिया है। पर एक सवाल मन में आया। आत्मकथा का तो स्पष्ट ही है, आत्म से संबंध होना चाहिए, और अपने आप से बढ़कर आत्म कौन हो सकता है? क्या मुझे अपने में ही टटोलकर नहीं पूछना चाहिए कि अगर मैं आत्मकथा लिखूं तो कैसे लिखूं, कैसी लिखूं? लिखूं कि नहीं? नहीं तो क्यों नहीं? अब तक मैंने आत्मकथा के बारे में जो कुछ कहा है उसका मेरे अपने आत्म से कोई संबंध नहीं है- है भी तो बहुत दूर का है। ऐसा संबंध जैसा मेरा सब कुछ के साथ है, आकाशगंगा के साथ भी है, ऐसा संबंध जो किसी भी ज्ञाता-प्रमाता का, किसी जानने समझने वाले का, अपने ज्ञान के विषय के साथ होता है।

प्रश्न उठता है : मेरा अपने आत्म के साथ क्या कोई विशेष 'आत्मीय' संबंध है जो किसी अन्य विषय के साथ नहीं हो सकता? क्या मैं अपने आप को कुछ ऐसे जानता हूँ जैसे मैं किसी और को जान ही नहीं सकता?

यह प्रश्न उठाना कुछ अजीब सा लगता है क्योंकि मैं अपने साथ जब अपने आत्म के संबंध की बात करता हूँ तो मुझे एक नहीं दो मिल जाते हैं- एक मैं और एक मेरा आत्म, एक मैं जो अभी बैठा अपने आत्म की चर्चा कर रहा हूँ और एक मेरा आत्म। एक मैं तो वही है जो ज्ञात-प्रमाता है, जानने समझने वाला है। दूसरा 'आत्म' क्या है जिसकी आत्मकथा होती है?

यहां पर पुराना रूपक शायद पूरा उतारा जा सकता है। एक ही डाल पर दो चिड़ियां हैं, दोनों साथ है, सखा है, अभिन्न हैं, एक भोगती है, झेलती है, एक उसको देखती रहती है। आत्मकथा उस चिड़िया की होती है जो भोगती है, झेलती है, करती है। कथा कहने वाली चिड़िया दूसरी चिड़िया है, जो देखती है, द्रष्टा है। पर यह देखने वाली चिड़िया, जो कि कथा कहती है, वह चिड़िया सांख्य के पुरुष की तरह विशुद्ध चैतन्य, अपरिणामी और इसी कारण अपरिवर्तनशील द्रष्टा नहीं है। दोनों चिड़ियां एक दूसरे से गुथी हुई हैं, दोनों परिणामी, परिवर्तनशील हैं। एक का परिवर्तन दूसरे पर प्रभाव डालता है। पर जो दूसरी देखने वाली चिड़िया है वह कुछ अलगाव रखती है, पहले को तोलती जांचती रहती है, उसमें विमर्श अधिक है, वह अपने साथ की चिड़िया को ही नहीं तोलती-जांचती है, वह अपने चारों ओर के जगत को भी तोलती, जांचती, जानती रहती है। वह जब पहली चिड़िया की कथा

कहती है तो आत्मकथा होती है।

कैसे होती है यह कथा? दूसरी कथाओं से इसमें क्या अंतर होता है? इसका अपना क्या विशेष स्वरूप है?

इन प्रश्नों के उत्तर में मैं आत्मकथा का लक्षण आंकने की चेष्टा करता हूँ। भारत में आत्मकथा न रही हो, लक्षण करने की परंपरा तो रही ही है। मैं आपके सामने संक्षेप में लक्षण के कुछ सूत्र रखता हूँ, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति के रंध्र आप जांचिएगा। लक्षण करने के बाद इस बात पर विचार करूंगा कि भारत में आत्मकथा का अभाव-सा क्यों रहा है। उत्तर के कुछ द्वार लक्षण से खुलेंगे, ऐसा मुझे भरोसा है।

आत्मकथा के दो स्तंभ हैं : आत्म और कथा। दोनों के बिना आत्मकथा नहीं बनती।

इसलिए केवल अपने अंदर झांक कर अपनी चित्तवृत्तियों के प्रवाह का एक चित्र आंक देना, यह आत्मकथा नहीं होगी क्योंकि एक तो इसमें कथा नहीं होती, दूसरे आत्म भी कितना सामने आता है? अपना इतिवृत्त लिखते समय तक का इतिहास कहे बिना आत्मकथा नहीं हो सकती। इस इतिवृत्त में चित्तवृत्ति की भी भूमिका होती है पर चरित : करनी, कथनी और घटनाक्रम : के व्यूह में रहते हुए ही उस भूमिका का कोई अर्थ बनता है।

चरित की महिमा को मानें तो आत्मकथा में पर की भूमिका भी उतनी ही बड़ी रखनी होगी जितनी आत्म की। क्योंकि पर न हो तो चरित शब्द ही निरर्थक है। चरित पर के प्रति होता है। सच पूछें तो आत्म एक केंद्र है जो दूसरों के साथ के संबंधों से ही बनता है, दूसरे के बिना वह एक रीता सा, न कुछ सा हो जाता है। इन संबंधों की कहानी इनके साथ उलझी हुई घटनावली का क्रम, विस्तार, चरित का पसारा, यही आत्मकथा है। इसलिए इसको आत्मचरित या आत्मवृत्त भी कहा जाता है। वेदांत की शब्दावली में कहें तो आत्मकथा व्यवहार के आत्म की ही होती है, परमार्थ के आत्म की नहीं, और पर के बिना व्यवहार कैसा?

दूसरों के साथ के दो प्रकार के संबंध ऐसे हैं जो आत्म को कथा के प्रांगण में ला उतारते हैं। भावना और संकल्प के संबंध, या कहना अधिक उचित होगा कि भावना और कर्म के संबंध। कर्म में संकल्प आ ही जाता है। इन्हीं के क्रम से, उत्तर चढ़ाव से, संघर्ष से, परिवर्तन-परिणाम में, इतिवृत्त बनता है, जो कथा का आधार होता है।

मैंने यहां जानबूझकर भावना और कर्म या संकल्प को ही कथा के लिए आवश्यक माना है। इसके बाहर भी ज्ञान, सृजन, भावना और अध्यात्म का विस्तार है जिनमें आत्म प्रयत्नशील होता है। पर ये हमें आत्मकथा के क्षेत्र से बाहर लगते हैं। इन्हीं बातों को लीजिए जो मैं अभी कर रहा हूँ। जो विचार, मीमांसा, मनन- कुछ भी कहिए- उसकी जो रूपरेखा, चलन, उपज आपके सामने रख रहा हूँ वह मेरे आत्म का, मेरे जीवन का अभिन्न अंग है। हो सकता है इस तरह का चिंतन-मनन मेरे लिए जीवन का सबसे बड़ा अंग हो। किंतु शायद इसीलिए यह आत्मकथा नहीं है क्योंकि ऐसी बातों से कथा नहीं बनती।

चिंतन-मनन का एक अपना स्वतंत्र जीवन, अपना स्वच्छंद सा अस्तित्व होता है जिसको मैं अपनी कथा से अलग कर सकता हूँ। उसका संबंध ज्ञान, युक्ति-तर्क के जगत् से अधिक जुड़ा है, मेरी भावना और संकल्प से उतना नहीं।

चिंतन या ज्ञान ही नहीं, यह बात कला और अध्यात्म के बारे में भी कही जा सकती है।

अध्यात्म में तो जिस आत्म की तलाश होती है वह कर्म और भावना से ही नहीं, सब कुछ से ही अछूता, चिन्मात्र, संवित्-मात्र होता है, व्यवहार से सर्वथा परे। उसकी कथा का प्रश्न ही नहीं उठता। कहा जाता है कि उसकी मीमांसा भी संभव नहीं है। हम कह सकते हैं कि अध्यात्म की साधना भी हो ही सकती है। उत्तर में यही कहूंगा कि साधक की कथा उसकी साधना के लिए बहिरंग सी होती है, साधना की गुहा के बाहर ही कथा को रुक जाना पड़ता है, अंदर उसका प्रवेश संभव नहीं है। बाहर की हलचल को ही वह कूतती रहती है। फिर भी साधना की अंतरंग यात्रा का वर्णन शायद एक सीमा तक हो भी सकता है। पतंजलि के योगसूत्रों में उसकी एक रूपरेखा है, पर ऐसे वर्णन को हम कथा नहीं कह सकते, कहेंगे तो केवल लाक्षणिक अर्थ में ही।

साधना मार्ग के यात्री पर ही नहीं यह बात किसी लौकिक यात्री पर भी पूरी उतरती है। किसी अंतरिक्ष यात्री को लीजिए, यात्रा के पहले की सारी तैयारियों में जो भावना और कर्म का स्पंद और संघर्ष होता है उसकी कथा बन सकती है। यात्रा शुरू हो जाए तो फिर यात्री अपने चारों ओर के नए जगत के आकलन में, उसको जानने-समझने की चेष्टा में लगा जाता है, जिसको ज्ञान की चेष्टा कह सकते हैं। उस ज्ञान का वर्णन हो सकता है, उसका खंडन-मंडन हो सकता है, उसकी चर्चा हो सकती है, पर कथा नहीं। इसलिए अंतरिक्ष यात्रा पर कोई कहानी-कथा बनानी हो तो उसमें नाटक का सा भाव लाना पड़ता है : दूसरे शब्दों में, उसमें कथा के गुणधर्म, भावना और कर्म के स्पष्ट संघर्ष का समावेश करना पड़ता है। आत्म के साथ पर को भी लाना पड़ता है।

एक बात और कहूंगा। हालांकि कथा के लिए भावना और कर्म दोनों का गुंथन आवश्यक होता है पर सच पूछा जाए तो भावना से कर्म का पलड़ा भारी पड़ता है। केवल भावना की अभिव्यक्ति के लिए हम संगीत का या कविता का, या नृत्य का सहारा ले सकते हैं, जरूरी नहीं कि कोई कहानी ही हो। पर कर्म के, चरित के बिना कथा नहीं बन सकती। और कर्म से अभिप्राय यहां मानव-परिस्थितियों में किए गए कर्म से है जिसमें आत्म और पर के संबंध का बड़ा स्थान रहता है; विशेषकर आत्म के अन्य आत्मों के साथ के संबंधों का। इन्हीं के माध्यम से, इन्हीं की अभिव्यक्ति से, भावना प्रस्फुट की जाती है। भावना कर्म का अंग बन कर आती है।

कथा के इस लक्षण को ध्यान में रखते हुए अब मैं एक और प्रश्न का उत्तर दूँगा जो अकसर उठाया जाता है : भारत में आत्मकथा क्यों नहीं रही?

अपने उत्तर पर आने से पहले एक पूर्व पक्ष की चर्चा करता हूँ। पूर्व पक्ष की उत्थापना मैं सुधीर कक्कड़ के शब्दों से करूंगा, पर जिस मान्यता को उन्होंने शब्द दिए हैं वह काफी साधारण है। सुधीर कक्कड़ को प्रतिनिधि के रूप में इसलिए ले रहा हूँ कि उन्होंने हाल ही में अपनी पुस्तक *शमन्स, डॉक्टर्स एंड मिस्टिक्स* की भूमिका में इस धारणा का प्रतिपादन किया है।

सुधीर कक्कड़ की बात को विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं है, वह पुरानी, जानी मानी सी बात है। दो सदियों से पश्चिम के विद्वान कहते चले आ रहे हैं। 'भारत में आत्मकथा इसलिए नहीं रही कि भारत जिस आत्म की बात करता है उसकी कथा हो ही नहीं सकती। आत्मानं विद्धि : आत्मा को जानो : यह विधान ग्रीस और भारत दोनों संस्कृतियों का एक मूलमंत्र रहा है। पर आत्मा का अर्थ दोनों के लिए भिन्न था। ग्रीस में आत्मा का अर्थ था कामना, संकल्प, भावना, बुद्धि आदि का आधार। इसलिए आत्मा को जानने का अर्थ था अपने भीतर झांकते हुए आत्मा के इन गुणों के

स्वरूप को समझना, उनके स्वभाव की थाह लेना, उनके विस्तार के राजमार्गों पर, जनपथों पर, रथ्याओं पर घूम घूम कर उन्हें आंकना-उकेरना। इसलिए पश्चिम में मानव-संकल्प और भावना का सूक्ष्म चित्रण संभव हुआ है। वहां के मनीषी, वहां के कलाकार संकल्प और भावना की गलियों में घूम-घूम कर इनको टटोलते रहे हैं।

‘एक और बात ध्यान में रखने की है। ग्रीस में यह भी विश्वास रहा है कि कामना, संकल्प, भावना, बुद्धि ये काल की संतान हैं, परिवर्तनशील हैं। इनको परखने के लिए इनके परिणामी स्वरूप का अवधान अनिवार्य है। इन्हीं परिवर्तनों की जब हम कहानी कहते हैं तो आत्मकथा हो जाती है।

‘भारत में आत्मा को अकाल, अपरिणामी, निरंजन, निराकार, केवल, सच्चिदानंद रूप माना जाता रहा है। उसके मानसिक गुण : कामना, संकल्प, भावना, बुद्धि सभी अवान्तर या गौण ही नहीं, वस्तुतः मिथ्या हैं, माया के प्रपंच हैं, उपाधि हैं, आवरण हैं। इनको परे हटाकर ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, इनके माध्यम से नहीं। हमारे यहां आदर्श चित्तवृत्ति के निरोध का था, चित्तवृत्ति के स्वरूप को समझने का नहीं; किन परिस्थितियों में ये कैसा काम करती हैं, इसको आंकने-कूतने का नहीं। आत्मा के जिस ध्रुव, अटल, अविकल स्वरूप की भारत में कल्पना-धारणा रही है ऐसे काल, परिणाम के बंधन से अछूते आत्मा की कथा नहीं हो सकती।’

सुधीर कक्कड़ जिस तरह की बात कर रहे हैं वह आज आम सी हो गयी है : पश्चिम ऐसा है, भारत ऐसा है, यों कह कर हम दोनों पर एक अलग-अलग रंग का ठप्पा लगा देना चाहते हैं। दोनों की समृद्धि, बहुमुखी प्रवृत्तियों को एक-एक अलग सरल रेखा में बांध देना चाहते हैं, ऐसी रेखाओं में जो एक-दूसरे से बिल्कुल विमुख चलती हैं। दोनों की तुलना करने के प्रयास में जो गहरी उलझनें आती हैं उनसे हम यों किनारा कर लेना चाहते हैं।

ग्रीस की आत्म-विषयक धारणाओं को लीजिए।

सुकरात को हम ग्रीक दर्शन का गोमुख तो नहीं पर गंगोत्री तो कह ही सकते हैं। कहते हैं सुकरात की दर्शन-यात्रा का आरंभ ‘आत्मानं विद्धि’, इस मंत्र की प्रेरणा से ही हुआ था। उनके और उनके प्रधान शिष्य प्लेटो के मत में आत्मा का स्वरूप आत्मा की उस धारणा से बहुत भिन्न नहीं था जिसको कक्कड़ ने ‘भारतीय’ कहा है। उनके लिए आत्मा अविनश्वर है, ध्रुव है, अकाल, अपरिणामी, अविकारी है, शरीर और पार्थिव संसार के प्रवाह और परिवर्तन से परे है, निर्लिप्त है : आत्मा उन अच्युत, अटल, आदर्श, सत् स्वरूपों का द्रष्टा है जिनकी यह पार्थिव संसार धुंधली, दूर-की-धूसर छाया मात्र है। ऐसे आत्मा की कथा नहीं हो सकती। अरस्तू देहात्म-युगलवादी थे, आत्मा और शरीर को एक युगनद्ध, अयुतसिद्ध इकाई मानते थे। दोनों एक-दूसरे के बिना सिद्ध ही नहीं हो सकते। ऐसे आत्मा को निःसंदेह कथा की भूमिका में उतारा जा सकता है। पर भारत में भी ऐसे आत्मदर्शन का अभाव नहीं है जो आत्मकथा का आत्मा बन सकता हो। न्याय दर्शन के आत्मा को लीजिए। आत्मा वहां सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान का आश्रय है। वह कथा का पात्र हो ही सकता है।

न्याय दर्शन भारत में बड़ा सर्वतोव्यापी दर्शन रहा है। उसके प्रभाव को इसी बात से समझा जा सकता है कि सदियों तक उसके ज्ञान के बिना कोई सही अर्थ में पढ़ा-लिखा नहीं कहलाता था। जो उसको नहीं मानते थे वे भी उसकी भाषा अपना लेते थे, उसी की दार्शनिक शैली में बात करते थे। न्याय, और साथ में वैशेषिक, इन दोनों में ही नहीं, अन्य दार्शनिक संप्रदायों, जैसे मीमांसा में,

भी आत्मा की न्याय जैसी ही धारणा थी : आत्मा कर्ता और भोक्ता दोनों है, एक नहीं अनेक है, अन्य आत्माओं के साथ रहता है। आत्मकथाकार को और क्या चाहिए? पश्चिम और भारत दोनों के ही बारे में सुधीर कक्कड़ का मत एकांगी है। सारे भारतीय चिंतन पर एक ही मायावाद की छाप लगा देना जिज्ञासाहीन अज्ञान का लक्षण है।

तो फिर वही प्रश्न फिर से उठता है : भारत में आत्मकथा क्यों नहीं लिखी गई? मैं समझता हूँ- उत्तर हमारे यहां की आत्मा की धारणाओं में नहीं, कथा की धारणा और परंपरा में ढूँढना चाहिए। अलंकारशास्त्र के विधि-विधान, बंधन, मर्यादाओं की शृंखला, इनमें हमको उत्तर के कुछ महत्वपूर्ण सूत्र मिल सकते हैं।

कथा-विषयक अलंकारशास्त्र की परंपरा के मूल में हमारे यहां *नाट्यशास्त्र* है : समाज-विधान में जो स्थान मनु का है कथा-विधान में वही स्थान भरतमुनि का है। भरत ने बात नाट्य की की है पर यह स्वीकार किया जाता था कि काव्य मात्र का आदर्श नाट्य है। कवि, विशेषकर कथाकार, अपनी कथा को नाटक के ही सांचे में ढालकर सफल हो सकता है।

यह कहना तो ज्यादाती होगी कि भरत के शासन-विधान ने परवर्ती कथा-परंपरा की हर छोटी छोटी बात को मर्यादित किया और हर कथाकार की लेखनी पर सांकल डाल दी। पर फिर भी उनके कई विधान तो जैसे हमारी घुट्टी में घुल मिल गए और अब भी उनके संस्कार हममें काम करते हैं। भरत की दृष्टि हमारी आंखों में बस गई है; जहां कथा लिखने की बात आती है, चाहे आत्मकथा ही क्यों न हो, हम उन्हीं की दृष्टि से इतिवृत्त को देखते-आंकते हैं।

भरत नाट्य को अनुकृति कहते हैं, लोक की- बल्कि त्रिलोक की- अनुकृति। नाटक लोक को दृश्य रूप से हमारे सामने रखता है। सच पूछिए तो लोक से उनका तात्पर्य हिंदी के 'लोग' या 'लोगों' से ही है। नाटक मनुष्यलोक की कहानी होती है, मनुष्य के सुख, दुःख, वासना, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न का इतिवृत्त, मनुष्य के एक-दूसरे से संबंधों की कहानी। देवता की कहानी नहीं हो सकती, क्योंकि कहानी ऐसे ही प्राणी की बनती है, जिसमें सुख, दुःख, वासना हो और जिसको अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रयत्न करना पड़े। इसलिए भरत कहते हैं कि देवता को नाटक में दिखाना हो तो उसे भी मनुष्यवत् ही दिखाना होगा और भारत देश में दिखाना होगा। यही कर्मभूमि है। यहीं लोगों को कुछ पाने के लिए कुछ करना पड़ता है। देवलोक में न सुख-दुःख होता है, न कार्यारंभ, वहां के बारे में नाटक नहीं हो सकता, कहानी क्या होगी? (*नाट्यशास्त्र*, गायकवाड़ संस्करण, 18, 97-00)

पर नाटक मनुष्यलोक की अनुकृति होते हुए भी प्रतिबिंबवत् अनुकृति नहीं है। नाटक की अनुकृति नाट्यधर्मी होती है। नाटक लोक को आधार बना कर एक अलग ही लोक की सृष्टि करता है। नाटक का यह लोक नाट्यधर्मी इसलिए कहलाता है क्योंकि यह लोक का एक विशेष प्रकार का रूपांतरण होता है। नाट्यधर्मी रूपांतरण के उद्देश्य होते हैं रस की निष्पत्ति और धर्म की शिक्षा। इनकी सिद्धि के लिए नाटक के कलेवर को एक विशेष सांचे में ढालना आवश्यक है जिसको हम औचित्य का सांचा या मर्यादा कह सकते हैं। लोक को यों का यों दिखा देने से ये दोनों उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकते।

रसनिष्पत्ति और धर्म-शिक्षा दोनों के लिए औचित्य की मांग एक नहीं थी। इनकी पूर्ति के लिए दो अलग लक्ष्मण-रेखाएं बांधी गई थीं। उनके ब्यूहवत् वलय ने एक ऐसी परिधि बना दी जिनके अंदर

रहना कथा लिखते समय हमारा स्वभाव सा बन गया।

भरत भाव-विशेष की एक परिणति-विशेष को रस कहते हैं। भरत के लिए रस एक नहीं अनेक हैं। भावों की संख्या रसों से भी अधिक है। पर कुछ ही भाव ऐसे हैं जो परिणत होकर रस बन सकते हैं। उनके नाम गिनाने की यहां जरूरत नहीं, हम सभी जानते हैं। पर एक बात ध्यान देने की है। कोई भाव अकेला रहकर रस में परिणत नहीं होता, वह चाहे कितना ही उपयुक्त क्यों न हो। अन्य भावों के साथ मिलकर ही (जिनको संचारी भाव कहा जाता है) उपयुक्त भाव विशेष (जिसको स्थायी भाव कहते हैं) रस की कोटि तक पहुंच पाता है। सच तो यह है कि संचारी के बिना स्थाई की कोई स्थिति नहीं। एक भाव अन्य भावों की अपेक्षा रखता है। स्थाई उसी भाव को कहते हैं जो अन्य भावों की सहायता से घनीभूत किया जा सके, जिसको रस की ओर ले जाया जा सके। भरत ने कुछ ही भावों को स्थाई माना था- आगे चलकर स्थाई भावों की संख्या बढ़ गई, संचारी भावों की भी, पर बात नहीं बदली। भरत में, और बाद के रस-चिंतन में यह एक अटूट नियम बना रहा कि भाव विशेष के साथ कुछ ही अन्य भावों का तालमेल बैठता है, सबका नहीं। नाटककार या कथाकार जब किसी भाव को घनीभूत करना चाहे, उसे रस को कोटि तक पहुंचाना चाहे, तो उसे सावधान रहकर देखना होगा कि जिस भाव को वह स्थाई भाव मान रहा है उसके साथ किन संचारी भावों का तालमेल है, किनका नहीं। इस औचित्य का पालन नहीं करने पर स्थाई का स्थायित्व टूट जाएगा या बिखर जाएगा। अलंकारशास्त्र के किसी भी ग्रंथ को देखिए, किस स्थाई के साथ कौन सा संचारी जाता है, कौन सा नहीं, इस की तालिका मिल जाएगी। इस नियम को तोड़ने से रसाभाव का भयंकर दोष हो जाता है।

नाटक या कथा की प्रस्तुति में इस बंधन के अपवाद मिल जाएंगे पर उन अपवादों से परंपरा की मूल धारा नहीं बदली। सच बात तो यह है कि भावों को एक गिनती में बांध देना- (भरत में 49 भाव हैं- चाहे गिनती कुछ बढ़ा ही क्यों न दी जाए, जैसा बाद में हुआ) और उस गिनती को विधान मान लेना, अपने आप में साहित्य को कुंठित और संकुचित कर देता है। ऊपर से अगर यह नियम भी हो कि कौन सा भाव किस भाव से मेल खाता है, तब तो सीमा और घिरकर कटघरा सा बन जाती है।

भावों के तालमेल के औचित्य का ऐसा नियम बांधना स्वभावतः ही नाटक या कथा को वास्तव से हटाकर नाट्यधर्मी बना देता है।

जिस दूसरे औचित्य-बंधन की हमने बात की : आचार-व्यवहार या धर्म का औचित्य : वह और भी वास्तव-विद्वेषी है। करनी, कथनी, मनुष्य से मनुष्य का पारस्परिक संबंध, यहां तक कि कौन क्या सोचता है इन सबका एक आदर्श था, जो धर्मशास्त्रों से, मर्यादा-ग्रंथों से या परंपरा से लिया गया था। नाटक या कथा के पात्रों का इन आदर्शों की परिधि में ही विचरण कराया जाता था। इन आदर्शों का जाल जीवन की हर छोटी से छोटी बात को भी अपनी बांह में घेरे हुए था। पिता का पुत्र से, पति का पत्नी से, मां का बेटे से, बड़े का छोटे से, नीच का ऊंच से संबंध कैसा हो, इसकी मर्यादा थी; कौन क्या करे, कैसे करे, क्या सोचे, कैसे सोचे, क्या कहे, कैसे कहे, इसकी मर्यादा थी। वास्तव में जीवन में मर्यादा का कितना पालन होता था यह बात और है। विश्वास करना कठिन है कि यह इस सीमा तक होता था। पर नाटककार या कथाकार मर्यादा तोड़े तो रसभंग करने का दोषी हो जाता था। मैं नहीं कहूंगा कि लेखन के लंबे इतिहास में मर्यादाएं टूटी नहीं हैं, कुछ लेखकों ने तोड़ी हैं। लेखन की कुछ परिपाटियां भी ऐसी रही हैं जिनमें मर्यादाओं की खिल्ली उड़ाई गई है : जैसे भाण

में। पर मूल धारा बनी रही है, आज भी हिंदी-फिल्मों में देखी जा सकती है।

कहना नहीं होगा कि कथा लिखने में नाट्यधर्मों का ऐसा दोहरा औचित्य-प्रधान आदर्श कथा को यथार्थ से दूर ले जाता है। चरित्र चाहे काल्पनिक हो या वास्तव, चरित्र लिखने का आदर्श यही था। *हर्षचरित* को लीजिए : बाण यही दिखाने में लगे रहते हैं कि उनके चरित्रनायक ने ऐसा कुछ नहीं किया जो उसे नहीं करना चाहिए था। इसलिए बाण में जो बात उभरकर आती है वह उनका चरित्रनायक नहीं उनका काव्य है। संस्कृत में *हर्षचरित* जैसी वास्तव के जीते जागते चरित्रों की और भी कथाएं हैं पर सभी में औचित्यप्राण चित्रण की चेष्टा है। जहां अन्य की कथा ऐसी नाट्यधर्मों हो वहां आत्मकथा की क्या गति होगी? इसलिए अपने बारे में कथा लिखने की परंपरा ही नहीं बनी। ऐसा नहीं कि लोग अपना परिचय नहीं देते थे : कौन है, कहां जन्में, किस वंश में, ऐसी औपचारिक बातें खूब मिल जाएंगी। आत्म-शास्ति भी मिल जाएगी, पर आत्मचरित्र नहीं। कुछ आधे-अधूरे से प्रयास हैं, जैसे *हर्षचरित* में बाण का। पर बाण ने लगता है इसलिए थोड़ा सा ही कह कर मुंह पर लगाम लगा की क्योंकि उनकी कहानी आवारगी की कहानी थी, कथा की पारंपरिक लीक पर चलाई ही नहीं जा सकती थी।* *बाणभट्ट की आत्मकथा* आज हजारी प्रसाद की लेखनी से संभव थी, तब नहीं।

किसी भी परंपरा में अपवाद मिल ही जाते हैं। बाण के छोटे से अपवाद से कहीं बढ़कर बनारसी का *अर्धकथानक* है। पर उसमें भी एक आधे-अधूरेपन का, एक खोखलेपन का बोध होता है। कथा की जिस परंपरा में बनारसी लिख रहे थे उनके पास ऐसा कोई आदर्श, ऐसी कोई सिद्ध कृति ही नहीं थी जिसको आधार बनाकर वे अपनी कहानी को और समृद्ध बनाते। बल्कि कथा कहने की धारा तो उलटी दिशा में बह रही थी। अचंभा नहीं कि बनारसी के बाद आधुनिक नाट्यधर्म-विरोधी परंपरा के आने तक हमारे यहां जो आत्मकथा, या यों कहना चाहिए कि आत्मपरिचिति के टुकड़े लिखे गए वे *अर्धकथानक* से भी अधूरे हैं।

भारत में ही कथा कहने की एक और परंपरा भी है जहां नाट्य-परंपरा के धर्मों का बंधन नहीं है, जहां धर्म के औचित्य को एक अनिवार्य बंधन नहीं मान लिया गया है, जहां धर्म क्या है इस प्रश्न को करनी और कथनी दोनों का संघर्ष दिखाते हुए महत् कथा में उतारा गया है। इस परंपरा का सबसे बड़ा ग्रंथ है *महाभारत* : यों इसके छिटपुट निदर्शन अन्य पुराणों में भी मिल जाते हैं। पर कथा कहने की नाट्यधर्मों परंपरा हम पर इतनी हावी हुई कि उसने इस परंपरा को भी अपने रंग में रंग लिया। विडंबना की बात है कि *महाभारत* के आख्यानकों को लेकर जो नाटक, चम्पू, चरित्र, महाकाव्य, कथाएं लिखी गईं सबने *महाभारत* को भारतकथा की जगह भरतकथा बना दिया : नितांत नाट्यधर्मों।

* यहां अभिनव की एक बात प्रसंगवश कहता हूं। अभिनव कहते हैं कि नाटककार जब किसी राजा को चरित्रनायक बनाए तो उसे किसी प्राचीन पुराणसिद्ध राजा के आदर्श चरित्र को ही लेना चाहिए, वास्तव के राजा को नहीं, क्योंकि वास्तव के राजा का चरित्र आदर्श चरित्र नहीं होता। उसको नायक बनाने पर उसे आदर्श रूप में दिखाना पड़ेगा और बात बिगड़ जाएगी : किसी दर्शक को चरित्र की सच्चाई पर विश्वास नहीं होगा और उसके बिना उसके मन में रस का बोध नहीं जग पाएगा। सचमुच के राजा को आदर्श चरित्रनायक बनाना ऐसा होगा जैसे रावण को या योगनंद को आदर्श के रूप में खड़ा करना। - “त्रेन वर्तमानराजचरितं वावर्णनीयमेव, तत्र विपरीतप्रसिद्धि- बाधयाध्यारोपस्याकिञ्चित्करत्वात् योगनन्दरावणदिविषयचरिताध्यारोपवत्।”

नाट्यशास्त्र, 18, 12 पर *अभिनव भारती* (गायकवाड़ संस्करण, खंड 2, पृ. 413)

ऋषिका महादेवी

गगन गिल

यह केवल संयोग नहीं हो सकता कि आज जब मुझसे यहां महादेवी जी पर बोलने के लिए कहा गया है, उनके अपने शहर इलाहाबाद में, तो मैं न केवल उनकी कर्म-भूमि पर खड़ी हूं, बल्कि चांद-सितारों के उस भारतीय समय विशेष में भी, जब वर्ष में एक बार आकाश में हमारे पूर्वज उतर कर आते हैं, हमें देखने के लिए। मैं इस समय चाहकर भी इस तथ्य को अलक्षित नहीं कर सकती कि वह हमारी पूर्वजा थीं, कि अपने पीछे वह अपनी मानस संतानों की एक भरी-पूरी बिरादरी छोड़ गई हैं, कि देवी सरस्वती के नाते एक आंतरिक नाता मैं भी उनके साथ जोड़कर बैठी हूं।

हो सकता है, एक स्त्री के बारे में बात शुरू करने का यह ढंग ठेठ औरताना हो, पांव रखने से पहले अपनी रेखा खींच लेना- कि देखिए, मैं यहां हूं, इस घेरे के भीतर। यहां आपका कोई प्रवेश नहीं। आप चाहें तो मेरे साथ जगह बदल सकते हैं, आप इस घेरे के भीतर और मैं इससे बाहर जा सकती हूं, दूसरी तरफ, लेकिन तब भी आपके-मेरे बीच यह रेखा रहने वाली है।

सच तो यह है कि महादेवी ने अपने जीवनकाल में, अपनी रचना यात्रा में, एक स्त्री की सामाजिक स्थिति के भले कितने ही छिलके उतारे हों, बदला आज भी कुछ नहीं है बल्कि अपनी अनेक रूढ़ियों में, अपेक्षाओं और मान्यताओं में, हम और भी पीछे जाते गए हैं, खुलने की बजाय हमारी खिड़कियां बंद और जाम ही हुई हैं।

इधर के दशकों में भारतीय स्त्रियों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति भले कुछ बेहतर हुई हो, उनके तनाव, उन्हें तरह-तरह से डराते भय वैसे ही बने हुए हैं। न केवल आज स्त्री के आत्म-बिंब दरिद्र हैं, कई बार तो ऐसा मालूम होता है, उसके पास हमारी सभ्यता, संस्कृति, सामूहिक स्मृति की छोटी-मोटी पूंजी भी नहीं बची, जो कम से कम कुछ दशक पहले तक उसकी मां-नानी के पास थी। यदि ऐसा न होता तो ऐसे विचित्र और हास्यापद आत्मबिंब एक गहरी संस्कार भूमि पर इतना आकर्षक होकर कैसे ठहर सकते थे?

‘प्रसाधन एक स्त्री का अपमान हैं। इसके बाद पुरुष यदि उसकी ओर देखे, तो भी और न देखे, तो भी’- महादेवी कई दशक पूर्व यह कह गई थीं।

आज सब कुछ अनंत समय के लिए सुंदर, आकर्षक, जेब की पहुंच में और सुख देने का वादा करते हुए बिक रहा है। हर चमकदार वादा स्त्री के लिए एक दुधारी तलवार है। आदर्श मां, आदर्श पत्नी, आदर्श कामकाजी, समर्थ, संपन्न, सुंदर, तत्पर, अश्रांत, अक्लांत। इतने बड़े दावे तो इस सभ्यता ने तब भी नहीं किए थे, जब वह अपनी पराकाष्ठा पर थी! महादेवी के समय में भी कम से कम एक सच्ची दीनता तो थी!

आज हमारे समस्त आत्म-बिंब किसी ऊसर भूमि में उगे ऐसे जान पड़ते हैं, मानो वहां पृथ्वी की तह में आधुनिकता की रेत के सिवाय कभी कुछ था ही नहीं। संयोगवश यदि यह समय अपने खोए-पाए के गणित को ठीक करने का और मातृ-पितृ कृतज्ञता स्वीकरण का समय न होता, और इस वार्ता के केंद्र में महादेवी जैसे जीवट वाली रचनाकार न होतीं, तो संभवतः यह बात इस तरह शुरू ही न होती।

हममें से अधिकांश लोगों के लिए महादेवी कभी भी 'केवल एक लेखिका' नहीं रहीं, जिनकी पुस्तकों का पाठ कर लेने के बाद उन्हें एक ओर रखा जा सके। एक लिंग-भेद रहित लेखक, जैसा कि आजकल कहलाने का चलन हो गया है, ऐसी लेखक तो वह कभी भी नहीं थीं। हमारे जाने-अनजाने वह हमारे संस्कारों की मिट्टी में चली गई हैं- एक आश्चर्यजनक रूप से- हम जो उनके समय में थे और जो उनके बाद हुए, उन सब की स्मृति में।

उनके जैसी गहन गंभीर मानसी ने इसे संभव कर दिखाया तो कैसे?

सच यह है, महादेवी अपने जीवन में जो भी थीं, उससे हमेशा 'कुछ' ज्यादा रहीं- एक कवयित्री से थोड़ी ज्यादा, एक विदुषी से थोड़ी ज्यादा, एक प्राध्यापिका से थोड़ी ज्यादा। और एक स्त्री से हर स्थिति में कहीं ज्यादा एक स्त्री।

महादेवी का हर बात में 'जरा सा ज्यादा' होना ही उन्हें बीसवीं सदी की एक आकर्षक उपस्थिति बनाता है।

यह जरा सा ज्यादा होना, किसी व्यक्ति का, क्या है?

इस 'जरा सा ज्यादा' होने में ही एक व्यक्ति का सारा परंपरा-बोध बदल जाता है।

वह परंपरा, जो पैरों का रास्ता रोकती थी, अब उसके बंधन खोल देती है। परंपरा, जो अभी तक आत्म-शंकित करती थी, अब आत्म-विस्मित करती है। जैसे अँधेरे में कुछ देर खड़े रहें तो अँधेरे कोने उजले दिखाई देने लगें, और उजले कोनों के मकड़-जाल चमकने लगें।

इससे पहले एक स्त्री उत्तर दूँढ़ती-दूँढ़ती इस अँधेरी जगह पर कब गई थी?

आज शायद हम में से कई के लिए यह विश्वास करना कठिन होगा, कि बिना कोई बहुत बड़ा क्रांतिकारी कदम उठाए, बिना कोई लोक-अपवाद बने, महादेवी अपने लिए अक्षुण्ण अस्मिता अर्जित कर सकीं। हम सब जानते हैं, अपने समय की वह कोई 'फायर ब्रांड फेमिनिस्ट' नहीं थीं। उनकी अस्मिता की पहचान एक ओर अपने गहरे परंपरा-बोध से जुड़ी थी, दूसरी ओर अपने आर्थिक स्वावलंबन से।

संभवतः उनके जीवन का एकमात्र क्रांतिकारी निर्णय उनका किसी भी तरह के पारिवारिक ढांचे से बाहर आ जाना था। इस दुर्घटना, इस व्यक्तिगत दुर्योग पर उनकी लेखनी चुप है। जैसे यह इतनी छोटी बात हो, कि इसका उल्लेख करने की भी आवश्यकता नहीं। वह अपने समय में नौ वर्ष की बालिका वधू तो बनीं, परंतु गृहस्थिन कभी नहीं। न ससुराल, न मायका, उनका स्थाई संबल बनता है उनका अपना स्वाध्याय और एक रुढ़िग्रस्त समाज के कार्य-व्यापार की अंतरंग पहचान।

आज कह सकते हैं कि यदि गांधीजी ने अपने जीवन में सत्य के साथ प्रयोग किए थे, तो महादेवी ने भी अपनी स्वतंत्र मेधा के साथ प्रयोग किए थे। यह विचित्र है, और रोचक, कि वही परंपरा,

वही ज्ञान, और प्रायः वही अवसर, एक युग के सब व्यक्तियों के लिए उपलब्ध होता है, लेकिन कोई बिरला ही उस रेत में स्वर्ण के कण खोज पाता है।

महादेवी का आत्म-विश्वास उनकी स्वयं की पहचान में से आया था। कुछ ऐसे कि अपने प्रतिबिंब का साक्षात्कार करने के लिए उन्होंने स्वयं पर से दृष्टि हटा ली हो। दर्पण के सामने से हटकर वह तीसरी तरफ चली गई हों।

इस तीसरी जगह पर न वह स्त्री थीं, न कवयित्री, न सामाजिक प्राणी। वह यहां किसी नवजात प्राणी की तरह थीं, जिसकी त्वचा पर से झिल्ली उतर गई हो, और त्वचा अभी भी गीली हो। संसार को देखने की उत्सुकता हो, लेकिन उजाले की चुभन से आंखें बार-बार मुंदती हों।

उनके व्यक्तित्व में यदि इन तीनों रूपों की पहचान थी, तो इसलिए नहीं, कि वह ये तीनों थीं बल्कि इसलिए कि वह इन सबसे अलग होकर स्वतंत्र खड़ी हो सकती थीं। स्वयं और स्वयं के बिंब से अलग एक तीसरी। प्राचीन समय की किसी ऋषिका जैसी- उत्सुक, प्रश्नाकुल, धीरमयी। तप करते हुए जैसे उन्हें तपस्या का अंत भी मालूम हो!

अकसर हम महादेवी के नाम के साथ मीरा का नाम लेते हैं, लेकिन मीरा एक नितांत दूसरी जिज्ञासा के पीछे गई थीं। उन्होंने संसार की गठरी पीछे छोड़ दी थी। वहां एक समस्या का सामाजिक रूप था, कोई सामाजिक प्रश्न नहीं।

महादेवी न केवल संकट-स्थल का निरीक्षण करती हैं, बल्कि समस्या का पुनर्निरीक्षण भी। वह न केवल गठरी उठाती हैं, बल्कि उसे खोलकर देखती हैं- यह गठरी, जिसे स्त्रियां इतने समय से उठाए हैं, इसके भीतर क्या है?

वह उत्कंठित होती हैं और प्रश्नाकुल। यहां खिलौने हैं, गुड़ियों के टूटे-फूटे अंग हैं। सब गलत-सलत लगे हैं। वह उन्हें जोड़ से अलग करती हैं, फिर से लगाती हैं। बांह की जगह बांह, सिर की जगह सिर। कोई अंधा है इनमें, कोई गूंगा। कोई सब कह सकता है उनसे, कोई एक शब्द भी नहीं।

स्मृति की रेखाएं में जितने भी चरित्र हैं, उनकी जकड़न कहां, किस प्रकार की है, महादेवी सब पहचानती हैं। जैसे वह स्वयं किसी द्वीप पर हैं और सामने भव-सागर हिलोरें ले रहा है। वह कभी इच्छा से, कभी अनिच्छा से, उन सबको खींच लाती हैं, जो उस भंवर में फंसे थे। चौदह बरस की अनब्याही मां, जो अपनी संतान को त्यागना नहीं चाहती। गूंगी गुड़िया, जो महादेवी से एक पत्र लिखवाना चाहती है। एक अंधा अलोपी, जो सामान टटोल कर एकदम सही तौल सकता है।

स्मृति की रेखाएं जैसे अंधे-गूंगे लोगों का पत्र है अपने समय के नाम। यहां उनकी कुशल-क्षेम लिखी है और नहीं भी। उनकी कलमकार महादेवी को स्वयं ही बूझना है, उनके दिल का सब हाल लिखना है। जो उन्होंने कहा है, और जो नहीं कहा।

यह एक पत्र है, एक चिट्ठी, जो महादेवी अपने समय के नाम लिखती हैं। समय- जिसका पता 'द्वारा' 'केयर ऑफ' महादेवी है। इसका लिफाफा उन्हें स्वयं ही खोलना है।

महादेवी जैसे अपने समय को, उसमें अपने होने को, और दूसरों के थाह-हीन दुख को हर सिर से टटोलती हैं। सबसे पहले स्वयं का साक्षात्कार। 'मैं नीर भरी दुख की बदली' और 'तुमको पीड़ा में ढूंढा, तुममें ढूंढूंगी पीड़ा।'

एकांत का दुःख। एकांत का प्रश्न भी।

यह अकारण नहीं कि महादेवी के ये सब गीत, सब कविताएं किसी अदृश्य उपस्थिति को, 'ऊपरवाले' को संबोधित हैं। यह कविता की युक्ति नहीं, हालांकि कई बार यह ऐसी लग सकती है।

यह सचमुच की बातचीत है, वार्तालाप, जो एक स्त्री अपने समय से कर रही है। एक आदि-स्त्री, एक आदि-समय से। यदि यह इससे कुछ कम हो, तो हमारे लिए कुछ अर्थ नहीं रखेगा। महादेवी, मीरा, आदि थेरियां- सब उसी जगह पहुंचती हैं, आदि-बिंदु पर।

यदि एक स्त्री को अपनी बात पूछनी है, अपनी बात कहनी है, तो उसे वहीं पहुंचना होगा। जिज्ञासा के उस आदि-कुएं के पास, इच्छापूरन सरोवर पर। अपने प्रश्न का सिक्का उसे वहीं डालना होगा।

भीतर एक प्रश्न है, बाहर दीन-दुखियों की दुनिया। वे महादेवी की दुनिया भरते हैं, महादेवी उनकी। समाज के पड़ोस में बसा एक संसार। एक लेखक के लिखे पन्नों में धीरे-धीरे समाता, स्थाई होता जाता एक संसार। माया की जकड़ से छूटता संसार।

नए संसार का यह उद्यम इसलिए भी सफल हो पाता है कि उसे चुनौती देता कोई पारंपरिक परिवार वहां नहीं है। यहां स्व-अर्जित स्वतंत्रता की पवित्रता है। गहरी प्रतिबद्धता है। अपने बनाए समुदाय का संसार है, उद्देश्य भरा जीवन है। यह एक प्रति-संसार है।

यहां न केवल महादेवी स्वयं एक अर्थपूर्ण, गरिमामय जीवन जीती हैं, बल्कि दीन, साधारण लोगों को, स्त्रियों को स्वाभिमानी जीवन जीने में सहायता करती हैं। वह हमारे लिए न केवल अपने समय की एक सच्ची स्वतंत्र नारी का उदाहरण बनती हैं, बल्कि उससे कहीं अधिक- इस स्वतंत्रता का क्या किया जाए- इसका भी एक श्रेष्ठ, अनुकरणीय उदाहरण बनती हैं।

जरा महादेवी के काल-संदर्भ पर ध्यान दीजिए। यह हमारा पराधीन काल है। अभी हम अंग्रेजों के उपनिवेशी हैं। उत्तर-औपनिवेशिक तो हम शायद बाद में भी नहीं होंगे, तमाम वैचारिक, साहित्यिक बहसों के बावजूद।

महादेवी की मनीषा जिज्ञासा करती है- स्त्रियां, एक समूह के तौर पर, एक जाति के तौर पर, सबसे पहले कब कमजोर पड़ी थीं?

सबसे पहले यानी इतिहास से पहले, स्मृति से पहले, समाज पर किसी आक्रमण से पहले, सदियों पहले।

लेकिन कब?

यह एक परिचित भव-बाधा से निकलकर सुदूर किसी दूसरे संसार में जाना है।

महादेवी सदियां लांघ जाती हैं। आरंभ के आरंभ में। ऋग्वेदकालीन समाज में- जहां (एक जगह वह लिखती हैं)- 'नारी सौंदर्य का जैसा उदात्तीकरण उषस सूत्रों में मिलता है, वैसा कहीं नहीं। इनमें किसी की भी रूप-कल्पना ध्वंस के लिए नहीं है।' यह एक स्त्री का वक्तव्य है। इसमें एक अनकहा प्रश्न है- नारी की रूप-कामना ध्वंसकारी कब बनी? वह नारी सौंदर्य को प्रशंस्कित करती हैं। क्या यह नैसर्गिक सौंदर्य, काया की कोमलता ही सारी समस्या की जड़ है?

मानसिक या शारीरिक भेद न किसी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है, न किसी की

हीनता का विज्ञापन करता है। स्त्री ने स्पष्ट कारणों के अभाव में इस अंतर को विशेष त्रुटि समझा, केवल यही सत्य नहीं है, वरन यह भी मानना होगा कि उसने सामाजिक अंतर का कारण ढूँढ़ने के लिए स्त्रीत्व को ही क्षत-विक्षत कर डाला। - ('आधुनिक नारी' से)

वह सातवीं-आठवीं शती में, शंकराचार्य के समय तक- जब सहशिक्षा सामान्य थी और स्नातिकाएं अध्यापन करती थीं- पड़ताल करती आती हैं।

स्त्रियों का आत्म-निर्वासन कब घटित हुआ? वह स्त्री के प्रेम को, सहज समर्पण को बार-बार तौलती हैं।

मातृत्व की गरिमा से गुरु और पत्नीत्व के सौभाग्य से ऐश्वर्यशालिनी होकर भी भारतीय नारी अपने व्यावहारिक जीवन में सबसे अधिक क्षुद्र और रंक कैसे रह सकी, यही आश्चर्य है।

जिसके पास धन है, उसी के पास दूसरे का मोल लगाने की निर्णय-शक्ति। 'सबल ने दुर्बलों को उसी मात्रा में सुविधाएं देना स्वीकार किया, जिस मात्रा में वे उसके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकीं।'

जरा ध्यान दें। यहां महादेवी केवल व्याधि नहीं पकड़तीं, हमें उस व्याधि की जड़ भी दिखाती हैं। बाकायदा जड़ खोदकर। 'पहले अंडा हुआ या मुर्गी?' जैसी इस अनादि-अनंत समस्या को वह इतनी आसानी से सुलझा लेती हैं। स्त्री को किसी दूसरे ने ही नहीं समझा था। जब उसे अपनी समस्या का कोई कारण समझ में नहीं आया, तो उसने स्वयं के स्त्री होने को ही इसका कारण समझा!

हम जानते हैं, इस तरह का तर्कहीन विमर्श विश्व इतिहास में बार-बार होता आया है। इसे शोषकों ने शोषितों के विरुद्ध एवं शोषितों ने स्वयं अपने विरुद्ध बार-बार इस्तेमाल किया है। शारीरिक दासता जब तक मानसिक दासता में न बदल दी जाए, अपने उद्देश्य में विफल है।

समाज ने उसे पुरुष की सहायता पर इतना निर्भर कर दिया कि उसके सारे त्याग, स्नेह और संपूर्ण आत्म-समर्पण बंदी के विचित्र कर्तव्य के समान जान पड़ने लगे.....

इसी के चलते दक्षिण अफ्रीका में गोरे लोग मालिक और काले लोग दास बने। अमेरिकन इंडियन अपनी ही जन्मभूमि पर पशुओं की तरह बिजली के तारों वाले बाड़े में बंद किए गए। उन्नीसवीं सदी के अमेरिका-इंग्लैंड में, और भारत के सुदूर हिस्सों में आज भी, स्त्रियां चुड़ैल घोषित करके जिंदा जला दी जाती रही हैं....

एक नितांत दूसरे संदर्भ में, निराला पर लिखे एक संस्मरण में महादेवी समाज की इस तर्कहीनता का उल्लेख कुछ इस तरह करती हैं- 'मनुष्य जाति की नासमझी का इतिहास क्रूर और लंबा है। प्रायः सभी युगों में मनुष्य ने अपने से श्रेष्ठतम, पर समझ में आने वाले व्यक्ति को छांटकर, कभी उसे विष देकर, कभी सूली पर चढ़ाकर और कभी गोली का लक्ष्य बनाकर अपनी बर्बर मूर्खता के इतिहास में नए पृष्ठ जोड़े हैं।'

यह एक अभूतपूर्व क्षण है। रचना के बीचोबीच ठिठकन। स्नेह और लगाव में लिखा गया अपने लेखक बंधु पर एक संस्मरण।

यह सहज ही हमें एक सत्य तक पहुंचा आता है- वह एक रेखा खींचता है और अपने पक्ष के पास जाकर खड़ा हो जाता है। तिरस्कृत और निर्धन, अजीविका कमाने को कई गरिमा-विहीन कार्य करने को मजबूर, तेजस्वी लेखक-बंधु निराला के साथ महादेवी इसी तरह जा खड़ी होती हैं,

सबको क्रूर और बर्बर बताकर। यही उनकी प्रतिबद्धता है।

महादेवी की कोई भी रचना हम पढ़ें, किसी भी काल में लिखी हुई, वह इकहरे पाठ का, इकहरी व्याख्या का अस्वीकार करती है। उनके यहां विचार का कुछ ऐसा संश्लिष्ट ताना-बाना है, भाव की कुछ ऐसी गहनता, कि सब रचनाएं कहीं भीतर मज्जा से जुड़ी हुई महसूस होती हैं। वे जो लिखी जा चुकी हैं, और वे भी, जो बरसों बाद लिखी जाएंगी, नितांत भिन्न सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों में।

इतनी अलग-अलग जिज्ञासाएं, प्रतिबद्धताएं महादेवी एक साथ कैसे साध पाईं? हम आश्चर्य करते हैं।

मुझे नहीं मालूम, महादेवी रेखा-चित्रों से निबंध चिंतन की तरफ आती हैं या निबंधों से रेखा-चित्रों की ओर। उनके रेखा-चित्र पढ़ें, तो जीवन की विडंबनाओं की संवेदनशील पकड़, विशेषकर उनके स्त्री विषयक निबंध विचलित करते हैं। निबंधों को पढ़ें तो ऐतिहासिक विवेचना की ऐसी अचूक पकड़ कि लगता है, यहीं कहीं उनका कविता-समय भी उपस्थित है। काव्य-रचनाओं में जाएं तो ऐसी अकेली वह वहां मिलती हैं, जैसे एक स्वतंत्र मेधा वाली स्त्री ही इतनी अकेली हो सकती हो!

और उनके परंपरा-चिंतन में उतरें तो देखते हैं- बड़े आश्चर्य से- कैसे वह अपने, एक मानसी के एकांत को, इतने विविध रूप-रंगों, जिज्ञासाओं से, भरती जाती हैं।

महादेवी अपनी जिज्ञासा में भले कहीं भी जा पहुंचती हों, इसमें संदेह नहीं कि उनके आरंभ में कविता है। कविता यानी भाषा के सबसे सघन, अंतरंग संबंध से शुरूआत। भाषा के शब्दार्थ रूप से, उसकी ध्वनि, उसके कथ्य और उसके अकथ्य से शुरूआत।

यह एक शुरूआत है, जो उनकी सब चिंताओं में इसी रूप में रहेगी- संलग्न, सघन, अंतरंग। भाषा के कुएं में फेंका गया एक शब्द। एक नवजन्मी भाषा, खड़ी बोली, के साथ एक उत्सुक, युवा लड़की के संबंध की शुरूआत। किसी एक बात के आरंभ में कितने आरंभ छिपे होते हैं!

बीसवीं सदी का आरंभिक काल- देश के पुनर्जागरण का काल, सार्वजनिक जीवन में रवींद्रनाथ और गांधी जैसी कालजयी उपस्थितियों का काल, विदेशी शासन की छाया में भारतीय परंपरा के पुनर्मूल्यांकन का काल। सदियों बाद एक बार फिर सार्वजनिक जीवन में बहुत सी महिलाओं के खुल कर सहयोग करने को आगे आने का काल।

और हजारों, लाखों साधारण लोगों की तरह नींद से जागती हुई यह छोटी-सी लड़की। सदी के दूसरे दशक में, अपने परिवार में दो सौ बरस में एक जीवित रह जाने वाली एक कन्या। महादेवी!

अपने लेखन में इस नाम पर वह कई जगह हँसती हैं। इस नाम के साथ उन्हें एक लंबा जीवन रहना है, बल्कि उसके बाद भी, जब वह स्वयं नहीं रहेंगी- इन्हीं चार अक्षरों में- महादेवी और उनकी उस हँसी को भी, जो वह अपनी रचनाओं में दर्ज कर छोड़ जाती हैं।

यदि हम यह मानकर चल सकें कि हर बड़े सत्य का आरंभ एक छोटी-सी, भोली हँसी से होता है, तो महादेवी का आरंभ 'रामा' से होता है। अपने पारिवारिक सेवक रामा की चरित्र लेखिका से नहीं, उसके हाथों सौंपी गई उस नन्हीं बच्ची से, जो भविष्य में महादेवी बनेगी। 'छोटा राजा'! वह रामा की इतनी लाड़ली न होती, तो अपने आसपास का सब कार्य-व्यापार कैसे देखतीं? अपनी मां

का दान-पुण्य की व्यस्तताओं से भरा जीवन, जिसमें गृहस्थी के काम निपटाने के लिए सेवकों की पलटन है।

बचपन की इन स्मृतियों में ही कई गुत्थियां सुलझनी शुरू हो जाएंगी। एक रामा ही कई कुंजियों का निमित्त बनेगा। उसकी आर्थिक दीनता महादेवी को एक पक्ष की अंतर्दृष्टि देगी, तो सामने के घर की युवा विधवा भाभी से मित्रता समाज के अदृश्य पंजे-शिकंजे की।

यह शुरुआत है स्त्रियों के जीवन की अटूट थकान समझने की शुरुआत।

इस विषय पर महादेवी बरसों बाद चिंतन करेंगी। विवाह-विच्छेद का कानून पास होते ही, पचास के दशक में, एक जगह वह लिखती हैं- 'अनेक महिलाओं ने लज्जा के साथ स्वीकार किया कि वे घर (की जिम्मेदारी) से मुक्त होने के लिए ही विवाह-विच्छेद चाहती हैं, पतियों के किसी दोष के कारण नहीं!'

पर एक अन्य जगह पर, लगभग विरोधाभासी लगने वाली यह बात भी-

'यदि स्त्री अपनी दुरावस्था के कारणों को स्मरण रख सके और पुरुष की स्वार्थपरकता को विस्मरण कर सके, तो भावी समाज का स्वप्न सुंदर और सत्य हो सकता है।' (दोनों उद्धरण *शृंखला की कड़ियां* से)

पुरुष की स्वार्थपरकता का विस्मरण। दूसरों ने तुम्हारे साथ क्या किया, इसका विस्मरण।

ऐसा कोई सुझाव भारत जैसी किसी प्राचीन परंपरा से ही आ सकता था- जहां कभी दलदल की धरती है, कभी सूखी, उजली, ठोस। उषस सूक्तों में वर्णित स्त्री सौंदर्य। ऋषियों को उनकी अपनी ज्ञान-धरा पर चुनौती देती ऋषिकाएं। बहस, जिज्ञासा, मौन, त्याग, सामर्थ्य, सब में- पुरुष के बराबर स्त्रियां।

कई दशक पहले पारंपरिक ढांचे में ढली एक साधारण सी लड़की- जो गणित के सवाल हल करने वाली कापी में शौकिया समस्यापूर्ति वाली कविताई किया करती थी। एक दिन वह किन समस्याओं का हल कहां से खोज जाएगी- तब कौन कह सकता था!

(यह आलेख इलाहाबाद संग्रहालय द्वारा आयोजित 'महादेवी व्याख्यान माला, 2002' के लिए लिखा गया था।)



हिंसा के मूल : जीव, जीवन और अन्य चीजें

रुस्तम सिंह

हिंसा की जड़ें जीव की प्रकृति में व्याप्त हैं। जीव क्या है? जीव वह है जो जीवित है, जो जीता है। लेकिन जीव की प्रकृति क्या है? जीवित होने के नाते जीव अपने जीवन को लंबे समय तक टिकाए रखने की कोशिश करता है। इस कोशिश में जीव अन्य जीवों का भक्षण और उपभोग करता है, या अपना बचाव करते हुए उनको मारता है। ऐसा करते हुए जीव खुद को जीवित बनाए रखता है। लेकिन ऐसा करते हुए वह अन्यो के जीवन को खत्म भी करता जाता है।

यह विश्लेषण हमें क्या दर्शाता है?

प्रथमतः यह कि जिसे हम जीवन कहते हैं वह जीव में पाया जाता है, या जीव ही है जो जीवन को धारण करता है। दूसरे, जीव और जीवन कारण-कार्य रूप में एक-दूसरे से बंधे हुए हैं : जीवन के बगैर कोई जीव नहीं है, और जीव के बगैर कोई जीवन नहीं है। तीसरे, जीवन (एक जीव में) अपने को कायम रखने के लिए (अन्य जीवों के भीतर के) जीवन को खत्म करता जाता है।

यह बाद वाली टिप्पणी जीवन के बारे में एक डरावने तथ्य को सामने लाती है, एक ऐसा तथ्य जिसको रेखांकित करना जरूरी है। तथ्य यह है कि महज (एक) जीव (दूसरे) जीव की हत्या या उसका उपभोग नहीं करता बल्कि खुद जीवन भी जीवन को समाप्त करता है। लेकिन क्या यह अपने में अजीब बात नहीं है कि जीवन खुद ही जीवन को खत्म करने की कोशिश करे? बात अजीब ही है, और वस्तुतः यह जीवन का सर्वाधिक सामान्य लक्षण है, लेकिन ऐसा लक्षण जो सर्वाधिक सामान्य ढंग से विस्मृत है। लेकिन, अगर हम इस लक्षण को न भूलें और इस पर टिके रहें, तो यह हमें उस जगह ले जाता है जहां हम देख सकते हैं कि जीवन कोई एक सत्ता नहीं है, जैसा कि हम अकसर मान लेते हैं : जिसको हम जीवन कहते हैं वह अनेक टुकड़ों में बंटा हुआ है और ये टुकड़े उतने ही हैं जितने कि जीव हैं। इससे भी बढ़कर यह कि इन टुकड़ों की प्रकृति ऐसी है कि वे आपस में मिलकर किसी एक सत्ता की रचना नहीं कर सकते। इस तरह अपने में ऐसी कोई एक सत्ता नहीं है जिसको जीवन कहा जा सके और यही वह चीज है जिसके चलते एक जीव के भीतर का जीवन दूसरे जीव के भीतर के जीवन को समाप्त कर पाता है।

और यहां पर हमें अपने शुरुआती कथन में सुधार करना चाहिए और कहना चाहिए कि हिंसा की जड़ें जीव के स्वभाव से कहीं अधिक स्वयं जीवन के स्वभाव में निहित हैं। क्योंकि जीव का स्वभाव जीवन के स्वभाव की देन है। एक मानी में, जीव वह साधन-मात्र है जिसके माध्यम से जीवन अपने स्वभाव को प्रगट करता है। ऐसा करते हुए, वह जीव को अपना स्वभाव भी प्रदान करता है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जीवन के संदर्भ में जीव की कोई द्वितीयक हैसियत है, या जीवन कोई

की हत्या करने की और/या उनका उपभोग करने की कोशिश करते हैं।²

X X X

तथापि मनुष्य सोचते हैं कि वे अन्य जीवों से भिन्न हैं। वे प्रायः अन्य प्राणियों से अपनी तुलना करते हैं और यह कहने में गर्व महसूस करते हैं कि वे उनसे श्रेष्ठ हैं।

यह प्रवृत्ति प्राचीन युगों से चली आ रही है। यह मानवीय चिंतन की, जिसमें उसका धार्मिक और वैज्ञानिक चिंतन भी शामिल है, सामान्य प्रवृत्ति रही है, और हमारे अपने समय तक जारी है।

मनुष्य अपनी श्रेष्ठता को दर्शाने के लिए जिस चीज का अक्सर उल्लेख करते हैं वह है विचार कर सकने की उनकी 'श्रेष्ठ' योग्यता, और जो भाषा उनके द्वारा विकसित की गई है, उसको इसी का हिस्सा माना जाता है।

लेकिन क्या इस योग्यता ने मनुष्यों को अन्य जीवों से इस तरह भिन्न बनाया है कि वे जीवों की हत्या या उनका भक्षण न करें? उसने अन्य मनुष्यों को खाना तो निश्चय ही बंद कर दिया है। यह निश्चय ही चिंतन का एक परिणाम था : उन्होंने महसूस किया कि अपनी ही तरह के प्राणियों को खाना घृणित है। लेकिन इस घृणा का विस्तार इसमें अन्य जीवों को शामिल करने तक नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, उसने हालाँकि अन्य मनुष्यों को खाना तो बंद कर दिया लेकिन उनकी हत्या करना बंद नहीं किया-- और न ही उनको तथा अन्य जीवों को उन अनन्त विधियों से आघात पहुंचाना ही बंद किया जो विधियां मनुष्यों ने ईजाद की हैं। हम देख सकते हैं कि इस चिंतन के दो पक्ष हैं। एक पक्ष मनुष्यों को वह दिशा दिखाता है जो उनको हत्या और आघात करने से दूर ले जाती है। दूसरा पक्ष उनको कहीं अधिक परिष्कृत हत्यारों तथा आततायियों में बदल देता है। यह कहना गलत न होगा कि मनुष्य ने इन दोनों ही दिशाओं में प्रगति की है। तब भी वे बाद वाली दिशा में काफी आगे निकल गए प्रतीत होते हैं।

इसलिए यहां जो सवाल पूछा जाना चाहिए वह यह है : क्या सोचने की योग्यता अपने में पर्याप्त है?

X X X

सोचने के बारे में कई तरह से सोचा जा सकता है लेकिन हमें यहां उस परिप्रेक्ष्य को सामने रखना चाहिए जिसमें हम सोचने के बारे में बात करने की कोशिश कर रहे हैं। और परिप्रेक्ष्य यह है : मनुष्यों का यह दावा है कि वे अन्य जीवों से श्रेष्ठ हैं और यह कि जो चीज उनको श्रेष्ठ बनाती है वह उनकी विचार कर सकने की श्रेष्ठ योग्यता है। दूसरे शब्दों में, वे दावा कर रहे हैं कि मनुष्यों से इतर जीवों में यह योग्यता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की वह मनुष्यों में है और इसी कमी की वजह से वे उनके मुकाबले हीनतर हैं। लेकिन एक और बात भी यहां कही जा रही है, और वह यह कि गैरमानवीय जीव कमोबेश बिना किसी सोच-विचार के अपनी क्रियाएं निष्पादित करते हैं।³

अब, अगर हम कुछ देर के लिए इस दृष्टिकोण को सही मान लें, तो वह कौन-सी मुख्य क्रिया है जो गैरमानवीय जीव निष्पादित करते हैं? वे अपने को जीवित रखने की खातिर दूसरे जीवों की हत्या करते हैं या उनका उपभोग करते हैं। इस तरह स्वयं को जीवित बनाए रखने के लिए दूसरे जीवों की हत्या करना या उनका उपभोग करना उनके लिए एक नैसर्गिक गतिविधि है : इसके लिए बहुत सोच-विचार जरूरी नहीं है। लेकिन, हम देख चुके हैं कि दूसरे जीवों की हत्या करना या उनका

जो भी हो, इस विचार तथा उस प्रेरक-बल, जहां से यह विचार आया प्रतीत होता है, के बीच कई भेद हैं।

पहला, प्रेरक-बल सहज था तथा अब भी उसका वही रूप है; वह एक ऐसी चीज है जो जीवों के अस्तित्व में आने के साथ ही उनमें सहज रूप से मौजूद होती है। वह एक ऐसी चीज है जो उनको जीवों के रूप में मिली होती है; यह उनमें स्पंदित जीवन का एक अंग है। दूसरी ओर, वह विचार, जिसकी हम बात कर रहे हैं, कम से कम आंशिक रूप से अर्जित किया गया है; आंशिक रूप से इसलिए क्योंकि भले ही वह उक्त प्रेरक-बल के एक अंश के उत्तरोत्तर रूपांतरण का परिणाम रहा हो, लेकिन स्वयं मानवीय मध्यस्थता ने उसमें एक भूमिका निभाई प्रतीत होती है, क्योंकि उस रूपांतरण को देखकर लगता है कि, एक समय के बाद, निश्चय ही उसकी आकांक्षा की गई होगी। दूसरा भेद यह है कि जहां वह प्रेरक-बल मनुष्यों को अन्य जीवों की हत्या और उनका उपभोग करने की ओर प्रवृत्त करता है ताकि वे अपने जीवन को लंबे अरसे तक कायम रख सकें, वहीं वह विचार उनको कहीं ज्यादा जटिल उद्देश्यों के लिए हत्याओं और/या अत्याचारों की ओर प्रवृत्त करता है। ये उद्देश्य हमेशा ही उस बुनियादी उद्देश्य से जुड़े हुए नहीं होते जो कि प्रेरक-बल का उद्देश्य है, यानी जीवन को लंबे अरसे तक कायम रखने का उद्देश्य, लेकिन कभी-कभी वे उससे जुड़े हुए भी होते हैं। उदाहरण के लिए, जब दवाओं के परीक्षण के लिए पशुओं को यातनाएं दी जाती हैं, तो मुख्यतः यह वही बुनियादी उद्देश्य होता है जोकि परीक्षणकर्ता के मन में होता है, क्योंकि दवाइयों का उत्पादन जीवन को लंबे अरसे तक कायम रखने के उद्देश्य से ही किया जाता है।⁴ लेकिन, पशुओं और मनुष्यों की हत्याओं के पीछे, उनका अंगभंग करने तथा उनको यातनाएं देने के पीछे और भी कई उद्देश्य होते हैं और मानव-जीवन को लंबे अरसे तक कायम रखने के उद्देश्य से इनका कोई संबंध नहीं होता।

इन भेदों को देखते हुए, यह कहना तर्कसंगत होगा कि हिंसा के ऐसे जटिल कृत्यों की ओर ले जाने वाला विचार, एक व्यापक स्तर पर, जीव के रूप में हमारे जीवन से कट चुका है और उस स्तर पर मनुष्य जीव नहीं रह गए हैं-- जैसे कि जीव के गैर-मानवीय रूप अब भी जीव हैं-- बल्कि वे जीव से भिन्न कोई चीज बन चुके हैं, कोई ऐसी चीज जो जीव के मुकाबले में कहीं ज्यादा जटिल है लेकिन साथ ही जो उनके मुकाबले कहीं ज्यादा विनाशकारी और क्रूर है। दूसरे शब्दों में, जीव के मानवीय रूप में घटित कोई रूपांतरण ऐसा है जो जीव के बुनियादी स्वभाव में उत्कर्ष की बजाय एक गिरावट को दर्शाता है। इसी के साथ-साथ यह रूपांतरण प्रकृति में पाए गए मनुष्य जीव से एक दूरी को भी दर्शाता है और यह दूरी कुछ इस तरह निर्मित है कि मनुष्य जीव के भीतर का 'मनुष्य' मनुष्य नहीं रह जाता बल्कि वह मनुष्य के भेष में एक दैत्य (मॉन्स्टर) के रूप में उभरता है।⁵

X X X

यद्यपि, किसी क्षण विशेष में सारे मनुष्य इस रूपांतरण से गुजरकर दैत्यों में नहीं बदल गए होते हैं। तब भी, उनका बहुत बड़ा हिस्सा इस संभावना को धारण किए होता है। इसी के चलते अपने दैनिक जीवन में हमें भले ही यह भरोसा बना रहता है कि हम मनुष्यों से घिरे हुए हैं, लेकिन असल में यह एक भ्रम ही होता है। कोई भी वक्त हो, हमारे आसपास थोड़े से ऐसे लोग होते ही हैं-- और इनमें हम भी शामिल हो सकते हैं-- जो कि पूरी तरह मनुष्य नहीं रह गए हैं, और उनमें से कम से कम कुछ तो ऐसे होते ही हैं जो पूरी तरह से दैत्य होते हैं। अगर हम उन तरीकों को

गिनना शुरू करें जिनके सहारे मनुष्य दैत्यों की तरह आचरण करते हैं, तो एक लंबी सूची तैयार हो जाएगी। लेकिन मैं कुछ ही उदाहरण दूंगा।

मैं समझता हूँ कि यह दैत्य की तरह का आचरण है जब उन पशुओं और पक्षियों का मांस खाया जाता है जिनको इसी उद्देश्य से पाला जाता है। यह खास तौर से तब तो दैत्यवत आचरण है ही जब उनको अमानवीय परिस्थितियों में पाला जाता है और उनका मांस खाकर हम उनके प्रति इस व्यवहार को मान्यता देते हैं।

दैत्यवत आचरण है उन डियोडेरेंट्स और पपर्यूम्स का इस्तेमाल करना जिनको पशुओं की आंखों में उंडेलकर यह पता लगाया जाता है कि वे मनुष्यों के लिए सुरक्षित हैं या नहीं।

भोलेभाले जनसमुदायों पर रसायनों और जीवाणुविक पदार्थों (चिकित्सकीय दवाओं) का परीक्षण करना दैत्यवत आचरण है।

दैत्यवत आचरण है परमाणु ऊर्जा उत्पादित करने के लिए, संयंत्रों की और गैसों उत्पादित करने के लिए कारखानों की स्थापना करना, यह जानते हुए भी कि अगर उनमें विस्फोट हुआ, तो वे खतरनाक ढंग से दशकों बल्कि शायद सदियों तक मनुष्यों, पशुओं तथा अन्य जीवों को क्षति पहुंचाते रहेंगे।

और क्या वे सारे के सारे मोटर वाहन छोटे-छोटे दैत्य नहीं हैं जो पृथ्वी की सतह को दूषित-प्रदूषित करते हुए रात-दिन घूमते रहते हैं? हवाई जहाज तो दैत्य हैं ही, जैसे कि रॉकेट और उपग्रह हैं। उन बमों और हथियारों का निर्माण करना दैत्यवत आचरण है जो न सिर्फ मनुष्यों की बल्कि प्रकृति की भी हत्या करेंगे, उनको आहत करेंगे। इस तरह के हथियारों का इस्तेमाल करना दैत्यवत आचरण है।

धर्म, जाति, संप्रदाय, नस्ल और भाषा आदि के नाम पर लोगों की हत्या करना दैत्याचार की पराकाष्ठा है।

दैत्यवत है लोगों की खरीद-फरोख्त। उतना ही दैत्यवत है पशुओं का व्यापार और उनके चमड़े की खातिर उनकी हत्या करना। स्त्री-भ्रूणों की इसलिए हत्या करना क्योंकि वे स्त्री हैं, शुद्ध दैत्यवत आचरण है।

सर्कस में जानवरों का प्रदर्शन एक दैत्यवत दृश्य है। उसी तरह जैसे कि चिड़ियाघरों, केबिनों और पिंजरों में बंद पशु।

कोई भी चीज तैयार करके और/या उसको बेचकर बड़ी तादाद में मुनाफा कमाना दैत्यवत आचरण है।

यह दैत्यवत आचरण है कि लोगों को नई चीजें— जैसे कि मसलन कंप्यूटर सॉफ्टवेयर — खरीदने पर विवश किया जाए, जबकि पुरानी चीजें काम दे सकती हैं।

कंप्यूटर हार्डवेयर अपने में दैत्यवत है, क्योंकि उसका क्षरण नहीं होता जिसका यह मतलब है कि किसी भी ऐसी चीज का उत्पादन दैत्यवत आचरण है जो क्षरण को प्राप्त होकर तत्त्वों में नहीं मिल सकती।

नदियों को उनके नैसर्गिक मार्ग से च्युत करना या उनको अप्राकृतिक तरीके से एक-दूसरे से जोड़ना दैत्य कर्म है।

दैत्यवत आचरण है उन विशाल बांधों और कृत्रिम झीलों का निर्माण जो गांवों, जंगलों और भरे पूरे जीवन को जलमग्न कर उनको निगल जाते हैं और जनसमुदायों और पशुओं को बेघर-बेसहारा छोड़ देते हैं। उद्योगों को स्थापित करने और खदानें खोदने की खातिर लोगों को उनके प्राकृतिक बसेरों से उन्मूलित करना दैत्यवत आचरण है। वे तमाम कारखाने और उद्योग दैत्यवत हैं जो पानी, हवा और दूसरे नैसर्गिक तत्वों को प्रदूषित करते हैं। उनको ऐसा करने की छूट देना दैत्यवत आचरण है। अनाजों और फलों पर जहरीली दवाओं और कीटाणुनाशकों का छिड़काव करना तथा लोगों को ऐसी चीजें खाने पर मजबूर करना दैत्यवत आचरण से कम नहीं है।

X X X

यह फेहरिस्त संक्षेप में दर्शाती है कि मनुष्य इस पृथ्वी पर एक बहुत बड़े दैत्य के रूप में प्रगट हो चुके हैं। पिछली कुछ सदियों में उनकी आबादी में जो बढ़ोत्तरी हुई है उसने इस दैत्यभाव को और तीखा किया है। उनकी आबादी के आकार ने उनके द्वारा की जाने वाली हिंसा को विराट रूप दे दिया है। और इसमें उनके उपयोग और उपभोग में आने वाली जीवित और निर्जीव वस्तुओं की तादाद में हुई बढ़ोत्तरी के कारण होने वाली हिंसा शामिल है।

यह सच है कि उपभोग में हुई वृद्धि के पीछे आबादी की बढ़ोत्तरी एकमात्र कारक नहीं है। यही कारण है कि उपभोग के स्तर गरीब देशों के मुकाबले समृद्ध देशों में, याकि हर कहीं निचले तबकों के मुकाबले में मध्य वर्ग और उच्च वर्ग में ज्यादा ऊंचे हैं। तब भी, गरीब देश और निचले तबके उसी रास्ते पर बढ़ते प्रतीत होते हैं जिसे समृद्ध देशों और उच्च-मध्य वर्गों ने अपनाया है, या वे उस रास्ते पर चलने की आकांक्षा तो रखते ही हैं। दूसरे, मेरे विचार से, अब हमें यह कहने में कोई शर्म महसूस नहीं होनी चाहिए कि धरती पर अब कुछ ज्यादा ही मनुष्य हो गए हैं।

जो भी हो, उपभोग के स्तरों में बढ़ोत्तरी भर उपभोग का एकमात्र तथ्य नहीं है। तथ्य यह भी है कि जहां कहीं भी अवसर मिलता है, मनुष्य लगभग हर वस्तु का अति उपभोग करना चाहता है, और यही वह तथ्य है जो हिंसा से जुड़े उपभोग की किसी भी चर्चा के संदर्भ में सबसे ज्यादा अहमियत रखता है।⁶ क्योंकि पृथ्वी पर जीवन के आज के संदर्भ में अति उपभोग की मानवीय प्रवृत्ति संसार में हिंसा की मुख्य वजह है। अपने आप में, यह मनुष्य में दैत्यभाव का केंद्रीय तत्त्व भी है। यह वस्तुतः, अन्य जीवों के साथ-साथ मनुष्य को जीव-हत्या तथा जीवों के उपभोग की ओर प्रवृत्त करने वाले प्रेरक-बल के बाद मानवीय प्रकृति में उभरने वाला संभवतः सबसे केंद्रीय लक्षण भी है। इसी के साथ-साथ यह वह लक्षण भी है जिसका प्रादुर्भाव मनुष्यों को अन्य जीवों से उसी तरह आधारभूत ढंग भिन्न बनाता है जिस तरह सोचने-विचारने की उनकी तथाकथित क्षमता बनाती है। दरअसल, मनुष्य के स्वभाव में अति उपभोग की इस प्रवृत्ति के प्रादुर्भाव को मैं मानवीय प्रकृति के विकास की सबसे आधारभूत घटना की तरह देखना चाहता हूँ, एक ऐसी घटना जो जीव-स्वभाव से मनुष्य के विचलन को सोचने-विचारने की उनकी क्षमता के मुकाबले कहीं ज्यादा बेहतर ढंग से चिह्नित करती है।⁷

जब हम इस प्रवृत्ति की तह में जाते हैं, तो हम पाते हैं कि सोच-विचार के साथ इसका कोई खास रिश्ता नहीं है। लोगों के पास जिस हद तक पैसा होता है, वे अंधाधुंध तरीके से, बगैर किसी सोच-विचार के, चीजें खरीदते रहते हैं। और यह बात सभी वर्गों के लोगों पर लागू होती है। अगर हम उनसे पूछें, तो वे बेशक हमें हर चीज को खरीदने की वजह बता देंगे और हमें बहुत आसानी

से कायल कर लेंगे कि उनको उन चीजों की जरूरत है। और इस पर भी कायल कर लेंगे कि यह सोच-विचार कर किया गया काम है। लेकिन निश्चय ही यह वह सोच-विचार नहीं है जिसकी बात हम कर रहे हैं। जिसकी बात हम कर रहे हैं, वो ये है : क्या लोगों को उन तमाम चीजों की जरूरत होती है जिनके बारे में वे सोचते हैं कि उनको उनकी जरूरत है? और हमें यहां यह याद रखना जरूरी है कि ये वे चीजें हैं जिनकी फेहरिस्त पिछली कुछ सदियों के दौरान लंबी होती चली गई है। जब हम सोच-विचार के इस स्तर को ध्यान में रखते हैं, तब हम पाते हैं कि लोग लगभग आंखें मूंदकर चीजों को खरीदते और उनका इस्तेमाल करते हैं, और कभी-कभी तो वे ऐसी चीजें भी खरीद डालते हैं जिनका वे उपयोग तक नहीं करते। वे मजे-मजे में भी चीजें खरीद लेते हैं या महज इसलिए कि वे चीजें हैं और उपलब्ध हैं; यहां तक कि वे इस वजह से भी उनको खरीद लेते हैं कि दूसरे लोग उनको खरीद रहे होते हैं। और इसलिए हम अगर इस परिघटना पर ध्यान दें, तो हम देख सकते हैं कि इस प्रवृत्ति का रूप एक प्रेरक-बल जैसा ही है।

X X X

लेकिन एक और भी चीज है जो मनुष्य सर्वथा आंख मूंदकर करते हैं, और यह उस चीज की तलाश है जिसको ज्ञान कहा जाता है, जिसको ज्यादा से ज्यादा संभव मात्रा में हासिल करने की वे कोशिश करते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, मनुष्य हर समय ज्ञान की तलाश में व्यस्त रहते हैं और ऐसा वे प्राचीनकाल से ही करते आए हैं। किस तरह का ज्ञान है वह जिसे वे हासिल करने की कोशिश करते हैं? यह ज्ञान जगत के बारे में और उन चीजों के बारे में है जो जीवित हैं और जड़ हैं; ज्ञान जो स्वयं उनसे, उनके मानस और देह से, ताल्लुक रखता है; जो इतिहासों, अर्थव्यवस्थाओं और उनके समाजों से ताल्लुक रखता है। इस ज्ञान को हासिल करने का लक्ष्य क्या रहा है? कथित रूप से तो इसका लक्ष्य मनुष्य के कल्याण में वृद्धि करना रहा है, लेकिन यह जवाब सटीक नहीं है। यह कहना मुश्किल होगा कि वे *तमाम लोग* जो किसी भी वक्त में अलग-अलग किस्म के ज्ञानों की तलाश में लगे होते हैं, या जो किसी भी रूप में या किसी भी स्तर पर उससे संबद्ध होते हैं, वे सबके सब इस लक्ष्य से प्रेरित होते हैं याकि वे हर समय इस लक्ष्य से प्रेरित होते हैं। इस सिलसिले में जो बात सचाई के ज्यादा करीब लगती है वो ये है : इनमें से ज्यादातर लोग जिज्ञासा से प्रेरित होते हैं; दूसरे कई लोग नई चीजों की खोज करना चाहते हैं या नए विचारों को जन्म देना चाहते हैं; बहुतों की दिलचस्पी मुनाफा कमाने की होती है; और दूसरे-- बड़ी संख्या में-- ऐसे लोग भी होते हैं जो इस काम में महज इसलिए मुब्तला होते हैं क्योंकि यह उनको रोजगार मुहैया कराता है। अंत में, काफी संख्या में ऐसे लोग भी होते हैं जो ज्ञान की इस तलाश में इसलिए लगे होते हैं ताकि इसका इस्तेमाल कर वे अन्य लोगों की हत्या कर सकें, उनको खत्म कर सकें। यह उस तरह का ज्ञान है जिसकी तलाश, मसलन, तथाकथित रणनीतिपरक उद्देश्यों के लिए की जाती है।

अब, शायद ही यह कहने की जरूरत हो कि ज्ञान की इस तलाश के दौरान अपनाए जाने वाले सारे के सारे रास्ते और साधन कल्याणकारी नहीं होते। वस्तुतः, उनमें कुछ तो मनुष्यों और अन्य जीवों के लिए स्पष्ट तौर पर और खतरनाक तरीके से क्षति पहुंचाने वाले होते हैं।

इससे भी बढ़कर, और जैसा कि हमने ऊपर की फेहरिस्त में देखा, इस ज्ञान के बहुत बड़े हिस्से के इस्तेमाल ने पृथ्वी और प्रकृति को क्षति पहुंचाने में तथा मनुष्यों और अन्य जीवों को मारने और

नुकसान पहुंचाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है, और यह भूमिका वह आज भी निभा रहा है। निरंतर और अंधाधुंध तरीके से ज्ञान हासिल करने की इच्छा, जोकि एक आदत में बदल चुकी है और एक प्रेरक-बल जैसी प्रतीत होने लगी है, अपने में एक और चीज है जो मनुष्यों के दैत्यभाव में केंद्रीय स्थान रखती है।

लेकिन इस आकांक्षा के संदर्भ में दो और चीजें गौर करने लायक हैं। पहली यह कि ज्यादातर ज्ञान, जिसे मनुष्य इस आकांक्षा के दबाव में हासिल करते हैं, एक कृत्रिम ज्ञान होता है और इससे मेरा आशय यह है कि अन्य जीवों द्वारा अर्जित किए जाने वाले ज्यादातर ज्ञान से भिन्न, यह ज्ञान प्रकृति के भीतर रहकर इंद्रियों का उपयोग करते हुए अर्जित नहीं किया जाता। इसकी बजाय, इसको चिंतन की उस प्रतिभा के इस्तेमाल से अर्जित किया जाता है जो व्यापक तौर पर इंद्रियों और प्रकृति दोनों से कटती जा रही प्रतीत होती है। दूसरी चीज, यह ज्ञान अतिरेकपूर्ण है। यानी, आज के समय का ढेर सारा मानवीय ज्ञान ऐसा है जिसकी कोई जरूरत नहीं है। हम यहां कुछ उदाहरण ले सकते हैं : (1) वह ज्ञान जो मनुष्यों को बताता है कि परमाणुविक और रासायनिक अस्त्र कैसे तैयार किए जाएं। (2) वह ज्ञान जो जानवरों के क्लोन तैयार करने में उनको सक्षम बनाता है और जो मुमकिन है मनुष्यों के क्लोन तैयार करने में भी उनकी मदद करे। (3) वह ज्ञान जो उनके समक्ष भ्रूण के लिंग को उजागर करता है। (4) वह ज्ञान जो उनको अनाजों तथा सब्जियों को जेनेटिक तरीके से संशोधित करने में सक्षम बनाता है, और जो मुमकिन है भविष्य में मनुष्यों तक को इसी तरह संशोधित करने में उनकी मदद करे। (5) यहां तक कि पौधों, वृक्षों या फूलों की आंतरिक संरचना का ज्ञान।

लेकिन ये एकमात्र उदाहरण नहीं हैं।

(और यहां पर मुझे याज्ञवल्क्य तथा गौतम बुद्ध का स्मरण हो आता है। दोनों ने ही ज्ञान की अति- जिससे उनका आशय संभवतः ज्ञान की खातिर ज्ञान को अर्जित करना या उद्देश्यहीन ज्ञान अर्जित करना था- का निषेध किया था।)⁸

मानवीय ज्ञान के इन दो लक्षणों की ओर मैंने इसलिए संकेत किया है क्योंकि वे हमारी चर्चा से भी ताल्लुक रखते हैं और सामान्य तौर पर भी उनका महत्त्व है। उदाहरण के लिए, नैसर्गिक जीवन के प्रति, यानी, मानवेतर जीवों के प्रति, पर्याप्त संवेदनशील बने रहने के लिए उनके साथ ऐंद्रिक स्तर पर संपर्क बनाना जरूरी है। लेकिन जब ऐंद्रिक जीवन पीछे धकेल दिया गया हो, उसको स्थगित कर दिया गया हो, या उसको प्रकृति से परे कर दिया गया हो, या, दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य ने स्वयं को प्रकृति में स्थित जीव के रूप में देखना बंद कर स्वयं को उससे परे और कमोबेश श्रेष्ठ मानना शुरू कर दिया हो, और जिसको प्रकृति कहा जाता है उसको महज जिज्ञासा की एक वस्तु में या उपभोग के एक शोषण-योग्य स्रोत में घटा दिया हो— तब यही संभावना दिखती है कि इस तरह अर्जित किया गया ज्ञान नैसर्गिक जीवन के प्रति, और, आखिरकार, दरअसल, मानव-जीवन के प्रति, असंवेदनशील या उदासीन हो जाए। दूसरे, तब उसकी मर्यादाओं और सीमाओं के दृष्टि से ओझल होने की भी सम्भावना होगी, क्योंकि इस स्थिति में, यानी, नैसर्गिक जीवन के साथ अपना संपर्क गवां देने से, वह अपनी दिशा भी गवां देगा। और संभवतः यह कहना अब अतिरंजित न होगा कि मनुष्य की ज्ञान की खोज पिछली कुछ सदियों के दौरान, किसी हद तक, अपनी दिशा खो चुकी है।

इस बीच, क्या यह विडंबना नहीं है कि मनुष्यों ने अंतहीन पौधों और फूलों की, पशुओं और कीड़ों की चीरफाड़ की है, लेकिन यह वे अब भी नहीं जानते कि उनके साथ किस तरह रहा जाए? वास्तव में, वे तो यह तक नहीं जानते कि दूसरे मनुष्यों के साथ किस तरह रहा जाए। जो बात संभवतः ज्यादा सही है वह यह है कि वे यह जानते तो हैं लेकिन इस तरह के ज्ञान का अनुसरण करने की परवाह नहीं करते।

ज्ञान की यह बाद वाली किस्म भी मनुष्यों ने चिंतन के रास्ते विकसित की है। यानी, वह ज्ञान जो मनुष्यों को बताता है कि वे किस तरह ऐसे जीवन और आचरण को अपनाएं जिससे कि संसार के प्रति यथासंभव न्यूनतम हिंसा हो। संत, ऋषि और दार्शनिक कई बार ऐसा ज्ञान लेकर प्रगट हुए हैं और यह ज्ञान कई रूपों में उपलब्ध है।

तब भी, इस तरह के ज्ञान को गाहे-बगाहे ही आचरण में लाया जाता है। वस्तुतः, उसको बहुत मूल्यवान नहीं माना जाता और अक्सर उसको अनुपयोगी समझा जाता है। इससे मुझे एडिमेंट्स का स्मरण हो आता है, जो कोई दो हजार साल से भी पहले *द रिपब्लिक* में सुकरात से कहता है कि 'जो लोग', यानी, दार्शनिक, 'लंबे समय तक फलसफे का अध्ययन करते हैं, वे समाज के लिए पूरी तरह से अनुपयोगी हो जाते हैं।' इस पर सुकरात एडिमेंट्स को जो जवाब देते हैं, वह शिक्षाप्रद है। वे कहते हैं कि 'यह एकदम सही है कि सबसे अच्छे दार्शनिक अपने समाज के लिए किसी उपयोग के नहीं होते'; लेकिन, इसके लिए दोषी दार्शनिक नहीं हैं, 'बल्कि वे लोग हैं जो उनका उपयोग करने से चूक जाते हैं।'९

X X X

इस निबंध का समापन करते हुए मैं जीव-मात्र और दैत्य-रूपी-मनुष्य के बीच के कुछ महत्वपूर्ण भेदों को रेखांकित करूंगा : (1) जीव उससे थोड़ी-सी ही ज्यादा हत्या करता है (या काटता अथवा डंक मारता है) जितने की उसको किसी भी समय में अपने भोजन के लिए जरूरत होती है। वह शायद ही कभी भोजन को बेकार जाने देता हो। (2) जीव को अपने खाने या उदर-पोषण करने के उद्देश्य के अलावा न्यूनतम चीजों की ही जरूरत होती है। और ऐसी चीजों का इंतजाम या शिकार वह पृथ्वी अथवा प्रकृति को ज्यादा कोई नुकसान पहुंचाए बगैर ही करता है। (3) जीव बमुश्किल ही कभी संग्रह करता है। और जब करता है, तो बहुत सीमित मात्रा और सीमित समय के लिए करता है। (4) जीव ऐसी चीजों का उत्पादन नहीं करता जो प्रकृति में नहीं पाई जातीं। अपने आप में वह ऐसी चीजें उत्पन्न नहीं करता जिनका तत्त्वों के माध्यम से क्षरण न हो सकता हो। (5) इससे यह नतीजा निकलता है कि जीव अस्त्रों का उत्पादन नहीं करता, उनके अलावा जो उसको प्रकृति द्वारा दिए गए होते हैं। (6) इससे यह नतीजा भी निकलता है कि जीव पृथ्वी, जल और वायु को प्रदूषित नहीं करता। (7) जीव कृत्रिम और अतिरेकपूर्ण ज्ञान अर्जित करने की कोशिश नहीं करता। और, (8) जीव अपनी चिकित्सा केवल प्रकृति में उपलब्ध चीजों को दवाओं की तरह बरतते हुए करता है।

जो बातें इस निबंध में पहले कही जा चुकी हैं उनसे यह स्पष्ट होगा कि इनमें से कोई भी बात दैत्य-रूपी-मनुष्य पर लागू नहीं होती।

टिप्पणियां

1. 'जीव' एक संस्कृत शब्द है जिसका प्रयोग कई अर्थों में किया जाता रहा है। मोनियर-विलियम्स ने अपनी *संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी* में इस शब्द के नीचे अंकित अनुसार अर्थ दिए हैं : जीता हुआ (लिविंग), अस्तित्ववान (एक्जिस्टिंग), जीवित (अलाइव); कोई भी जीवित सत्ता (एनी लिविंग बीइंग), कोई भी जीवित वस्तु (एनीथिंग लिविंग); जीवन (लाइफ), अस्तित्व (एक्जिस्टेंस); जीवन का नियम (द प्रिंसिपल ऑफ लाइफ), प्राण वायु (वाइटल ब्रेथ), जीवित या निजी आत्मा (द लिविंग ऑर पर्सनल सोल), आदि। लेकिन हमारा सरोकार यहां उस अर्थ से ही है जिसे इस निबंध में बरकरार रखा गया है और जिसमें एक विशेष विस्तार किया गया है।
2. विशेष रूप से पौधों और वनस्पतियों के व्यवहार की समझ के लिए चार्ल्स डार्विन की *ऑन द ओरिजन ऑफ स्पेसीज* अभी भी उपयोगी है। डार्विन के मुताबिक, अन्य पौधे तथा वृक्ष मर जाएं इसके लिए वे उनको सक्रिय रूप से भोजन से वंचित करने की कोशिश करते हैं, उनको भी जो स्वयं उनकी प्रजाति के होते हैं।
3. यहां पर मुझे यह दर्ज करना चाहिए कि जीव वैज्ञानिक सिद्धांत इस दृष्टिकोण का लंबे अरसे तक समर्थन करता रहा है और, वस्तुतः, उस सिद्धांत के भीतर आज भी यह एक प्रभावी दृष्टिकोण बना हुआ प्रतीत होता है, बावजूद इसके कि पशुओं तथा पक्षियों पर हुए हाल ही के अनुसंधान यह दर्शाते हैं कि यह पूरी तरह सच नहीं है। चिम्पाजियों, हाथियों, व्हेलों, कुत्तों, तोतों और कौओं आदि ने अमूर्त चिंतन के मामले में असाधारण योग्यता प्रदर्शित की है और मुझे लगता है कि अनुसंधानकर्ता इस वक्त उनके इस चिंतन की वास्तविक गहराई से वाकिफ नहीं हैं। इसी के साथ-साथ गैरमानवीय जीवों के परीक्षण में लगे लोगों के लिए यह बात भी अभी स्पष्ट नहीं है कि कुछ अन्य जीवों में भी इस किस्म की योग्यता है या नहीं।
4. जैसा कि हम जानते हैं, दवाओं का उत्पादन मरीजों के जीवन को बढ़ाने भर के लिए नहीं किया जाता; धन अर्जित करना हमेशा ही एक मजबूत ध्येय होता है। यही कारण है कि इस कदर नकली दवाइयां हमारे आसपास मौजूद हैं। हम यह भी जानते हैं कि पशुओं पर किए जाने वाले दवाइयों के परीक्षण पर नैतिक आधार पर सवाल उठाए गए हैं। जाहिर है, मैं यहां उस गतिविधि का बचाव नहीं कर रहा हूँ।
5. यहां यह कहना जरूरी है कि प्रकृति में कोई दैत्य नहीं है। हमारी यहां दी गई परिभाषा के अनुसार, दैत्य तथाकथित मानवीय दुनिया में ही पाए जाते हैं और उनकी शक्ल-सूरत एक मानवी जीव जैसी होती है।
6. मुझे इस बात का अहसास है कि बहुत बड़ी तादाद में लोग उन बुनियादी चीजों से भी वंचित हैं जो उनके जिंदा बने रहने के लिए जरूरी होती हैं। लेकिन यह उसी हिंसा का एक और पक्ष है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं।
7. इस प्रवृत्ति की व्याप्ति को हम प्राचीन युगों तक में देख सकते हैं। इतिहास में ऐसे लोग हमेशा से रहे हैं जिन्होंने इस संयम पर बहुत कम ध्यान दिया है कि उनको कितना उपभोग करना चाहिए। हालांकि इतिहास में झांककर देखने पर हमें ऐसे लोग बहुत कम दिखाई देते हैं। उपभोग के लिए चीजों के उतने विविध रूपों में उपलब्ध न होने से भी उन आरंभिक युगों में उपभोग की मात्रा को कम किया होगा। लेकिन पिछली कुछ सदियों में मनुष्य इस मामले में उन्माद के स्तर पर जा पहुंचे प्रतीत होते हैं। कोई अंत नजर नहीं आता उन चीजों का जिनको वे, अपने पेट में ठूसने से लेकर अन्यान्य तरीकों से इस्तेमाल करना चाहते हैं। और यह प्रवृत्ति उत्पादन के तरीकों और समाज की बनावटों से निरपेक्ष सर्वत्र व्याप्त

है। इस तरह यह प्रवृत्ति उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली और उदारवादी समाजों तक ही सीमित नहीं है। न ही यह आधुनिक विज्ञापन-संस्कृति से ही बहुत करीब से जुड़ी हुई है (जोकि लोगों को चीजों को खरीदने और उपभोग करने को प्रेरित करने का निश्चय ही अत्यन्त हिंसक और अत्यन्त भद्रा और अत्यन्त धिनौना तरीका है), क्योंकि विज्ञापन-संस्कृति ने तो इस प्रवृत्ति का इस्तेमाल भर किया है। दूसरे शब्दों में, 'विज्ञापन उद्योग' द्वारा शोषण किए जाने के लिए यह प्रवृत्ति वहां पहले से ही मौजूद थी। लेकिन इस प्रवृत्ति का शोषण करने वाले लोग सिर्फ वे ही नहीं हैं जो इस 'उद्योग' से ताल्लुक रखते हैं। वस्तुतः, वे तो बहुत बाद में आए। इसका सबसे पहले शोषण करने वालों में वे उत्पादक शामिल थे जो बाद में आधुनिक युग के उद्योगपतियों और व्यापारियों के रूप में विकसित हुए। ये वे लोग थे -- और आज भी हैं -- जिन्होंने 'आविष्कार करने वालों' तथा 'नवाचार करने वालों' की मदद से बाजार को चीजों की चौंधिया देने वाली विविधता से भरना शुरू किया। इस बीच, बढ़ती हुई संख्या में लोगों के पास खर्च करने के लिए पैसा था और इस पैसे ने खरीदने की इच्छा को बढ़ावा दिया। यह सच है कि सारे लोग बहुत सारी चीजें नहीं खरीद सकते थे लेकिन कुछ लोग हमेशा ही होते थे जो खरीद सकते थे, और उन्होंने पूरे उत्साह और उत्तेजना के साथ यह किया। हाल की सदियों में उनकी तादाद बढ़ी है और बाद के दिनों में इस तादाद ने विशाल रूप ले लिया है। इसी के साथ-साथ, खरीदने, इस्तेमाल करने तथा उपभोग करने की प्रवृत्ति एक उन्माद और बीमारी में बदल चुकी है।

8. दृष्टव्यः बृहद-आरण्यक उपनिषद्, तीसरा अध्याय, छठवां ब्राह्मण : पॉल ड्यूसें, *सिक्स्टी उपनिषदाज ऑफ वेद* (वी. एम. बेडेकर तथा जी. बी. पल्लुले द्वारा जर्मन से अनूदित), खण्ड I, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिसर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, पृष्ठ 456-57; और "द शॉर्ट डॉयलॉग विद मालुंक्य" : *सेइंग्स ऑफ द बुद्धा : अ सिलेक्शन ऑफ सुत्ताज फ्रॉम द पाली निकायाज* (रूपर्ट गोथिन द्वारा भूमिका और टिप्पणियों के साथ अनूदित), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2008, पृष्ठ 168-72.
9. प्लेटो, *द रिपब्लिक*, पेंग्विन बुक्स, हर्मोण्ड्सवर्थ, 1955, पृष्ठ 248-50.



अंक के रचनाकार

- ध्रुव शुक्ल, एमआईजी-54, कान्हा कुंज, फेस-1, कोलार रोड भोपाल-462042 (म.प्र.), मो. 9425301662
- उदयन वाजपेयी, एफ.90/45, तुलसी नगर, सेकंड बस स्टॉप के पास, भोपाल-462003 (म.प्र.), मो. 9753882343
- अपूर्वानंद, डी-12, मौरिस नगर, दिल्ली-110007ए मो. 011-27662146
- प्रियदर्शन, ई-4, जनसत्ता, सेक्टर 9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उत्तर प्रदेश), मो. 9811901398
- सुधीर रंजन सिंह, 65 शुभालय विला, विपलानी, भोपाल-462023, मो.9406542866
- आशुतोष भारद्वाज, 18, खुशी वाटिका, अमलीदीह, वीआईपी रोड, रायपुर-492006 मो. 9406001949
- गीत चतुर्वेदी, जैस्मीन 431, न्यू मीनाल रेजिडेंसी, जे.के. रोड, भोपाल-462021, (मध्य प्रदेश), मो. 9713000963
- प्रभात त्रिपाठी, रामगुड़ीपारा, रायगढ़, छत्तीसगढ़, मो. 9424183427
- कुमार अंबुज, एचआईजी, सी-10, गुलमोहर बिल्डिंग, ग्रीन मीडोज (हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी) अरेरा हिल्स, जेल रोड, भोपाल-462011 (मध्य प्रदेश), मो. 9424474678
- तेजी ग्रोवर, ई-4/361, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 (म.प्र.), मो. 8349166919
- प्रयाग शुक्ल, एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सेक्टर 93-ए, नोएडा-201304, मो. 9810973590
- सुनीता गुप्ता, अध्यक्ष : हिंदी विभाग, एल.एन. कॉलेज, भगवानपुर, (उ.प्र.)
- नंद किशोर आचार्य, सुधारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर-334005, मो. 9413381045
- राजेश जोशी, 11, निराला नगर, दुष्यंत कुमार त्यागी मार्ग, भदभदा रोड, भोपाल-462003, मो. 9424579277
- अनामिका, बी-5/3, आर.के.पुरम सेक्टर-13, नई दिल्ली-22, मो.9810737469
- राकेश श्रीमाल, सहायक संपादक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005, मो. 9764495276
- रमेशचंद्र शाह, एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003 (म.प्र.), मो. 9424440574
- राधावल्लभ त्रिपाठी, एम.-83, द्वितीय तल, साउथ सिटी वन, गुडगांव-122001 (हरियाणा), मो. 9999836088
- आलोक भल्ला, 16/12, II फ्लोर कालकाजी नई दिल्ली-110019,
- मृत्युंजय, VM-4, निकट DL कॉलोनी VSS नगर भुवनेश्वर (उड़ीसा), मो.-8763692481
- मुकुंद लाठ, ए-37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, राजस्थान, मो. 9829061725
- गगन गिल, G 16, G.F., Eldeco Green Meadows, Sec Pi, Pocket C, Greater Noida- 201308 (U.P.) मो. 9810860993
- रुस्तम सिंह, ई-4/361, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 (म.प्र.), मो. 9479775320